दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण

—यानी—

प्रोफे० हीरालाल जी के आक्षेपों का निराकरण

तृतीय अंश

लेखक—

विविध दि० जैन विद्वान्

सम्पादक—

श्रीमान पण्डित रामप्रसाद जी शास्त्री बम्बई

प्रकाशक—

दिगम्बर जैन पंचायत बम्बई

(जुहारुमल मूलचन्द, स्वरूपचन्द हुकमचन्द द्वारा)

प्रथम बार ५००

वीर सं० २४७२
सन् १९४६

मूल्य स्वाध्याय

सिद्धांतप्रमुखनेकगहनागमरहस्यानुभवी शांतिस्वभावसौम्यमुखाकृति
पंचाचारसमाचरित स्वपदनिष्ठ एतत्कालीन सकल मुनिगणगुरु
परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रवर्ति
श्री १०८ आचार्य शांतिसागरजी महाराज.

पूज्यश्रीकी सम्मति द्वितीय भागमें है।

* प्रस्तावना *

—यानी—

॥ सुवासित—पुष्पहार ॥
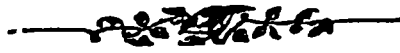
जैनधर्ममें मतभेद की विचार धारा अति प्राचीन नहीं है तो अर्वाचीन भी नहीं है। असलियत में मतभेद का बीजारोपण पूज्य श्री पञ्चम श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी और सम्राट श्री चन्द्रगुप्त महाराज के समय में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा था तब हुआ तब तक जैनधर्म में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं था। इस बात की साक्षी निष्पक्ष इतिहास गवेषियों द्वारा गवेषित और संशोधित ऐतिहासिक सामग्री है।

श्री १००८ भगवान् महावीर स्वामी दीक्षावस्था से लेकर निर्वाण प्राप्ति तक दिगम्बर भेष में ही रहे यह जैनधर्म के निष्पक्ष आम्नायियों को मान्य है। अतः जब महावीर स्वामी ने दिगम्बर वृत्ति से ही निर्वाण साधना की है तो यह बात स्पष्ट ही निकल आती है कि दिगम्बर धर्म ही श्री महावीर स्वामी का सच्चा अनुयायी धर्म है। और प्राचीनता में तो वह इतना प्राचीन है कि जिसका समय श्री १००८ भगवान् ऋषभदेव का दीक्षा समय है जो कि वर्ष और पल्यों से भी मापित न होकर सागरों से मापित है। इस समय भी इस धर्म की प्राचीनता के चिन्ह जो कुछ मिल रहे हैं उन बहुतों का सङ्कलन इस दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण के द्वितीय अंश-गत प्रधानतया पूज्य मुनि श्री १०८ कुन्थु सागर जी महाराज आदि के लेखों में विद्यमान है। उन सबसे यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि दिगम्बर जैनधर्म ही सत्य परीक्षण में अति प्राचीन है। इसलिये इसके जो सिद्धांत हैं वे भी उसी के साथी होने से वैसे ही अति प्राचीन हैं। उनका नवीन रीति से सृजन श्री आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने या किन्हीं दूसरे आचार्य ने किया हो यह कदापि भी सम्भवित और सङ्गत नहीं हो सकता।

उपलब्ध लिखित ग्रन्थों में श्री षटखण्डागम अति प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है जो कि सूत्र रूप से उपलब्ध है। उसके सूत्रों का पूर्वापर पर्यवेक्षण नहीं करके तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के अन्य मान्य प्राचीन ग्रन्थों का भी पूर्वापर ससंबद्ध पद्धति से नयभङ्गी और प्रमाणभङ्गी के साथ पूरा विचार नहीं करके जो कुछ अपनी समझ के अनुसार प्रोफेसर हीरालाल जी ने स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवली—कवलाहार, और वेद वैषम्य का अभाव इन चार विषयों पर प्रकाश डाला है उन सभी का अच्छी तरह से समाज के प्रमुख विद्वानों ने दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण के प्रथम और द्वितीय अंशगत अपने लेखों से अच्छी तरह खण्डन कर दिया है। तथा उसी खण्डन

पद्धति को लिये इस दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण के तृतीय अंश में अनेक मान्य प्रौढ विद्वानों के प्रमाण कोटि को लिये लेख और मान्य पञ्चायतो तथा विद्वानों और त्यागियों की अमूल्य सम्मतियां हैं। उन पूर्व अंशोंगत लेख और इस तृतीय अंश गत लेख तथा सर्व सम्मतियो से यह बात निश्चित हो जाती है कि श्री प्रोफेसर हीरालाल जी साहब ने जिन गहन विषयों में जो विचार उपस्थित किये हैं वे शास्त्रीय और बौद्धिक विवेचन पद्धति से बहुत ही असम्बद्ध हैं। इसलिये किसी हालत मे भी मान्य नहीं हैं।

श्री प्रोफेसर हीरालाल जी को इस गहन विषय में कदम उस समय रखना था जब कि वे अपने सैद्धांतिक शास्त्रीय अध्ययन का अनुभव प्रौढ़ विद्वानों की सहायता से कर लेते। अथवा उस विषय को पूर्व सिद्धांत के पारगामी प्रौढ अनुभवी विद्वानो के समक्ष रखकर उस विषय का निर्णय करा लेते तो आप वस्तुस्थिति पर अवश्य पहुंच जाते, परन्तु आपने इन दोनो मार्गों मे से एक का भी आश्रय न लेकर जो अपनी समझ को ही सर्वेसर्वा मान्य कर उलटा मार्ग ग्रहण किया है उसी का परिमार्जन इन तीनों अंशोंमें है और वह आपकी तथा समूचे जैन समाज की हित दृष्टि को लेकर है। न कि प्रोफेसर हीरालाल जी को समाज की दृष्टि से गिराने की नीयत से है श्री बम्बई दिगम्बर जैन पञ्चायत का यही अभिप्राय पहले रहा है तथा वह ही अब भी है।

इसी उद्देश को लेकर इस पञ्चायत ने यह काम अपने हाथ में लिया है, इसलिये समाज—मान्य विवेकी महानुभावों की दृष्टि में यह बम्बई दिगम्बर जैन पञ्चायत गौरव की दृष्टि से देखी जा रही है। तथा इस पञ्चायती कार्य के उद्देश की पूर्ति में जिन धार्मिक, विद्वान, और श्रद्धालु महानुभावों ने सहयोग देकर अपना कर्तव्य पूर्ण किया है वे सभी समूचे जैन समाज की दृष्टि में अवश्य ही गौरव के पात्र हैं क्योंकि पंचायत इन सबके समुदाय का ही तो नाम है। इसलिये समाज में जब पञ्चायत का गौरव है तो इन सभी संचालको का गौरव स्वयमेव अनायास ही है।

इस तृतीय अंश के चार लेखों को छोड़कर बाकी के लेख और सम्मतियां द्वितीयांशगत लेखों के साथ ही आ गये थे। परन्तु असुभीते के कारण पं० अजितकुमार जी शास्त्री उन सब लेखों और सम्मतियों को जल्दी नहीं मुद्रित कर सके। इधर पाठकों और कुछ लेखकों की अत्यन्त प्रेरणा होने लगी कि तृतीयांश जल्दी प्रकाशित होना चाहिये। इन सब कारणों को लेकर द्वितीयांश के लिये जितने भी लेख आये थे उनमे से उस समय जितने लेख मुद्रित हो चुके थे उनको द्वितीयांश में ले लिया अवशिष्ट जो लेख और सम्मतियां रह गई थीं वे सब इस तृतीयांश में हैं। इस तृतीयांश में कुछ नवीन लेख और प्रकाशित हो रहे हैं। उनमें पहला लेख श्री १०८ पूज्य वीर सागर जी मुनिराज का है जो कि वह प्रोफेसर हीरालाल जी के मान्य अ दोषों के खण्डन पर समुचित प्रकाश डाल रहा है तथा उ। सब विषयों मे भी केवली के कवलाहार विषय म जसा कुछ अनेक आगम युक्तियों को लिये, उसमे प्रकाश है वह अन्य विद्वानो के इस विषयक लेखो मे विशेषता लिये विशेष स्थान रखता है। दूसरा लेख श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक सूरिसिंह जी महाराज का इस विषय की प्रधानता लिये हुये हैं कि द्रव्यनपुंसकों का द्रव्यस्त्रियों में समावेश है। तीसरा लेख श्रीमान्
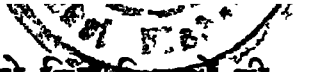
पूज्य देवेन्द्र कीर्ति जी भट्टारक महाराज का है उनने छोटे कलेवर से भी प्रतिपाद्य विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है और चौथा लेख पण्डित वर्द्धमान जी शास्त्री शोलापुर का है जो कि प्रो० हीरालाल जी के तीनों प्रश्नों के समाधान का खास स्थान रखता है।

इन लेखों के अलावा एक मेरा लेख है जो कि वह षटखण्डागम के सूत्र ९३वें में सञ्जद शब्द के न होने के निर्णयार्थ तथा गोम्मटसार के टीकाकारों की कोई भी भूल नहीं है इत्यादि विषय को लेकर प्रोफे० हीरालाल जी के मुख्य आक्षेप वेद वैषम्य के खण्डन के साथ द्रव्य स्त्री के मोक्ष जाने में श्वेतांबर सम्प्रदाय की सच्ची क्या मान्यता है इत्यादि प्रमाणीक सामिग्री को लेकर सप्रमाण गवेषणा लिये हुये है और इसी के साथ इस लेख के पूर्व में 'सञ्जद' शब्द के होने या न होने के विषय को लिये विद्वानों की प्रश्नोत्तर रूप लेख माला है। पूर्वोक्त लेखों के सिवाय अन्य अनेक विद्वानों के लेख हैं जिनमें से कुछ लेख सम्मति रूप में संक्षिप्त है और कुछ जरा विस्तृत हैं। किन्तु प्रत्येक लेख अपने अपने रूप में सुन्दर है। इन लेखों के होने से इस तृतीय अंश की उपादेयता विशेष रूप से बढ़ जाती है जो कि मुख्य विशेषता को लिये समयोपयोगिता की सच्ची सुदर्शक है।

इस तृतीयांश में कृतज्ञता धन्यवाद का विषय वह ही है जो कि द्वितीयांश गत है अतः पुनरुक्तता के भय से उसको यहां स्थान नहीं दिया है इसके लिये यदि किन्हीं महानुभावों को यह अनुचित प्रतीत हुआ हो तो उस निमित्त मैं क्षमा प्रार्थी हूं।

—रामप्रसाद जैन शास्त्री, सम्पादक।
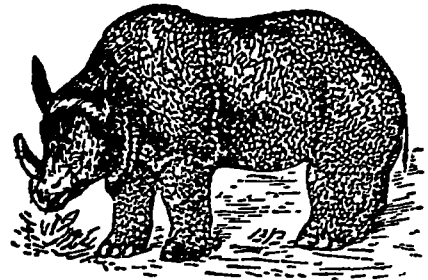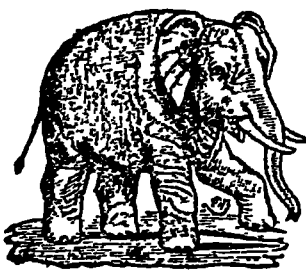
—श्री षटखण्डागम के ९३वें सूत्रके संजद शब्द पर विचार—

[लेखकः— श्रीमान् पं० रामप्रसाद जी जैन शास्त्री, सम्पादक]

श्री धवला टीका सहित पटखण्डागम शास्त्र ताड़ पत्रों के ऊपर कनड़ी लिपि मे लिखे हुये मूलबद्री में विराजमान हैं। उन पर से अनेक प्रतियां कागज पर देव नागरी लिपि में लिखकर उत्तर हिन्दुस्थान में आई तथा देव नागरी और कनड़ी में कागज ही पर लिखाकर मूलबद्री में विराजमान की गई हैं। उन किन्हीं प्रतियोमें षटखण्डागमके सूत्र ९३वें में 'सञ्जद' शब्द नहीं है। बाद को मालूम हुआ है कि ताड़पत्र प्रतियों में 'सञ्जद' शब्द है।

ताड़पत्र की उन दो प्रतियों के सिवाय एक और ताड़पत्र की प्रति है जो कि उन दो प्रतियों की अपेक्षा प्राचीन है परन्तु उसमें वह पत्र नहीं है तथा और भी इधर उधर के कुछ पत्र नहीं हैं। कागज पर जो प्रतियां लिखी गई हैं वे किस प्रति के आधार से लिखी गई हैं इसका भी कुछ निर्णय आज नहीं हो रहा है। कारण कि वे लिपि कर्ता विद्वान् (गजपति शास्त्री) आज बहुत वर्षसे इस जगत्में नहीं है। (फिर भी इस समय कागज प्रतियो की नकल करने वाले विद्वानोंमें से श्रीमान पं० नेमिराजजी शास्त्री हैं उनका कहना है कि तीनो ताड़पत्र प्रतियो से मिलान करके कागज की प्रतियां लिखी गई थीं) और जो दो कनड़ी प्रति जिनमे कि 'सञ्जद' शब्द पाया जाता है वे सर्वदा शुद्ध भी नहीं है इसलिये सम्भवित है कि कनड़ी लिपि की उन प्रतियों में प्रति लेखक के प्रमाद से चलती कलम से सूत्र ९३वें में 'सञ्जदासञ्जद' के आगे 'सञ्जद' शब्द लिखने में आ गया हो। ऐसी परिस्थिति में अनायास ही यह बात उपस्थित हो जाती है कि ग्रन्थ कर्ता की सूत्र लेखन शैली तथा सैद्धांतिक अनुसृति को लिये सूत्रों गत अभिप्राय और धवला टीकाकार की धवलागत आर्ष पद्धति का अनुसरण किस लक्ष्य की तरफ संलग्न है। इन तीन हेतुओं को पुरस्सर कर इस विषय के निर्णय के लिये मैं अपने अभिप्राय पहले कितने ही लेखों में प्रकाशित कर चुका हूं अब इस विषय में उन हेतुओं के साथ और भी विशेष मनन करने पर जो कुछ विशिष्ट निर्णय किया है उन सब की समष्टि इस लेख में है।

सूत्र लेखनशैली से विचार—इस विषयमें सबसे प्रथम दृष्टि इस बात पर जाती है कि सूत्रकार ने जिन जिन सूत्रों में सख्या को लेकर गुणस्थानों का प्रतिपादन किया है वहां वहां उस सख्या के हिसाब से उन उन गुणस्थानो के नाम गिनाये हैं। जैसे कि—

'णेरइया चउठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असञ्जदसम्माइट्ठि त्ति' ॥२५॥
'तिरक्खा पंचसुठाणेसु मिच्छाइट्ठी सासण सम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असजदसम्माइट्ठी संजदासजदत्ति २६
'मणुस्सा चौद्दसु गुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठि सासण-

सम्माइट्ठि सम्मामिच्छाइट्ठि असञ्जदसम्माइट्ठि सजदासंजदाप्रमत्त सञ्जदा .... अजोग केवलित्ति ॥२७॥

'देवाचदुसुठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठि सासण सम्माइट्ठि सम्मामिच्छाइट्ठी असञ्जदसम्माइट्ठित्ति ॥२८॥

इस प्रकार संख्या शब्द के द्वारा प्रत्येक गतियों में सूत्रकार ने गुणस्थान पृथक २ गिनाकर निर्णय कर दिया है कि इस इस गति में ये ये गुणस्थान हैं और उनका क्रम भी इसी प्रकार है अन्यथा नहीं है। ऐसा निर्णय करके आगे सूत्रकार ने जहां कहीं भी गुण—स्थान गिनाये हैं वहां तीन गुणस्थानो से ऊपर 'पहुडि' और 'जाव' शब्द को लेकर ही गिनाये है। इस क्रम का कहीं भी उल्लङ्घन नहीं किया है। अब सूत्र ९३वें में यदि 'सञ्जद' शब्द होता तो ४ (चार) गुणस्थान हो जाते ऐसी हालत में सूत्रकार यहां भी 'पहुडि' और 'जाव' शब्द के द्वारा सूत्र का निर्माण करते परन्तु यह बात वहां है नहीं अर्थात सूत्र में तीन ही गुणस्थान हैं चौथा गुणस्थान 'सञ्जद' नहीं है। तथा सूत्र १२८ में भी 'चदुसु' शब्द स चार सख्या का निर्देश है इसलिये वहां भी सूत्रकार ने चार गुणस्थान अलग २ गिनाये हैं। जैस सूत्र — 'जहाक्खादविहार-सुद्धि सञ्जदा चदुसुट्ठाणेसु उवसंतकसाय वीतरायछदुमत्था खीणकसायवीयरायछदुमत्था सीणकसाय वीयरायछदुमत्था सयोगिकेवलि अजोगकेवलित्ति ॥

इस सब लिखान से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि सख्याओ क स्थान का छोड़कर जहां कही भी तीन से आगे के गुणस्थान गिनाये है वे सब 'पहुडि' और 'जाव' शब्द के द्वारा ही गिनाये हैं। सूत्र ९३वें मे यदि 'सञ्जद' शब्द होता तो यहां भी 'पहुडि' और 'जाव' शब्द के द्वारा ही 'सञ्जद' शब्द का समावेश करते परन्तु सूत्रकार ने वैसा यहां किया नहीं है। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि सूत्र ९३वें में 'सञ्जद' शब्द नहीं है। ताड़पत्र प्रतियों में जो 'सञ्जद' शब्द दृष्टिगोचर हो रहा है वह प्रति—लेखकों के विशेष विचार नहीं करने से आ गया है। परन्तु वास्तव में सूत्रकार की सूत्र लेखन शैली से सूत्र ९३वें में 'सञ्जद' शब्द नहीं है यह स्पष्ट प्रतीति गोचर है।

सैद्धांतिक अनुसृति को लिये सूत्रों गत सैद्धांतिक दृष्टि से जो कुछ अभिप्राय है वह स्पष्ट है कि जहां कहीं भी मानुषी के १४ गुणस्थान सूत्रों मे दृष्टिगोचर हो रहे हैं वहां किसी भी स्थल पर मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द नहीं है केवल मानुषी शब्द ही वहां है इसलिये केवल मानुषी शब्द भाव स्त्री का वाचक है और सिद्धांत में भावस्त्री को वेद वैषम्य दृष्टि सापेक्ष १४ गुणस्थान होते ही हैं। परन्तु मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द हो तो वह मानुषी द्रव्यस्त्री होती है द्रव्य-स्त्री के पाच ही गुणस्थान होते हैं ऐसा सैद्धान्तिक निर्णय है।

सूत्र ९३वें में मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द दृष्टि-गोचर हो रहा है इसलिये यहां द्रव्यस्त्री का प्रकरण होनेसे १४ गुणस्थानों को ग्रहण करने वाला 'संजद' पद नहीं हैं।

शङ्का—पर्याप्त शब्द द्रव्य शरीर का बोधक है यह बात किस प्रमाण से सिद्ध है ?

समाधान—सूत्र ९२—

-'पर्याप्तिनामकर्मोदयशरीरनिष्पत्त्यपेक्षया'

इस धवला भाष्य से पर्याप्त शब्द द्रव्य स्त्री का बोधक है। यह बात पं० वंशीधर जी इन्दौर, पं० कैलाशचन्द्र जी, प० फूलचन्द्र जी, पं० पन्नालाल जी सोनी आदि सर्व विद्वानो को मान्य है। परन्तु विवाद इस बात का रह जाता है कि सूत्र ९३वें में

'पर्याप्त शब्द से द्रव्य पुरुष के शरीर का ग्रहण है या द्रव्य स्त्री के शरीर का ?

उपर्युक्त चारों विद्वानोंका कहना है कि आलापाधिकार धवलाको मुद्रित द्वितीय पुस्तकके ५१४ पत्रमे-

तासिंचेव पज्जत्ताणं भएणमाणे अत्थि चोदस गुणट्ठाणाणि।

ऐसी पक्ति आई है। उसका आशय वेद वैषम्य सम्मत सैद्धांतिकदृष्टि से द्रव्य पुरुष का शरीर लिया गया है इस बात की पुष्टि मुद्रित राजवार्तिक पत्र ३३१ की—

मानुषी—पर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावलिङ्गापेक्षया, द्रव्यलिङ्गापेक्षेणतु पञ्चाद्यानि,

इस पक्ति से है। ऐसी अवस्था में सूत्र ६३वें में भी मानुषी के साथ में पर्याप्त शब्द आया है इसलिये यहां भी भावस्त्री का ग्रहण है और भावस्त्री का ग्रहण होने से सूत्र ६३वें में 'सञ्जद' पद रहे तो कोई आपत्ति नहीं।

इस बात का समाधान ऊपर दिया जा चुका है कि इस विवादस्थ (निर्णय) स्थल को छोड़कर जहां कहीं भी सूत्रकार ने मानुषी के १४ गुणस्थान बतलाये हैं वहां मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द कहीं भी नहीं है। परन्तु इस सूत्र मे मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द है। अतः यह बात अनायास ही आ जाती है कि—जहां मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द नहीं है वहां भावस्त्री का विषय है परन्तु सूत्र ६३वें में मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द है इसलिये सूत्रकार के मत से यहां का विपय द्रव्य स्त्री का है जब द्रव्यस्त्री का विषय है तो सूत्रकार के मत से यहां 'संजद' शब्द की स्थिति नहीं ठहरती।

टीकाकारों ने जो 'मानुपी के साथ पर्याप्त शब्द लगाकर मानुषी के १४ गुणस्थान बतलाये हैं उसका अभिप्राय यह है कि पर्याप्ति शब्द की व्यवस्था सैद्धान्तिक दृष्टि से दो प्रकार की मानी गई है एक पर्याप्ति नामकर्मोदय से, दूसरी शरीर निष्पत्ति की अपेक्षा से श्री वीरसेन स्वामी और श्री अकलङ्कदेव को तो दोनो ही प्रकार की व्यवस्था चरितार्थ करनी चाहिये क्योंकि वे टीकाकार हैं टीकाकारों को तो नयभङ्गी से सभी व्यवस्थायें चरितार्थ करनी ही पड़ती हैं।

टीकाकारों ने जो मानुपी के साथ पर्याप्त शब्द नियोजित किया और वहां १४ गुणस्थान भी बतलाये हैं वह केवल पर्याप्ति नामकर्म की अपेक्षा से है। कारण कि जीव विपाकी प्रकृतियो की स्पष्टता जीव परिणाम मे ही स्पष्ट होती है। भाववेद जीव परिणाम है और सिद्धांत मे पर्याप्ति को जीव विपाकी माना ही है और जीव विपाकीपन पर्याप्ति मे पर्याप्ति नामकर्म के उदय से ही बनता है। शरीर पूर्ति मे जो जीव विपाकीपन है वह पर्याप्ति नाम कर्मोदय सापेक्ष है। यह कार्य मे कारण सापेक्ष व्यवहार है। परन्तु पर्याप्ति की मुख्यता शरीर पूर्ति पर ही ली गई है, नहीं तो शरीर की पूर्ति जब तक नहीं हो तब तक उसको अपर्याप्त (निर्वृत्यपर्याप्त) क्यो कहा जाय।

इससे स्पष्ट है कि शरीर निष्पत्ति की अपेक्षा वेद साम्य मे ही ली गई है वेद वैषम्य मे जो शरीर निष्पत्त्यपेक्षा है वह गौण रूप से है। वह गौण रूपता से भी इसलिये ली गई है कि भाववेद का आधार उस हालत में द्रव्यवेद और द्रव्य पुरुष का शरीर है। यह बात जो मैं ने लिखी है वह मेरी कल्पना की नहीं है किन्तु इस बात को श्री वीरसेन स्वामी ने ही श्री अकलङ्क देव के राजवार्तिक गत ३३१ वीं पक्ति से पर्याप्ति नामकर्मोदय को चरितार्थ किया है क्योंकि वीरसेन स्वामी के सन्मुख वह राजवार्तिक को पक्ति

थी। और शरीर पूर्ति के पक्ष को लेकर सूत्र ९३ के 'हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते' इस पंक्ति से श्री वीरसेन स्वामी ने यह बात अच्छी तरह से सूचित कर दी है कि सूत्र ९३ का प्रकरण द्रव्य स्त्री का है। यह द्रव्य स्त्री का प्रकरण क्यों है इसका स्पष्टी करण इस प्रकार है—

कि भाष्यकार ने— 'अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत' इस पंक्ति में—'द्रव्यस्त्री' शब्द का प्रयोग किया है। यदि सूत्र में द्रव्य स्त्री का प्रकरण न होता तो भाष्यकार इस पंक्ति गत द्रव्य स्त्री का प्रयोग न करते परन्तु इस पंक्ति में 'द्रव्यस्त्री' शब्द का प्रयोग किया है इसलिये स्पष्ट है कि यह सूत्र द्रव्यस्त्री प्रकरण का है। दूसरे—'हुण्डावर्पिण्यां स्त्रीषु' इत्यादि वाक्य में स्त्री शब्द का प्रयोग किया है, मानुषी शब्द का प्रयोग नहीं किया है। स्त्री शब्द स द्रव्य स्त्री ही ली जा सकती है क्योंकि स्त्री शब्द से सर्व सामान्य में द्रव्यस्त्री की ही प्रसिद्ध है। तथा तत्वार्थ सूत्र अध्याय दो के सूत्र ५२ की सर्वार्थसिद्धि टीका में—

स्त्रीवेदोदयात् स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री।

ऐसी पंक्ति है, इसका हिन्दी अर्थ यह है कि स्त्री वेद के उदय से गर्भ का पालन, वर्द्धन जिसमें हो वह 'स्त्री' है।

वेद शब्द सिद्धांत में द्रव्य और भाव, के भेद से दोनों प्रकार का माना गया है यह बात गोम्मटसार जीवकांड वेदमार्गणा में निरूपण की गई है—

पुरिसिच्छि संढवेदोदयेण भावे, णामोदयेण दव्वे गाथा २७० से तथा तत्वार्थ सूत्र में अध्याय २ सूत्र ५२ के—'नामकर्मणश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायोदयस्य चोदयाद्वेदत्रयस्यसिद्धिर्भवति। वेद्यत इति वेदो लिंगमित्यर्थस्तल्लिंगं द्विविधं द्रव्यलिंगं भाव— लिंगं चेति।

इस प्रकार राजवार्तिकसे भी स्पष्ट है कि वेद को भावलिङ्ग ही नहीं माना है किन्तु द्रव्यलिङ्ग भी माना गया है। 'स्त्री वेदोदयात् स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति स्त्री, यहां की व्याख्या से स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्त्री शब्द बिना किसी विशेषणके द्रव्य स्त्री ही माना जाता है।

जब वेद के द्रव्य और भाव दोनों अर्थ हैं तो सत् प्ररूपणा प्रथम पुस्तक के सूत्र ८७ की उत्थानिका 'स्त्रीवेदविशिष्टतिरश्चां विशेषप्रतिपादनार्थं, इसमें तथा सूत्र ८८ के 'विशिष्ट वेदादिषु' भाष्य में जो वेद है वह भाववेद ही क्यों लिया जा सकता है। वहां भी तिरश्ची से सर्व साधारण में तथा सिद्धांत में द्रव्यवेद का ही बोध होता है।

इस सर्व कथन से यह बात सहज ही निकल आती है कि सूत्र ९३वें में जो पर्याप्त मनुष्यणी का ग्रहण है वह द्रव्य स्त्री का ही है। क्योंकि पर्याप्त मनुष्यणी को ही लक्ष्य करके श्री वीरसेन स्वामी ने— हुण्डावसर्पिण्यां इत्यादि पंक्ति में पर्याप्त मनुष्यणी के पर्यायवाची स्त्री शब्द को ग्रहण किया है जो कि ऊपरके लिखान प्रमाणसे द्रव्यस्त्री का ही बोधक है।

दूसरे—'हुण्डावसर्पिण्यां' इत्यादि शब्द द्वारा जो शङ्का भाष्य में उठाई है वह श्वेतांबर पक्ष को लेकर उठाई गई है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से द्रव्यस्त्री को मोक्ष मानी है और उन में भी श्री मल्लिनाथ तीर्थङ्कर को स्त्री माना है। जब सूत्र ९२वें में स्त्री को अपर्याप्त दशा में चतुर्थ गुणस्थान का निषेध किया गया है तब यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि—जिसके पूर्व भव में सम्यक्त्व है वह जीव स्त्री पर्याय में पैदा नहीं होता। और जब स्त्री पर्याय में पैदा नहीं होता तो उसके अपर्याप्त दशा

में सम्यक्त्व नहीं होता है। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से अछेरा (अन होनी बात का होना) होने के कारण मल्लिनाथ तीर्थंकर स्त्री हुये हैं ऐसी दशा में यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि-तीर्थङ्कर प्रकृति वाले जीव के पूर्व भव का सम्यक्त्व होगा तभी वह आगे के जन्म में पच कल्याण वाला तीर्थङ्कर होगा। अत. सिद्ध है कि पूर्भभव के सम्यक्त्व का सहयोग उस जीव को अपर्याप्त दशा में भी है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य इसी मन्तव्य को लेकर भाष्यमें 'हुण्डावसर्पिणी' इस पंक्ति द्वारा शङ्का उठाई गई है उसी का समाधान भाष्य में—'इतिचेन्-न उत्पद्यते, कुतोवसीयते ? अस्मादेवार्षात—इन वाक्यों से किया है।

शङ्का—इस आर्ष सूत्रमे ऐसा कौन सा वाक्य है जिससे कि यह समाधान हो जाता है ?

इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि इस आर्ष सूत्र मे 'णियमा पज्जत्तियाओ' यह वाक्य पड़ा है, इससे अपर्याप्त दशा मे सम्यक्त्व का स्पष्ट निषेध हो जाता है।

इस सर्व लिखान से यह बात सहज समझ में आ जाती है कि सूत्र में पर्याप्त मनुष्यणी से द्रव्य स्त्री का ही ग्रहण है। यदि यहां पर्याप्त मनुष्यणी से भावस्त्री का ग्रहण होता तो भाष्यकार स्पष्ट लिख देते कि 'भाववेदात' अर्थात् यहा का प्रकरण भाववेद का होने से यह शङ्का नहीं हो सकती। परन्तु भाष्यकार श्री वीरसेन स्वामी ने वैसा भाववेद का हेतु दिया नहीं। इससे साफ सिद्ध है कि—पर्याप्ति विशिष्ट मानुषी यहां भावस्त्री नहीं है किन्तु द्रव्य स्त्री है।

यहां एक शङ्का यह उपस्थित होती है कि यदि इस सूत्र ९३वे मे 'सञ्जद' पद न होता तो भाष्यकार इस सूत्र ९३वें के भाष्यमें 'अस्मादेवार्षात द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येत्' यह शङ्का न उठाते। इसका समाधान पहले कई लेखों में दिया जा चुका है तथा दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण के ४५वे और ४६वें पत्र में भी वह समाधान मुद्रित है। फिर भी यहां सबको सरल रीति से जानकारी के लिये और लिख देते हैं वह समाधान इस प्रकार है—

'निर्वृत्ति' शब्द का किसी भी सिद्धांत ग्रन्थ में या कोषों में मोक्ष अर्थ नहीं होता किन्तु—'निवृति' (जो क्तिन्प्रत्ययकारात्मक नहीं है) उसका मोक्ष अर्थ होता है। और क्तिन्प्रत्ययकारात्मक 'निर्वृत्ति' शब्द का 'निष्पत्ति-प्राप्ति अर्थ होता है। ऐसी दशामें उस पंक्ति का अर्थ यह होता है कि—

इसी आर्ष प्रमाणसे द्रव्यस्त्री की निष्पत्ति (प्राप्ति) सिद्ध है।' यह सिद्धांत वाक्य है शङ्का वाक्य नहीं है।

श्री वीरसेन स्वामी ने यह पक्ति क्यो लिखी जब कि 'हुण्डावसर्पिण्यां' इत्यादि पंक्ति से शङ्का उठाने के कारण ही यह बात सिद्ध हो जाती है ?

इसका समाधान यह है कि श्री वीरसेन स्वामी के समक्ष सूत्र मे 'सञ्जद' शब्द नहीं था इसलिये उन को यह बात सिद्ध करनी थी द्रव्य स्त्री के पाच गुणस्थान ही होते है। सूत्र मे सञ्जद शब्द न होने से ही जोर के साथ श्री वीरसेन स्वामी ने यह बात इस पंक्ति से सिद्ध की है कि यहा का प्रकरण द्रव्यस्त्री का ही है। यदि यहा का प्रकरण भावस्त्री का होता तो इस सूत्र ९३वें मे 'सञ्जद' शब्द के अवश्य दर्शन होते परन्तु सूत्रगत यह बात नहीं है इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहा का प्रकरण द्रव्यस्त्री का है और द्रव्यस्त्री के पांच ही गुणस्थान होते हैं। यह जैन सिद्धात का निष्कर्ष है।

इस लिखान से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि—यह दूसरी पंक्ति 'अस्मादेवादूद्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत्' सिद्धांत वाक्य है। इस पंक्ति को सिद्धांत वाक्य समझ कर ही शङ्काकार शङ्का करता है कि—

इतिचेत्—न सवासस्त्वादप्रत्ययाख्यान-गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः भावसंयमस्तासां सवाससामापि अविरुद्धः।

इस बड़ी शङ्का पंक्ति मे—'न' शब्द का सम्बन्ध 'अनुपपत्तेः' क्रिया के साथ है, क्योंकि 'न' अव्यय है और क्रिया विशेषण भी है इसलिये 'अनुपपत्तेः' कृदन्त क्रिया के साथ न' शब्द को सयोजित करने से 'नानुपपत्तेः' ऐसा शब्द हो जाताहै फिर उस शङ्का वाक्य का अर्थ इतिचेत्-यदि ऐसा है तो वस्त्र सहित होने से पचम गुणस्थानवर्तिनी स्त्रियों के संयम असिद्ध नहीं है, क्योंकि भाव सयम उनके वस्त्रसहित होने से भी विरुद्ध नहीं पड़ता है अर्थात् उनके वह बन जाता है।

इस शङ्का का समाधान श्री वीरसेन स्वामी ने दिया है कि—

'न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः'

अर्थात् उनके (द्रव्यस्त्रियों के) भाव संयम नहीं होता क्योंकि असंयम का अविनाभावी वस्त्र का उन के ग्रहण है।

फिर आगे चौदह गुणस्थानों को लेकर वादी ने शङ्का की है वह सम्यक्त्व मार्गणा, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम आदि मनुष्य प्ररूपणा के स्थलों को देखकर ही शङ्का की गई है यह बात वहां की धवला टीका से स्पष्ट है।

अब यहां के आगे के अर्थात् चौदह गुणस्थान परक शङ्का समाधान से यह बात मालूम होती है कि यदि सूत्र में 'सञ्जद' पद होता तो वादी 'सञ्जद' पद को लेकर ही शङ्का करता तथा श्री वीरसेन स्वामी भी सूत्र गत 'सञ्जद' पद के होने पर द्रव्य स्त्री के चौदह गुणस्थान क्यों न स्वीकार कर लेते, जबकि वे आर्ष पद्धति से समाधान कर रहे हैं।

उन सभी बातों से स्पष्ट मालूम होता है कि सूत्र में 'सञ्जद' शब्द नहीं है और यहां का कथन भावस्त्री का न होकर द्रव्य स्त्री का ही है।

इस स्थल का अन्य समाधान— ताड़पत्र प्रतियों में 'निर्वृत्ति' शब्द न होकर 'निर्वृति' और निर्वृति, ये दो प्रतियों के अलग अलग (पृथक पृथक) शब्द हैं इनमें से भी किसी का मोक्ष अर्थ नहीं होता फिर भी हम थोड़ी देर के लिये 'तुष्यतु सज्जनः' इस सौहार्दिक न्याय से इन तीनों में से किसी शब्द के होने पर उसका मोक्ष अर्थ मान लें जैसे कि कोई शुष्क वैयाकरणी सिद्धांत शास्त्र गत अर्थ की और कोष गत अर्थ की अवहेलना कर केवल सानुपसर्ग धातुज व्युत्पत्तिक अर्थ खेंचातानी से कर लेते हैं तो भी अपना जो सैद्धान्तिक अभीष्ट है उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं आती। कारण सूत्र ६३वें के भाष्य में जो — 'हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्ते' इस पंक्ति परसे जो शङ्का उठाई गई है वह सम्यक्त्व को लेकर के अपर्याप्त अवस्था सम्बन्धी शङ्का है। उसका जो समाधान आर्ष शब्द द्वारा दिया गया है वह सूत्र गत 'पर्याप्त' शब्द को लक्ष्य करके ही दिया गया है यह बात सुस्पष्ट है। परन्तु सूत्रमें स्त्री के पर्याप्त अवस्थामें 'असञ्जद सम्माइट्ठि'

चौथे गुणस्थान का उल्लेख है। ऐसी दशा में वादी की शंका उपस्थित होती है कि चतुर्थ स्थान में उपशम क्षायोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व भी द्रव्य स्त्री के पर्याप्त अवस्था में अनायास ही प्राप्त हो जाता है। और क्षायिक सम्यक्त्व वाला जीव उसी भव से या चौथे से मोक्ष जाता है चौथे भव का उल्लङ्घन करता नहीं। यह गोम्मटसार सम्यक्त्व मार्गणा में ६४५ वीं गाथा के आगे—

दंसणमोहेखविदेसिज्झदि एक्केवतदियतुरियभवे।
णादिक्कदि तुरियभव ण विणस्सदिसेससम्मत्तं व॥

यह गाथा है। इस गाथा गत—'एक्केव' शब्द का अर्थ 'उसी भव मे' ऐसा होता है। श्री प० खूबचन्द्र जी शास्त्री ने भी इस शब्द का यही अर्थ किया है ऐसी अवस्था मे वादी के द्वारा यह शका उपस्थित की जाती है कि जब इस सूत्र से पर्याप्त मानुषी के (द्रव्यस्त्री के) क्षायिक सम्यक्त्व होना भी सिद्ध है। और क्षायिक सम्यक्त्व वाला जीव उसी भव में मोक्ष भी जा सकता है तो द्रव्यस्त्री को उसी भव से मोक्ष जाना स्वयं सिद्ध है।

श्री वीरसेन स्वामी ने इसी भाव को लेकर 'अस्मादेवार्षाद्द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येत' इस पंक्ति से शङ्का उठाई है कि इसी आर्ष सूत्र से द्रव्य-स्त्री को मोक्ष सिद्ध है। और फिर इसका समाधान 'इतिचेन्न सवासस्त्वादप्रत्याख्यान — गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः' पंक्ति द्वारा किया है।

यहां पर यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य है कि श्री वीरसेन स्वामी शकाकार की शकाओं का समाधान कर रहे हैं वह आर्ष पद्धत्ति को लेकर ही कर रहे हैं। 'हुण्डावसर्पिण्या' इत्यादि पंक्ति गत जो शका उपस्थित थी उसका समाधान सूत्र ६३वे में 'पज्जत्तियाओ' (पर्याप्त) शब्द देखकर आर्ष शब्द द्वारा समाधान किया है। इसी तरह शङ्काकार की इस शंका का समाधान भी इसी आर्ष पद्धति से दिया जायगा तभी शङ्काकार उनके समाधान को मान्य कर सकेगा अन्य नहीं।

ऐसी हालतमे स्पष्ट मालूम होता है कि इस सूत्रमे ऐसा कोई शब्द अवश्य है कि जिसको लेकर श्री वीरसेन स्वामी 'सवासस्त्वादप्रत्याख्यान गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः' ऐसा समाधान कर रहे हैं।

विशेष विचार पूर्वक दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि सूत्र मे पांचवां गुणस्थान वाचक एक 'सजदा-सजद' पद पड़ा है जिससे कि आर्ष सङ्गत समाधान हो जाता है। नहीं तो शङ्काकार (वादी) वीरसेन स्वामी के घर की मानी हुई बात भी कब स्वीकार कर सकता है। यह षटखण्डागम बहुत प्राचीन ग्रन्थ है इसलिये इसके विषय को शंकाकार मानने को तैयार हो सकता है। तभी समाधान कर्ता ने इस ग्रन्थ के सूत्रगत 'सञ्जदासञ्जद' को लेकर 'अप्रत्य-याख्यानगुणस्थितानां शब्द द्वारा समाधान दिया है।]

इस सब उपर्युक्त प्रति पादित विषय से यह निष्कर्ष अनायास ही निकल आता है कि सूत्र में 'सञ्जद' पद नहीं है। सूत्रमें यदि 'संजद' पद होता तो वीरसेन स्वामी ऐसा समाधान कभी नहीं करते अर्थात द्रव्यस्त्री को मोक्ष जाना स्वीकार कर लेते। परन्तु वहां 'संजद' पद नहीं है इसलिये द्रव्य स्त्री को मोक्ष भी इस सूत्र ६३ से सिद्ध नहीं है।

भाष्यकार ने संयमानुपपत्तिमे जो 'सवासस्त्वात' हेतु दिया है उससे दो बातें सिद्ध की हैं। उनमे से एक तो यह बात सिद्ध की है कि वस्त्रधारण करनेवाले किसी को भी संयम नहीं होता अर्थात पांचवां

गुणस्थान तक ही होता है। दूसरे स्त्री वस्त्र को त्याग नहीं कर सकती इसलिये उसके पांचवां गुणस्थान ही हो सकता है।

अब 'भावसंयमस्तासां सवाससमत्यविरुद्धः' यह दूसरी शंका इस बात को सूचित करती है कि वस्त्र-सहित होने से भले ही दिखाऊ द्रव्यरूप पांचवां गुणस्थान मानो परन्तु भाव की अपेक्षा तो उनके संयम हो सकता है अर्थात् संयम होना उनके विरुद्ध नहीं है। इसका समाधान धवलाकार ने लज्जा, कायरता, आततायी दुराचारी दुष्टों द्वारा शील-खण्डन का भय, आदि के कारण स्त्रियां वस्त्र नहीं छोड़ सकतीं इस बात को लक्ष्य करके 'न तासां भाव-संयमोऽस्ति' इत्यादि रूप से समाधान किया है।

असलियत में देखा जाय तो जो वस्त्रधारी हैं उन सभी को यह समाधान लागू पड़ता है कारण कि जो कायर हैं परीषह नहीं सह सकते तथा ममत्व परिणामी हैं वे ही वस्त्र का त्याग नहीं कर सकते और जो वस्त्र का त्याग नहीं कर सकते वे कभी भी संयम के धारक नहीं होते। क्योंकि वस्त्रधारी के परिणाम इतने उज्ज्वल नहीं होते जिससे कि उनके संयम की प्राप्ति होकर वे सयत हो सकें। दिगम्बर मुनि के ऊपर कोई वस्त्र डाल दे तो वह उनका इच्छानुसारी वस्त्र नही है। किन्तु वह उनके ऊपर परिणाम मलिनता का साधन होने से उपसर्ग है। इसलिये मुनि परिणाम मलिनता के साधन वस्त्र का कदापि ग्रहण नहीं करते हैं।

जो लोग वस्त्र को परिणाम उज्ज्वलता का साधन समझते हैं वे उस विषय के तत्त्वचिंतन से कोसों दूर है। क्योंकि वस्त्र ग्रहण में पहले ही आत्मबल का अभाव सूचित होता है और अन्तरङ्ग लोभ का अनु-भव होता है अत: सवस्त्र संयत कैसे हो सकता है? संयत होने के लिये तो तिल तुष मात्र भी परिग्रह का ग्रहण नहीं होता फिर वस्त्र ग्रहण तो संयम का साधक भी क्यों कर हो सकता है? क्योंकि संयत के तो शरीर से भी जब निष्पृहता है तब वस्त्र से स्पृहता क्योंकर सम्भवित हो सकती है?

इस प्रकरणमें यहां एक शका यह उपस्थित होती है कि दिगम्बर सम्प्रदाय में द्रव्यस्त्रियों को क्षायिक-सम्यक्त्व नहीं होता है कारण कि—श्रीपूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि में "क्षायिकं पुनर्भाविनैव" इस प्रकार लिखा है।

उसका समाधान यह है कि—जिस सम्यक्त्व से मोक्ष जाना माना है वह क्षायिक सम्यक्त्व द्रव्यस्त्री के नहीं होता है ऐसा श्री सर्वार्थसिद्धिकार का आशय हो सकता है, नहीं तो द्रव्यस्त्री के क्षायिक सम्यक्त्व तो अवश्य होता है इसके लिये निम्न-लिखित प्रमाण श्री गोम्मटसार जीवकांड सम्यक्त्व-मार्गणा गाथा ७०४की जीवतत्व प्रबोधिका टीका का मुद्रित प्रति ११४१ पत्र में लिखा है—

क्षायिक सम्यक्त्वं तु असंयतादिचतुर्गुणस्थान-मनुष्याणां, असंयत—देशसंयतोपचारमहाव्रतमनु-ष्यिणीनां च कर्मभूमिवेदकसम्यग्दृष्टीनामेव केवली-श्रुतकेवलिद्वयश्रीपादापांते सप्तप्रकृतिनिरवशेषक्षये भवति।

इस प्रामाणिक टीका के प्रमाण से यह बात निश्चितरूप से समझ मे आ जाती है कि द्रव्यस्त्री के क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य होता है। इस टीका में 'देश संयतोपचार महाव्रत' पद है वह द्रव्यस्त्री को छठे गुणस्थान आदि का निषेधक है। इसी तरह सूत्र ६३ में भी यह बात सिद्ध होती है कि वहां

चतुर्थ गुणस्थान है और चतुर्थगुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व भी होता है अतः द्रव्यस्त्री के वहां पर क्षायिक सम्यक्त्व भी प्राप्त हो जाता है। और क्षायिक सम्यक्त्व होने से सम्यक्त्व मार्गणा की 'दंसण मोहे खविदे सिज्झदि एक्केव' इस गाथा के अनुसार द्रव्यस्त्री को तद्भव–मोक्षगामी भी होना चाहिये। परन्तु वहां 'संजदासंजद' (पांचवां) गुणस्थान इस बात को रोकता है कि द्रव्य स्त्री को उसी भवमें मोक्ष नहीं होता जैसे कि देशसंयतोपचार महाव्रत' शब्द उपर्युक्त टीकामें द्रव्यस्त्री को उसी भव में मोक्ष जाना रोकता है।

गोम्मटसार और गोम्मटसार की टीका तो श्री षटखण्डागम के आश्रय से ही निर्मित हुई है। नहीं तो टीकाकार की इतनी शक्ति कहां थी कि बिना किसी प्राचीन प्रमाण के ऐसा लिख देते। सर्वार्थसिद्धिकार ने जो भावस्त्री का क्षायिक सम्यक्त्व लिखा है वह सिर्फ कारण के निकट कार्य होने की संभवित अपेक्षा से लिखा है। इस लिये यहां पर आचार्यों के मत भेद का परस्पर कोई विरोध भी नहीं आता है।

जो एकान्त पक्ष को लेकर हठग्राही हैं वे भले ही विरोध समझें परन्तु जो आचार्यों के मत भेद को समन्वित करने वाले हैं उनके मंतव्य से न यहां विरोध आता है और न ऐसे स्थलों पर दूसरी जगह ही विरोध आता है।

इस सर्व उपर्युक्त विस्तृत लेख से स्पष्ट है कि सूत्र ९३ मे 'सजद' शब्द नही है और इस मे चूं चां करने की कहीं भी गुञ्जायश नहीं है।

इति 'संजद' पद निराकरणक प्रथम प्रकरण।

यहां शायद कोई एक हमारे परम मित्र विद्वान् सिद्धांतशास्त्री यह कहें कि जीवकांड सम्यक्त्वमार्गणा गाथा ७०४ की टीका में द्रव्यस्त्री को क्षायिक सम्यक्त्व लिखा है वह टीकाकार की गलती है। जैसी की जीवकांड गति मार्गणा की १५८ वीं गाथा की टीका में मनुष्यणी की गणना को द्रव्यस्त्री की गणना लिखकर गलती की है। तथा इसी तरह पर्याप्त प्ररूपणा प्रकरणकी गाथा १२७ में 'सव्वइत्थीणं गाथापाठ को देखकर टीकाकारों ने सर्व देव मनुष्यों की स्त्रियां अर्थ किया है वहां 'संढ इत्थीण' गाथा का पाठ सुधार कर 'नपुंसक और स्त्रियां अर्थ करना चाहिये।

इसी तरह कर्मकांड सत्व स्थान प्रकरण की गाथा ३८१ वीं जीवतत्व प्रबोधनी टीका में गलती की है। क्योंकि तीर्थंकर सत्व प्रकृति से पूर्व मिथ्या दृष्टि ने नरक आयु का बंध कर लिया हो वह पहली दूसरी तीसरी नरक पृथ्वी में जाता है। परन्तु यहां क्षायिक सम्यग्दृष्टि का प्रकरण चला आ रहा है। इस लिये तीनों नरकों में तीर्थंकर सत्व प्रकृति के जीव को संस्कृत टीकाकारों ने क्षायिक सम्यक्त्व सहित उत्पन्न करा दिया। इस प्रकार तीन जगह गोम्मटसारके टीकाकार की भूल सिद्धात परीक्षा भाग १–पत्र ४७, ४८, ४९, आदि में दिखलाई है। परन्तु वह गोम्मटसार के टीकाकार की भूल नहीं है किन्तु टीका और मूलग्रंथ के आशय समझने की भूल है।

पहले स्थल की भूल यो नहीं है कि गोम्मटसार जीवकांड गति मार्गणा की १५९ की गाथामें सामान्य मनुष्य राशि का प्रमाण बतला कर 'पंचम कदि घण समपुण्णा' गाथा के चतुर्थ पद से पर्याप्त मनुष्यों की

संख्या का वर्णन किया है और 'पंचम कृति घन' कितना प्रमाण वाला होता है इस बात के निर्णय के लिये 'तललीन मधुग विमलं' इत्यादि १५७ वी गाथा लिखी है। उसके हिसाब से पर्याप्त मनुष्यों की अर्थात् द्रव्य मनुष्यों की २६ (गुनतीस) अङ्क प्रमाण संख्या बतलाई है।

फिर आगे चल कर गाथा १५८ में यह बात बतलाई है कि पर्याप्त मनुष्यों की जितनी संख्या है उसमें तीन हिस्सा मनुष्यनियों की संख्या है और एक हिस्सा पर्याप्त मनुष्यों (द्रव्य मनुष्यो) की संख्या है।

यहां पर यह विचारने की बात है कि इस गाथा में जो मनुष्यणियोंका ग्रहण है वह द्रव्य मनुष्यणियों का है या भाव मनुष्यणियों का है? ऊपर की गाथा और इस १५८ वीं गाथा के हिसाब से तो यही अर्थ निकलता है कि यहां मनुष्यणी से द्रव्यमनुष्यणीका ही ग्रहण है क्योंकि ऊपरकी गाथाओं में जो गणना की है वह पर्याप्त मनुष्यों की अर्थात द्रव्य मनुष्यों की गणना की है और उसी में से तीन भाग संख्या मनुष्यणी की बतला रहे हैं। इस लिये अनायास ही यह आ जाता है कि यह गणना द्रव्य मनुष्यणियों की है। गाथा १५८ में पर्याप्त मनुष्यणियों का एक अंश छन्दोभङ्ग न होने के अभिप्राय से मनुष्यणी ही लिया है जो कि सम्बन्धित गाथाओं के अभिप्राय से यह बात स्वयमेव ही सिद्ध है। और विग्रह गति में भी जिस शरीर को जीव छोड़ता है उसी शरीर का आकार बना रहता है इसलिये शरीराकार की अपेक्षा उपचार से पर्याप्त 'द्रव्यशरीर' वहां भी है। और निर्वृत्यपर्याप्ति तो पर्याप्ति ही है क्योंकि जब तक शरीर की पूर्ति नहीं होती तभी तक उसका नाम निर्वृत्यपर्याप्ति है। इसलिये इस १५८ वीं गाथा में संस्कृत या भाषा टीकाकारों ने जो मनुष्यणी का अर्थ द्रव्यस्त्री किया है वह ठीक ही किया है उनकी वास्तव में कोई भी भूल नहीं है। संस्कृत टीका श्री चामुण्डराय कृत कनड़ी टीका के आश्रय से लिखाई गई वह कनड़ी टीका श्रवण वेल गोला के शास्त्र भण्डार में ताड़पत्र पर है। ताड़पत्र ४८ पंक्ति नं १ (द्रव्यस्त्री पर परिमाणमुक्कु) ऐसा लिखा हुआ पाठ है यह बात श्री १०५ क्षुल्लक सूरिसिंह जी महाराज ने ता० २६-१-१९४६ की चिट्ठी के द्वारा सूचित की है इससे भी यह बात प्रामाणिक मानी जाती है कि—यहां संस्कृत टीकाकारों की भूल नहीं है श्री चामुण्डराय महाराज तो खास श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ति के शिष्य थे। इसलिये उनसे इतनी बड़ी भूल कैसे हो सकती है? अर्थात यहां कोई भी भूल गोम्मटसार के टीकाकारों की नहीं है। यहां इतनी बात विशेष और है कि इस स्थल को छोड़कर के अन्य जहां कहीं भी गोम्मटसार में मनुष्यणी शब्द आया है वह सर्वत्र भावस्त्री अर्थ का ही सूचक है। श्री षटखण्डागम में तो कहीं भी मनुष्यणी शब्द द्रव्य स्त्री वाचक नहीं आया है।

दूसरा स्थल—'सव्व इत्थीणं में इतना विवेक है कि द्रव्यस्त्री में द्रव्यनपुंसक का भी ग्रहण होता है क्योंकि जगत में जितने हिजड़े (नपुंसक) होते हैं वे सभी स्त्री रूप में रहते हैं तथा उनके हावभाव भी द्रव्यस्त्रियों सरीखे होते हैं इसलिये उनकी गणना द्रव्यस्त्रियों में ही आ जाती है और द्रव्यस्त्रियों की संख्या का जो प्रमाण है उसके अन्तर्गत (भीतर) ही द्रव्यनपुंसकों की संख्या आ जाती है इसलिये ग्रन्थकारों ने द्रव्यनपुंसकों की संख्या छोड़ दी है ऐसी धारणा निर्मूल हो जाती है। अर्थात् मूल ग्रन्थकारों

के मत से द्रव्यनपुंसकों की संख्या छूटी नहीं है। टीकाओं में यह बात किसी कारण से रह गई है। नहीं तो वहां भी यह बात अवश्य आनी चाहिये। 'सण्ढइत्थीण' यह पाठ तो अवश्य नहीं है कारण कि यदि ऐसा पाठ होता तो ग्रन्थकार उन नपुंसकों की संख्या रूप गणना अवश्य करते। अर्थात ऐसी मोटी भूल ग्रन्थकारों की दृष्टि में कभी न रहती। और रत्नकरण्ड श्रावकाचार की 'सम्यग्दर्शनशुद्धा' इत्यादि गाथा के हिसाब से मनुष्य गति में द्रव्य—नपुंसक अवश्य ही हैं। नहीं तो उनका वर्णन गाथा में नहीं आता, पुरुषों में तो उनका समावेश होता नहीं क्योंकि उनका पहनाव और चाल चलन सब पुरुषों का सा न होकर स्त्रियों का सा ही है इसलिये उनका समावेश द्रव्यस्त्रियों में है ऐसा होने से उनको संख्या रूप गणना रह गई हो यह बात भी दूर हो जाती है। रत्नकरण्ड में उनका वर्णन द्रव्य स्त्रियो से भेद दिखाने की विवक्षा को लेकर पृथक किया है और सिद्धांत ग्रन्थों में उनको द्रव्य स्त्रियों में समाविष्ट कर अभेद विवक्षा से वर्णन है यह निष्कर्ष स्वयमेव ही निकल आता है।

तीसरी टीकाकारों की भूल गिनाई है वहां पर हमारे मित्र सिद्धांत शास्त्री जी ने गहरा विचार नहीं किया है। किन्तु उनने टीकाकारों की भूल इस धुन में हठात् भूल दिखाने के लिये 'क्षपित सम्य-क्त्वप्रकृतेरष्टात्रिंशतशतकेऽपि त एव त्रयो भङ्गाः' इस पंक्ति के आदि की पंक्ति 'कृतकृत्यवेदकतीर्थसत्वमनु-ष्यस्य गतिद्वयजननसम्भवात्' यह पंक्ति छोड़ दी है। यदि इस पंक्ति का आश्रय भी लेकर शास्त्री जी 'यो बद्धनरकायुस्तीर्थसत्वः स प्रथमपृथिव्यां द्वितीयायां तृतीयायां वा जायते' इस पंक्ति का अर्थ बैठाल लेते तो उनको यह लिखने की कोई गुञ्जाइश सिद्धांत परीक्षा भाग १ के पत्र ४१वें में न रहती कि — यहां संस्कृत टीकाकार ने क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव को पहले दूसरे और तीसरे नरक में उत्पन्न कर दिया मैं शास्त्री जी से पूछ सकता हूं कि—कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्वी तीर्थंङ्कर सत्व प्रकृति वाला मनुष्य क्या चौथी आदि नीचे की नरक भूमि में भी उत्पन्न होता है? जब वहां नहीं उत्पन्न होता है तो कृतकृत्य वेदक सम्यक्त्वी तीर्थ सत्व का तीन नरक तक ही स्थान रहता है। और क्षायिक सम्यक्त्वी तीर्थ सत्व का पहली नरक भूमितक रहता है। इससे सिद्धांत दृष्टिमें यह अनायास ही निष्कर्ष निकल आता है कि तीर्थङ्कर सत्व प्रकृति के साथ क्षायिक सम्यक्त्वी होगा तो वह पहली नरक पृथ्वी में जन्म लेगा। और कृतकृत्य वेदक के साथ तीर्थंङ्कर प्रकृति सत्व वाला होगा वह दूसरी तीसरी नरक पृथ्वी में भी जन्म लेगा। इस 'यो बद्धनरकायुस्तीर्थे सत्वः स प्रथम पृथिव्यां द्वितीया-यां तृतीयायां वा जायते' पंक्ति में खास क्षायिक सम्यक्त्वी तो लिखा नहीं है।

इसलिये इस स्थल पर भी आपका दिया हुआ यह आक्षेप सिद्ध नहीं होता कि संस्कृत टीकाकार ने यहां यह भूल की है। ऊपर से वेदक सम्यक्त्व के साथ तीर्थ सत्व का और क्षायिक सम्यक्त्व के साथ तीर्थ सत्व इन दोनों का वर्णन चला आ रहा है। इसलिये नरक भूमियो में जहां जैसा सिद्धांत दृष्टि से वर्णन है वहां वैसा अर्थ स्वयमेव ही आ जाता है।

अतः कहना होगा कि यहां भी टीकाकारों ने कोई भूल नहीं की है। केवल आपकी ही पूर्वापर से ग्रन्थ के सम्बन्ध नहीं लगाने की भूल है। इन तीनों स्थलों में से ऊपर का जो इस लेख का मुख्य स्थल है

वहां तो किसी अंश मे भी भूल नहीं है क्योंकि वहां तो षटखण्डागम के सूत्र ६३ से उसका सम्बन्ध बैठ जाता है। मेरा तो इस विषय में स्पष्ट सिद्धांत है कि गोम्मटसार के टीकाकारों ने वहीं भी भूल नहीं की है। कारण कि जो षटखण्डागम सूत्रों का और गोम्मटसार का अभिप्राय (मत) है। अन्य ग्रन्थों से कहीं मतभेद पड़ता है वह उनकी अलग २ आचार्य परम्परा का कुछ कहीं सैद्धान्तिभेद के होनेसे मतभेद दीखता है।

यहां अवश्य ही एक बात ध्यान में देने योग्य है कि पर्याप्त विशेषण रहित मनुष्यणियों के अर्थ में षटखण्डागम और गोम्मटसार का एक ही मत है अर्थात् दोनों ग्रन्थकार पर्याप्त विशेषण रहित मनुष्यणी का अर्थ भावस्त्री ही मानते हैं। परन्तु गोम्मटसार के टीकाकारों ने जहां कहीं इस नियम का निर्वाह दूसरी तरह भी किया है उसका एक उदारहण निम्न प्रकार है—

असंयतमानुष्यां प्रथमोपशमवेदकक्षायिकत्रयं च सम्भवति तथापि एको भुज्यमानपर्याप्तालाप एव, योनिमतीनां च पञ्चमगुणस्थानादुपरि गमनासम्भवात् द्वितीयोपशम सम्यक्त्वं नास्ति।

यहां पर 'मानुष्यां' अकेला शब्द दीख रहा है। इसलिये 'भावस्त्री' इस 'मानुष्यां' शब्द का अर्थ होना चाहिये परन्तु साथ ही लिखा है कि 'भुज्यमान-पर्याप्तालाप एव' इससे स्पष्ट अर्थ द्रव्यस्त्रीका हो जाता है क्योंकि मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द होने से द्रव्यस्त्री का ही अर्थ सूचित होता है। इसी का स्पष्ट कारण आगे के 'योनिमती' शब्द से हो जाता है। और मानुषी का भावस्त्री तो होता ही है। इसलिये भावस्त्री अर्थ भी यहां लिया जा सकता है। परंतु मुख्यता से पर्याप्त और योनिमती शब्द होने से द्रव्यस्त्री अर्थ ही यहां है। अतः टीकाकारों के ऐसे ही स्थल दूसरी तरह निर्वाह के समझे जाते हैं, श्री षटखण्डागम में तो सर्वत्र एक ही नियम रहा है कि जिस जिस जगह मानुषी के चौदह चौदह गुणस्थान गिनाये हैं वहां कहीं भी उसके साथ 'पर्याप्त' शब्द नहीं है। परन्तु 'मनुष्य' के साथ 'पर्याप्त' शब्द अवश्य है इस लिये उस उस स्थल पर सर्वत्र ही मानुषीसे भावस्त्री और पर्याप्त मनुष्यसे द्रव्य मनुष्य का ग्रहण हुआ है वह वेद वैषम्य की अपेक्षा से ही है। जैसे द्रव्य मनुष्य के भाववेद स्त्री होता है उसी तरह द्रव्य मनुष्यके भाववेद नपुंसक होता है। इसी लिये नपुंसक वेद को यानी भाव नपुंसक को भावस्त्री वेद के समान श्रेणी आरोहण में लिया गया है। नपुंसक द्रव्यवेदको तो किसी भी दिगम्बर श्वेतांबर आदि जैन फिरके में मोक्ष का अधिकारी नहीं माना है। परन्तु द्रव्यस्त्री के लिये मोक्ष की अधिकारितामें दिगम्बर श्वेतांबर सम्प्रदायमें मतभेद अवश्य है।

इसी लिये दिगम्बर सम्प्रदाय में मनुषिणी के साथ पर्याप्त शब्द नियोजित न करके उसका भावस्त्री भेद कर दिया है और भावस्त्री को मोक्ष जाना माना हैं और द्रव्यस्त्री को मोक्ष का निषेध किया है। यह मणुसिणी के साथ पर्याप्त शब्द रहने न रहने का अटल सिद्धांत हैं। भाव नपुंसक का अलग विवेक इस लिये नहीं किया गया है कि उसका समावेश द्रव्य मनुष्य के भाववेद में वेद वैषम्य की अपेक्षा से हो ही जाती है। इसलिये यह ही निश्चित है कि पर्याप्त मनुष्य में पुरुषवेदी के साथ नपुंसक वेदी को जो लिया है। वह वेदवैषम्य से ही लिया है, न कि पर्याप्त मनुष्य को ही भाव पुरुष वेदी और

तथा किस किस संहनन से कौन कौन से नरक तक गमन होता है वह प्रवचनोद्धार के चौथे भाग संग्रहणी सूत्र की निम्न लिखित गाथा में बताया है-

दो पढमपुढिविगमनं छेवट्टे कीलियाइ सङ्घयणे।
इक्किक पुढविवुड्ढी आइसिलेस्साउ णारएसु ॥२३६॥

इस गाथा से स्पष्ट है कि—वज्रनाराचसंहनन से नरक की छठी भूमि तक गमन है तथा ऊपर की 'असन्निसिरीसिवपंक्खी उरगिछि जंति जाछट्ठिं। इस गाथा से स्त्री छठे नरक तक ही जाती है।

इन सभी श्वेताम्बर आगमिक प्रमाणों से निष्कर्ष निकल आता है कि स्त्री के वज्रर्षभनाराच नामक पहला संहनन नहीं होता किन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थानुसार दूसरा वज्रनाराचसहनन तक होता है। जब स्त्री के पहला वज्रर्षभ नाराचसंहनन नही होता तो उसको मोक्ष भी नहीं हो सकती इस सब कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि—द्रव्यस्त्री को मोक्ष जाने का विधान श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सिद्धात में नहीं है किन्तु यापनीय सङ्घ क हिसाब से है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो सिर्फ हुण्डावसर्पिणी काल के दोष से ही अछेरा (अन होनी बात का हो जाना) रूप दोष से द्रव्य स्त्री को मोक्ष माना गया है। उसी बात को लेकर के इतना बड़ा तूमाल पीछे क शास्त्रों में लिखा गया है कि—

मरुदेवी को हाथी पर बैठे २ ही तथा मृगावती को चन्दना के पैर दावते दावते, चन्दना के केवल—ज्ञानिनी मृगावती द्वारा अपने पैर दबाये जाने रूप अविनय का पश्चात्ताप करते हुये, और एक बुढ़िया को उपाश्रय में बुहारी देते देते ही केवलज्ञान होगया आदि बहुत सी बातें भोले भाइयों को समझाने के लिये लिख दी हैं। उन बहुत सी असम्भव बातों का स्पष्ट उल्लेख दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण के द्वितीय अंश के 'सत्पथ प्रदीप' लेख में है। अतः पुनरुक्त होने से यहां उन सभी श्वेताम्बर मान्य सिद्धांत विरुद्ध असम्भव बातों का उल्लेख नहीं किया है।

दिगम्बर जैन धर्म में ऐसा सिद्धांत के विरुद्ध अछेरा नहीं हो सकता है इसलिये हुण्डावसर्पिणी-काल मे भी द्रव्य स्त्री को मोक्ष नहीं मानी है। यह बात कर्म सिद्धांत से क्यों नहीं हो सकती इसका अच्छा उत्तर श्री पण्डित अजितकुमार जी शास्त्री ने अपने सत्पथ प्रदीप लेख के पत्र २३२ में आबाधा-काल को लेकर दिया है। इससे स्पष्ट है कि दिगम्बर जैनधर्म में कर्म सिद्धांत सापेक्ष कहीं भी विशृङ्खलता या त्रुटि नहीं है।

श्वेतांबर जैन सम्प्रदाय में जब कर्म सिद्धांत से द्रव्य स्त्री को मोक्ष नहीं है तथा उनके प्रामाणिक ग्रन्थों में जो वेद वैषम्य के दर्शन हो रहे हैं तब यह बात अनायास ही निकल आती है कि उनके यहां भाव स्त्री को मोक्ष माना है और भाव नपुंसक को भी मोक्ष का विधान है अन्यथा वेद वैषम्य का विधान भी किस हेतु से माना जाय। शास्त्रों में कोई निरर्थक विधान हो यह तो कभी माना जा नहीं सकता। जहां कही भी जो कुछ विधान होता है वह किसी न किसी की सार्थकता लिये ही होता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में—वेद वैषम्य विधान—बृहत्कल्प सूत्र के उद्देश चार में देखिये—

तिविहम्मिविवेदम्मि तियभङ्गो कायव्वो ॥५१४७॥

इसकी टीका—'स च नपुंसकवेदः त्रिविधेपि वेदे भवति। यत आह—त्रिविधेऽपि वेदे प्रत्येकं त्रि-केभङ्गः कर्तव्यो भवति। कथमिति चेदुच्यते-पुरुष वेदः वेदं वेदयति, पुरुषवेदः स्त्रीवेदंवेदयति पुरुषो नपुंसक

वेदं वेदयति । एवं स्त्री नपुंसकयोरपि वेदत्रयोदयो मन्तव्यः। (सिद्धांत परीक्षा भाग १ श्री पं० फूलचन्द जी द्वारा दिये गये उत्तर का पत्र १४ और १५)।

तत्वार्थभाष्य की सिद्ध सेनी टीका—'लिंगं त्रिविधं स्त्रीत्वादि तत्वलीनत्वाल्लिंगमुच्यते, यस्मात्पुरुषलिंग निर्वृत्तावपि प्रकत्यामपि कदाचित् स्त्रीलिङ्गमुदेति न च स्पष्टं बहिरूप लभ्यते नपुंसक लिंग वा आदि।

सिद्धांत परीक्षा भाग १ श्री पं० फूलचन्द जी शास्त्री द्वारा दिये गये उत्तर का पत्र ५८।

इन प्रमाणो को नवीन बतलाकर के हटाया नहीं जा सकता।

दिगम्बर सम्प्रदाय में तो वेद वैषम्य का कथन बहुत प्राचीन है। इस वेद वैषम्य के विषय में प्राचीन परमागम रूप—

पुंवेदं वेदतो जे पुरसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेणवि तहा झाणवजुत्ताय तेदु सिज्झंति॥

यह प्रमाण गाथा है।

तथा षटखण्डागम के सूत्रों में- -पर्याप्त विशेषण रहित मानुषी के जो १४ गुणस्थान का जहां जहां वर्णन है वहां सूत्रकार के मत से भावस्त्री को ग्रहण किया है। अतः इस प्राचीन ग्रन्थ से भी वेद वैषम्य सिद्ध है। इन्हीं प्राचीन प्रमाणों का आश्रय लेकर के जीवकांड वेदमार्गणा—

'पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण' इत्यादि २७०वीं गाथा वेदवैषम्य की प्रतिपादक है। तथा आचार्य अमितगति कृत पञ्चम संग्रह 'स्त्रीनपुंसका जीवा सदृशा द्रव्यभावतः जायन्ते विसदृशाश्च कर्मपाक नियंत्रिताः अध्याय १ गाथा १९९ से १९४ तक में वेद वैषम्य का स्पष्टीकरण है। यह सब वेद वैषम्य का विषय दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों आगम से सिद्ध होने पर भी प्रोफेसर हीरालाल जी ने अपनी निजी बौद्धिक युक्ति से वेद वैषम्य को उड़ाना चाहा है परन्तु वह उनकी युक्तियों से उड़ नहीं सका है।

प्रोफेसर हीरालाल जी अपने युक्तिवाद में कहां पर स्खलित हुये हैं वह स्थल ध्यान देने लायक है, आपने वेद वैषम्य को खण्डन करने के लिये श्री गोम्मटसार कर्मकांड गत प्रत्येक कर्मोदय के नोकर्म दर्शक प्रकरण में से वेदो के नोकर्म विधान की—

थी पुंसंढसरीरं ताण णोकम्म दव्वकम्मं तु॥७६॥

यह गाथा और उसकी टीका—

'स्त्रीपुंवेदयोः स्त्रीपुंशरीरे नोकर्म द्रव्यकर्म भवति। नपुंसकवेदस्य तद्द्वयं नपुंसक शरीरं च॥'

इस गाथा की टीका से अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिये श्री प्रोफेसर जी समझाते हैं कि—
"पुरुष शरीर सांगोपांग होगा तो वहां पुरुष वेद का उदय होगा और पुरुष शरीर में विकलता होगी तो वह नपुंसक होने से वहां नपुंसक वेद का उदय होगा इसी तरह स्त्री का शरीर सांगोपांग होगा तो स्त्रीवेद का उदय होगा यदि उस शरीर में विकलता होगी अर्थात वह नपुंसक हो जायगा तो उसके नपुंसकवेद का उदय हो जायगा।"

इस प्रकार प्रोफेसर जी के विधान का टीका मे पड़े हुये 'तद्द्वयं' शब्द से खण्डन हो जाता है कारण कि यदि टीका में नपुंसक वेद के उदय के लिये नपुंसक शरीर ही होता तो आपका किया विधान अवश्य ही बन जाता परन्तु वहां तो 'तद्द्वयं' यह एक शब्द और पड़ा है जो कि नपुंसकवेद के उदय को स्त्री शरीर और पुरुष शरीर से पृथक २ बतला रहा है। ऐसा होने से सिद्धांत ग्रन्थो से सम्मत वेद वैषम्य अनायास ही सिद्ध है। इसलिये मानना पड़ेगा कि यह

कल्पना प्रोफेसर जी की निराधार ही कल्पना है।

तथा इस उपर्युक्त गाथा और टीका से सिद्ध हो जाता है कि भाव वेदोदय स्त्री और पुरुष तथा नपुंसक के शरीरोत्पत्ति में कारण नहीं है। किन्तु शरीर ही वेदोदय की उत्पत्ति में कारण है। वेदों की आनुषङ्गिक व्यवस्था जीवकांड के टीकाकारों ने जो की है वह भी आपकी कल्पना को सिद्ध नहीं करती है। वह क्यों नहीं करती है उसका उत्तर टीका के आधार से निम्न प्रकार है—

पुंवेदोदयेन निर्माण-नामकर्मोदय युक्तांगोपांग-नामकर्मोदयवशेन श्मश्रुकूर्चशिश्नादिलिंगांकितशरीराविष्टो जीवो भवप्रथमसमयादि कृत्वा तद्भवचरम-समयपर्यंतं द्रव्यपुरुषो भवति ॥

यहां पुंवेदोदयेन शब्द में जो तृतीया है उसे आपने हेत्वर्थ में समझ रक्खा है। परन्तु यहां तृतीया हेत्वर्थ में न होकर सहयोग मे है। सहयोग में क्यों है? इसका उत्तर यह है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से वर्तमान स्त्री पर्याय मे जो भाववेद है वह नवीन भव की प्राप्ति के पूर्व समय तक तो रहता ही है परन्तु नवीन भव पर्याय धारण करते ही बदल जाता है अर्थात् द्रव्य स्त्री से और भाव स्त्री से देव पुरुष होने के पूर्व पहला भाववेद नष्ट हो जाता है अर्थात देव पर्याय में दोनों पुरुष वेद साथ साथ ही उत्पन्न होते हैं। यदि एक वेद दूसरे के बदलने में अर्थात् उत्पन्न कराने में हेतु होवे तो ऐसे स्थल पर कहना होगा कि द्रव्यवेद ही भाववेद उत्पत्ति का कारण हो सकेगा परन्तु वह बात नहीं है किन्तु द्रव्य वेद की उत्पत्ति के समय जो भाववेद होगा उसका सहयोग देव योनि और भोग भूमियां में अवश्य ही रहेगा।

परन्तु कर्मभूमि की मनुष्य तिर्यञ्च पर्याय में हर समय सहयोग रहे भी और न भी रहे। इसलिये वेद प्रकरण में जो बात प्रोफेसर हीरालाल जी ने निश्चय कर रक्खी है वह नहीं ठहरती।

इस उपर्युक्त लिखान से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि देव पर्याय नरक पर्याय और भोग भूमियों के भव की आदि से अंत तक जो द्रव्यवेद रहता है वह ही भाववेद रहता है वहां पर पर्याय भर भाववेद बदलता नहीं इसलिये वेद अपरिवर्तन का नियम वहां ही लागू है। परन्तु कर्मभूमि के संज्ञी पर्याप्त मनुष्य के और संज्ञी पर्याप्त पचेन्द्रिय तिर्यंच के यह नियम लागू नहीं है। क्योंकि पंच सग्रह के—

नान्तर्मुहूर्तका वेदास्ततः संति कषायवत्।
आजन्ममृत्युतस्तेषामुदयो दृश्यते यतः ॥१-१८१॥

इस श्लोक में और 'त्रयाणां वेदानांक्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण पर्यायत्वात् कषायवत् नांतर्मुहूर्तस्थायिनो वेदा आजन्मन आमरणात्तदुदयस्यसत्वात्' इस धवला की पंक्ति में कहीं भी जीव की पर्याय विशेष नहीं लिखी है; किन्तु सामान्य कथन है। इसलिये जहां जैसा अर्थ सम्भव होगा वहां वैसा अर्थ शास्त्र और लोक-दृष्टि को देखकर लगाया जा सकेगा।

यदि हमारे समाज के मान्य सैद्धांतिक शास्त्रियों का यह ही अभिमत हो कि कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों के भी भाववेद बदलता नहीं है तो वह सिद्धांत भी अपने अभीष्ट सिद्धि का बाधक नहीं कारण कि जिस समय द्रव्यवेद का निर्माण होगा उसके उस समय में जो भाववेद उस जीव के होगा वह सहयोगिता कर द्रव्यवेद के साथ जन्म पर्यंत रह सकेगा। इस तरह भी सैद्धांतिक वेद वैषम्य सिद्ध ही है। टीका में—पुंवेदोदयेन इत्यादि तृतीया है वह हेतु

वाचक सिद्धांत दृष्टि से नहीं है किन्तु वहां सहयोगार्थक ही तृतीया है। इसलिये प्रोफेसर हीरालाल जी वहां हेत्वर्थक तृतीया मानकर जो अर्थ समझ रहे हैं वह बात सैद्धांतिक प्रकाश में किसी प्रकार भी नहीं ठहरती। तथा आपके मन्तव्य में आपका युक्तिवाद भी नहीं ठहरता।

इसी प्रकार से उदीरणा के विषय में भी जो प्रौफेसर हीरालाल जी धवला टीका का आश्रय लेकर समझ रहे हैं वहभी उसीके आधारसे बाधित है-

धवला टीका— 'उदय उदीरणाणं को विसेसो? उच्चदे जे कम्मक्खधा ओकड्डु कड्डुणादिपओगेण विणा-ट्ठिदिक्खयंपाविदूण अप्पप्पणो फलं देंति कम्मक्खंधा-णमुदओत्ति सण्णा। जे कम्मक्खधा महंतेसु ट्ठिदि अणुभागेसु अवट्ठिया ओकड्डिदूण फलदाइणो कीरंति तेसिं मुदीरणात्ति सण्णा अपक्कपाचनस्य उदीरणा व्यपदेशात्।

इस धवला में उदय उदीरणा का भेद बतलाया गया है उदीरणा लक्षण में-एक-'महन्तेसु' पद आया है और वह आगे के 'ट्ठिदि अणुभागेसु' इस समश्रित पद-का विशेषण है। विशेष्य और विशेषण को साथ लेकर सब उदीरणा सम्बन्धी वाक्य के अर्थ से प्रगट होता है कि जिन कर्मों की स्थिति और अनुभाग महान है अर्थात् बहुत विपुलता लिये हुये हैं उनकी क्रम से अपनी फल देने रूप शक्ति को एकदम खींच कर अपने समय से पहले फल देने वाला बना देना है उसका नाम 'उदीरणा' है।

इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जिन कर्मों मे विपुल फल देने रूप शक्ति पड़ी है, उन कर्मों को उस समस्त विपुल शक्ति सहित जल्दी फल देने रूप बना देना है वह उदीरणा है। क्योंकि उदीरणा का अर्थ अपक्व पाचन लिखा है। इसका और भी स्पष्टीकरण यह होता है कि जो शक्ति सत्ता में मौजूद थी और विपुल होकर क्रम क्रम से फल देने के समय से पहले एक ही समय खींच कर आ जाने से उसका परिणाम उदय की अपेक्षा उत्कट होने से वेदना को एकदम जागृत करने वाला हो जाता है। इसी कारण वेदनीय कर्म की जहां तक उदीरणा है वहां तक भूख और प्यास आदि की बाधा है। नहीं तो उदय तो हमेशा रहता है इस लिये हर समय ही वेदना होना चाहिये।

छठे गुणस्थान के अन्त में वेदनीय की उदीरणा व्युच्छित्ति होने से ऊपरले गुणस्थानो में वेदनीय जन्य कोई भी बाधा नहीं होती, यह स्पष्ट उदय और उदीरणा का विवेक है। इसका दृष्टान्त यह समझना चाहिये कि रेलगाड़ी अपनी रफ्तारसे धीरे धीरे चल कर खड़ी होगी तो उसमें मुसाफिरों को कष्ट नहीं होगा किन्तु उस रफ्तार को जल्दी खींच कर एक दम गाड़ी खड़ी की जायगी तो उस से एक दम बड़ा भारी धक्का लगेगा और मुसाफिरोंको बहुत तकलीफ पैदा हो जायगी। यही सब इस विषय में समझने योग्य है।

मित्र प्रोफेसर हीरालालजी ने जो जो विचार शंका के रूप में उपस्थित किये थे उनका समाधान इन तीनों दिगम्बर जैन सिद्धात दर्पण के लेखो से अच्छी तरह हो जाता है। आशा है कि आप अपने मन्तव्यों पर इन लेखो का प्रकाश डाल कर जो सैद्धान्तिक समुचित स्थिति है उस पर स्थित होगे।

मित्रत्व के सम्बन्ध में आपके प्रति ये कुछ शब्द और हैं अच्छा होता कि आप दिगम्बर और श्वेताम्बर मत के एकी करण दृष्टि में उभय सिद्धांतोंक

वास्तविक गहरी दृष्टि डाल कर उसी सिद्धांतोक्त मर्यादा से विषय विवेचन करते तो आपका मन्तव्य अवश्य ही सिद्ध हो जाता। परन्तु सिद्धांत मर्यादासे हटकर आपका लेख होनेके कारण तो दोनों संप्रदायों के मेल में एक खाई सरीखा उलटा अन्तर पड़ गया है वह इस लेख के निष्पक्ष मनन करने से आपके ध्यान में अवश्य आ सकेगा। फिर भी जो इन विषयों में शंकायें होवें समक्ष या पत्रों द्वारा निर्णय कर सकेंगे'।

इस लेख में या और इसी सम्बन्ध के अन्य लेखों में किसी के भी प्रति कोई कटुक शब्द उपयुक्त नहीं किया गया है फिर भी उस विषय में क्षमा मांगना आत्म परिणाम की निर्मलता का सूचक है अतः वह प्रार्थनीय है।

सूत्र ९३ में भाववाद के पक्ष को लेकर जो महानुभाव 'संजद' शब्द की स्थिति मान रहे हैं वे भी इस निष्पक्ष लेख का विचार करके मेरे विचार के साथ मिलने की कोशिश करेंगे या मुझे समझाने के लिये पौष्टिक अकाट्य प्रमाण देकर मुझे अपनी तरफ मिलाने की कोशिश करेंगे। क्यों कि दोनों तरफ पक्षपात का विषय तो है नहीं, सैद्धान्तिक मर्यादित निर्णय ही यहां का विषय है।

भाववेद मानने वाले मित्र विद्वानों के प्रति सस्नेह एक प्रश्न यह है कि यदि यह षट्खंडागम का विषय-सर्वथा आप लोगों की दृष्टि में भाववेद का ही है तो इस ग्रंथ से प्राचीन या इस ग्रथ के समकालीन कौन से ग्रंथ का ऐसा विषय है कि जो द्रव्यस्त्री के पांच गुणस्थान का प्रतिपादन करता है।

इस ग्रन्थ के ९३ वें सूत्र में जब 'संजद' शब्द नहीं रहता है तब तो यह बात इसी ग्रन्थ से सिद्ध हो जाती है क्योंकि सूत्रकार की दृष्टि से यह सूत्र ९३ का द्रव्यस्त्री का तो सिद्ध ही है जिसकी सिद्धि के इस लेख में कई अकाट्य प्रमाण दिये जा चुके हैं। क्यों कि सूत्रकार के मतसे जहां मानुष और मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द है वहां द्रव्यवेद है और जहां उनके साथ पर्याप्त शब्द नहीं है वहां भाववेद है।

जब सूत्र ९३ में 'संजद' शब्द नहीं रहता है तो द्रव्यस्त्री के पांच गुणस्थान सिद्ध होने के सबब प्रतिपक्ष को यह कहने की गुंजाइश भी नहीं रहती है कि-'प्राचीन ग्रन्थमें तो द्रव्य और भावका कहीं भी कथन नहीं है यह बात तो कुन्द कुन्द स्वामी से प्राप्त है, प्रति—पक्ष का जो यह कहना है वह दिगम्बर सम्प्रदाय का और उस सिद्धांत का सादित्व का सूचक होता है सो यह मान्यता तो आपको भी पसंद नहीं है। दूसरे इस ग्रंथमें सर्व भाववेद का ही विषय माना जाय तो वेद वैषम्य से जिस द्रव्यस्त्री का भाववेद पुरुषवेद है उसके चौदह गुणस्थान प्राप्त होने से द्रव्यस्त्री के १४ गुणस्थान-षट्खंडागम के सूत्रों से अनायास ही आजायंगे। फिर उसके निवारण का उपाय आपके पास क्या हो सकता है उसे आप गंभीरता से विचार में लावेंगे।

इस विषय में आप यह कहें कि चौदह गुणस्थान विधायी सूत्रों में पर्याप्त मनुष्य से भाववेदी पुरुष और भाववेदी नपुंसक का ग्रहण है, परंतु यह बात आपकी वेदवैषम्य से सिद्ध है जो कि अपनको भी मान्य है। किंतु यहां यह नहीं है कि-पर्याप्त मनुष्य ही भाववेदी है। यदि ऐसा होता तो सूत्रकार के मतसे उन चौदह गुणस्थान विधायी सूत्रों में मानुषी के साथ भी पर्याप्त शब्द अवश्य दृष्टि-गोचर होता परंतु सो तो वह बात उन सूत्रों में है नहीं इससे

स्पष्ट है कि उन सूत्रों में पर्याप्त मनुष्य से द्रव्य पुरुष का ही ग्रहण है। और द्रव्य पुरुष के वेदवैषम्य से सभी तरह के भाव चौदह गुणस्थानों के साधक है। यद्यपि द्रव्य पुरुष में वेदवैषम्य से भावस्त्री का भी ग्रहण हो जाता परंतु उस के विषय में ग्रंथकार को स्पष्टीकरण अलग करना इष्ट था जो कि मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द न होने से भावस्त्री के १४ गुणस्थान का विधायी है और परमत सम्मत द्रव्यस्त्री के १४ गुणस्थान का निषेधक है। यदि परमत को द्रव्यस्त्री के १४ गुणस्थान मान्य न होते तो चौदह गुणस्थान विधायी सूत्रो में भावस्त्री वाचक 'मानुषी' शब्द की जरूरत भी नहीं थी क्योंकि वहां मनुष्य और मनुष्य पर्याप्त इन दो से ही सिद्धांत दृष्टि मे कोई आपत्ति उपस्थित नहीं होती। कारण कि तीनों भाववेद की अपेक्षा से तो विपक्षी भी चौदह गुणस्थान मानते हैं।

इसलिये मित्रभाव वेदियों के जो इस विषय में प्रश्नोत्तर है वे कोई भी नहीं ठहरते हैं। अच्छा हो कि हमारे मित्रभाव वेदी और मित्र प्रो० हीरालाल जी के इस लेख के विषय का गहरा विचार करेंगे और जो समीचीन वस्तु है उस पर पहुचेंगे। अलमिति विस्तरेण।
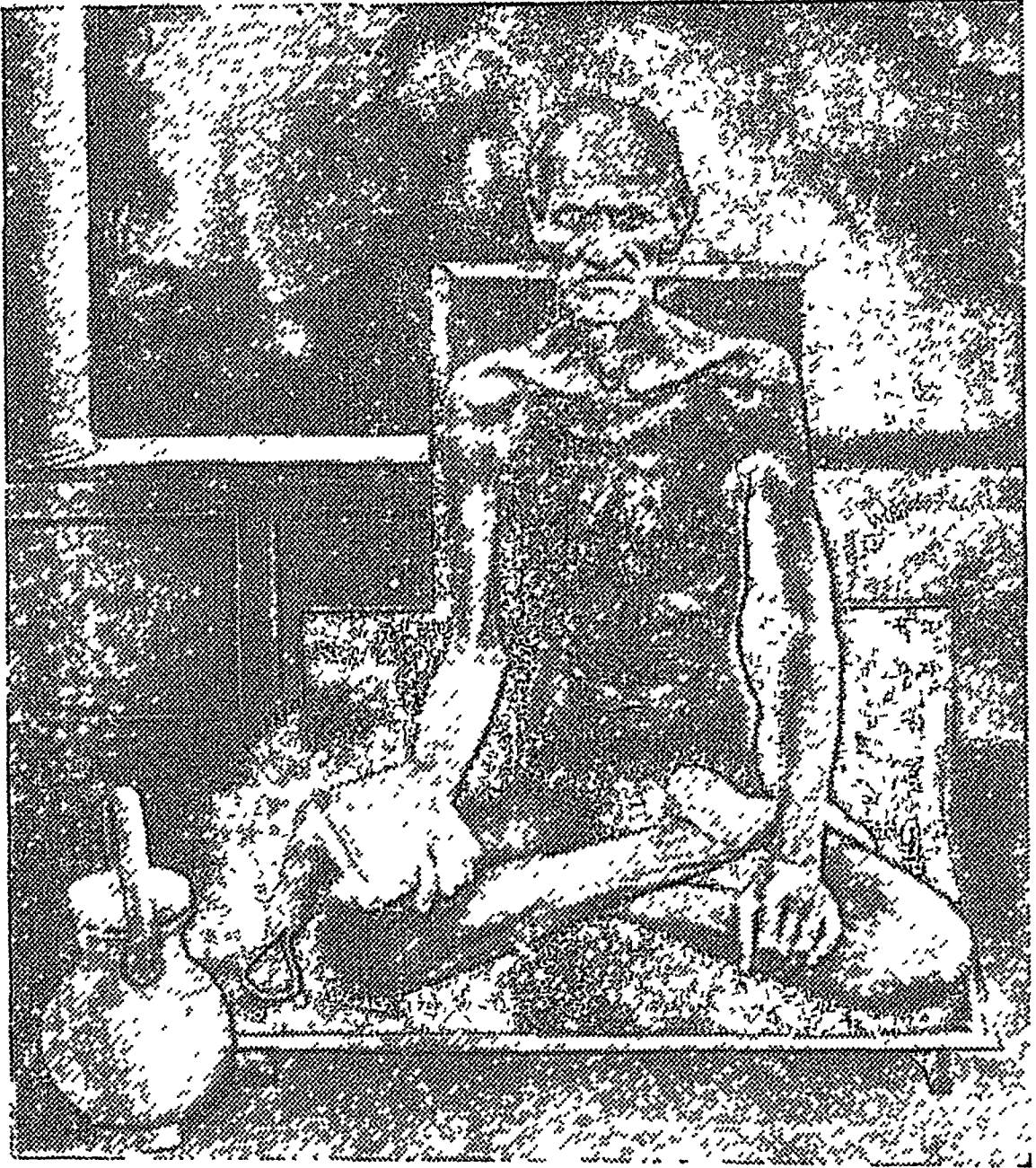
आतपायने कृतपश्चरणतप्तशरीरकांति जैनागमविहितसकलस्वाहितमार्गोपदेशी
निर्भीकस्पष्टवक्ता लोकोत्तरगुणगणाग्रणी प्रसिद्धादिभयंकर चन्द्रसमुज्वलकांति
शांतांतःकरण अनवच्छिन्नपरमागमाश्रितत्त्वोपदेष्टा उपसर्गजयी

पूज्य मुनि श्री १०८ चन्द्रसागरजी महाराज.

पूज्यश्रीकी धार्मिक सम्मति द्वितीय अंशमें है। (K. P. S.)

* श्री वीतरागाय नमः *

* प्रकाशक के दो शब्द *

श्रीयुत प्रोफे० हीरालाल जी के मन्तव्य का प्रतिवाद करने की समाज को क्यों आवश्यकता जान पड़ी इसका खास कारण यह है कि प्रोफे० साहब ने अपना मत निर्णयात्मक करके ही रखा है ऐसा स्थानीय समाज को जान पड़ने से उसे अपना कर्तव्य समझकर प्रतिवाद करना पड़ा। यदि प्रोफेसर साहब अपने मन्तव्यों को शङ्का रूप समझते थे तो समाज के विद्वानों के जरिये अपनी समाज के अन्दर ही यह बात रखते तो ऐसा न करना पड़ता। उपरोक्त आवश्यकतानुसार समाजके त्यागी विद्वानों से १ हेंड बिल द्वारा अपील की गई कि सब महानुभाव अपने अपने लेख प्रोफेसर हीरालाल के मन्तव्य के विरोध में लिखकर भेजें। इस अपील को मान देते हुये बहुत संख्या में त्यागियो तथा विद्वानों ने ट्रैक्ट सम्मतियां, गम्भीरतापूर्वक, मधुरशब्द और तात्विक-भाषा में आर्ष प्रणीत उदाहरणों के साथ लिखकर भेजी हैं। यह सब आपका ट्रैक्ट पढ़ने स मालूम हो जावेगा। आशा है कि प्रोफे० साहब भी यह दोनों ट्रैक्ट ध्यान से पढ़कर मन में शान्ति लाते हुये अपने मन्तव्यों को जरूर बदल कर पेपरों द्वारा प्रकाशित कराके समाज में शांति कायम करेंगे।

साथ में यह भी प्रकाशित करें तो बहुत अच्छा कि "मुझे दि० जैनधर्म व आर्षप्रणीतमार्ग श्रद्धापूर्वक मान्य है। जो कुछ मेरी शङ्का थी वह सब निवृत्त हो गई।"

साथमें समाजका भी यह कर्तव्य हो जाता है कि उपरोक्त बात प्रोफेसर साहब की तरफ से प्रकाशित हो जाने पर कोई भी सज्जन आगामी किसी प्रकार से लेख माला न चलावें और प्रोफे० साहब के प्रति पूर्ण सहानुभूति, मैत्रीभाव रखें।

दो ट्रैक्ट निकलने का कारण यह हुआ कि पहले ट्रैक्ट का आकार (साइज) बहुत छोटा होनेस पुस्तक बहुत मोटी मालूम पड़ती इसलिये छोटी साइज के ट्रैक्ट में श्रीमान पं० मक्खनलाल जी मुरेनावालों का ही लेख है। दूसरी बड़ी साइज के ट्रैक्टोंमें सब महानुभावों के ट्रैक्ट व सम्मतियां हैं। पाठक वर्ग दोनों ट्रैक्टों को एकाग्रचित्त से वाचन करें तो आशा है वे अवश्य लाभ उठावेंगे तथा ट्रैक्ट व सम्मतियां भेजने वालों ने जो अपना अमूल्य समय निकालकर यह कार्य किया है इसकी जरूर प्रशंसा करेंगे।

ट्रैक्ट को छोटा करने में हम असमर्थ रहे हैं

इसका यही कारण है कि सब महानुभावों ने यह भाव प्रकाशित किये कि हमारे ट्रैक्ट में कुछ कम ज्यादा न करके जैसा है वैसा ही छपना चाहिये। इस बात पर पूरा ध्यान रखना पड़ा है।

हम समझते हैं कि यह दोनों ट्रैक्ट अपनी इष्ट साधन की सिद्धि मे अपूर्व मान पावेंगे पाठक वर्ग इसके गुणों की ओर लक्ष्य देकर सम्पूर्ण पढ़कर धर्म लाभ उठावेंगे। ट्रैक्ट के छापने में बहुत सावधानी रखी गई है फिर भी कुछ प्रवादवश त्रुटि आ गई हो तो उसको लक्ष्य मे न रखकर सार ग्रहण करेंगे ऐसी नम्र प्रार्थना है। साथ में जिन २ महानुभावो ने विविध प्रकार से इसमें तन, मन, धन तथा विद्या से सहायता दी है उन सबके हम पूर्ण आभारी हैं और आशा करते हैं कि आगामी समय पर धर्म रक्षार्थ ऐसी ही समाजको सहायता देवेंगे।

जुहारुमल मूलचन्द बम्बई,

—संयोजक का कुछ निवेदन—

* ❦❦❦ ❋ ❦❦❦ *

समस्त विद्वानों व पञ्चायतों की सेवा में निवेदन है कि बम्बई समाज के लिखने पर आप महानुभावों ने अपना समय निकाल कर ट्रैक्ट व सम्मति लिख कर भेजी है उनके हम बहुत आभारी हैं। वह ट्रैक्ट और सम्मतियां प्रायः सब छप गई है कुछ रह गई हैं क्योंकि उनकी भाषा कुछ कठोर थी अतः हम उनसे क्षमा चाहते हैं।

यद्यपि लेखों व सम्मतियो में आशयान्तर रूप कुछ हर फेर नहीं किया गया है परन्तु सम्भव है कि कुछ शब्द रूपमें हो गया होगा। यह हेर फेर करने का खास कारण लेखककी भाषा सरल करने केलिये होगा सो कोई भी सज्जन बुरा न समझेंगे। हमने जो यह कार्य किया है वह सिर्फ इन तीनो पुस्तकों को एक शास्त्र रचना ही समझ कर किया है। शास्त्रों मे कटुक आक्षेप रूप भाषा नहीं होनी चाहिये।

विशेष रूप स प्रोफे० हीरालाल जी साहब से भी सविनय निवेदन है कि अपनी शक्ति अनुसार पं० अजितकुमार जी ने लेखों की भाषा बहुत सम्भालकर छापी है फिर भी कहीं कुछ कटुक शब्द आ गया हो तो क्षमा करेंगे। हमारे भाव आपके सम्बन्ध में कुछ न्यून नहीं है।

दूसरा निवेदन करना भी बहुत आवश्यक है वह यह है कि आपके जरिये समाज में जो वातावरण गँधा हो गया है वह दिगम्बर आम्नाय के ह्रास का मुख्य कारण है सो कृपया उसे हटा लेवें। आप भी हमारी समाजके विद्वानोंमे से एक है। इस विषयमे समाजके समस्त विद्वान तथा छोटी या बड़ी व समस्त पञ्चायत आपसे असहमत हैं। समाज का कोई भी व्यक्ति आपसे सहमत नहीं है। यह अनुमान यहां आये हुये बाहर के सहस्रो पत्रों पर से है। एक पत्र भी आपकी सहमति मे नहीं आया है। तथा आपसे चर्चा भी समक्ष मे व पेपरो मे हो चुकी है। कुछ

कमी नहीं रही है। सब तरह के दृष्टांत, युक्ति आगम छानछान कर आपके व दिगम्बर जैन समाज के सामने रख दिये गये हैं इसलिये आपको धर्म के नाते अपना मन्तव्य बदल देना ही श्रेयस्कर है। जहां धर्म का अवर्णवाद होता हो वहां अपने वचनों का पक्षपात कि 'हमारी विद्वत्ता हेच होगी समाज हमें सम्मानित दृष्टि से नहीं देखेगा' यह ध्यान न रखकर अपना कर्तव्य पालन योग्य है। खोटा पक्ष छोड़ना चातुर्य्य व श्रेयस्कर विद्वत्ता है। धर्म का पक्ष लेने से समाज में आपकी कीर्ति व सम्मान बहुत ज्यादा बढ़ेगा। क्योंकि निष्पक्षपाती व्यक्तिकी बड़ाई संसार करता है। पक्षपात सब तरह से हानिकारक है।

आपने जो भगवान कुन्दकुन्द जैसे प्रमुख आचार्य के ऊपर भी अपने अनुचित वाग्बाण छोड़े यह आपको योग्य न था। मान लिया कि आप विद्वान हैं किन्तु श्री कुन्दकुन्दाचार्य के अगाध ज्ञान की तुलना में तो आपकी विद्वत्ता समुद्र में एक बून्द के समान है। प्रखरवक्ता प्रख्यात अनुभवी आध्यात्मिक विद्वान श्री कान जी ऋषि से जाकर श्री कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में कुछ ज्ञात कीजिये आपको अपनी गलती ज्ञात हो जायगी। प्रातः स्मरणीय श्री आचार्यवर कुन्दकुन्द स्वामी ने इस पञ्चमकाल में विदेह क्षेत्र में जाकर साक्षात श्री १००८ पूज्य देवाधिदेव तीनों लोक के नाथ तीर्थंकर महाराज सीमंधर स्वामी के पादमूल में बैठकर धर्म का श्रवण किया था उनके महान सैद्धांतिक ज्ञान को आप विद्वान की सहायता से धवला का सम्पादन द्वारा प्राप्त स्वल्प सैद्धांतिक बोध की तराजू से तौलने चले हैं यह आपका अति-साहस है।

भिन्न भिन्न दिगम्बर जैन आचार्य ने अपनी २ शैली से, अपनी विवक्षा से नय अनुसार पदार्थ-विवेचन किया है यदि उस पर उसी के अनुसार दृष्टि न डाली जाय तो उसका न तो रहस्य प्राप्त होता है और न जिनवाणी का अविरोधी विवेचन का पता लगता है आप जिज्ञासु बनकर उसका स्वाध्याय करें। समालोचक बनकर आप यदि उसका अध्ययन करेंगे तो आपको अपने हृदय की छाया वहां पर दीख पड़ेगी। समालोचक यदि ग्रन्थकर्ता की कोटिका हो तब तो वह समालोचना करने का पात्र भी माना जा सकता है। आपमें तथा भगवान कुन्दकुन्द में वैसी समता है या नहीं इसका विचार आप स्वयं करें।

आपने वेद वैषम्य तथा भगवती आराधना के अपवादलिंग का भाव भी अच्छी तरह न समझ कर ऐसी जल्दी दिगम्बर जैन सिद्धांत की वज्र भित्ति पर अपना कलम कुल्हाड़ा चला ही दिया मानो वह बालू की भीत है। समालोचना करने वाले को ऐसी जल्दबाजी और पूर्वापर सम्बन्ध बिना मिलाये टुट पूंजिया ज्ञान न होना चाहिये। आपने जैसी समालोचना की है ऐसी समालोचना स्वपर हानिकारक है। जो व्यक्ति भगवती आराधना का स्वाध्याय करके या गोम्मटसार आदि का स्वाध्याय करके आपके लेख को देखेगा (जिस भूलभरे लेख का आप अब तक समर्थन कर रहे हैं) वह आपके विषय में क्या समझेगा और क्या कुछ कहेगा स्वयं विचार करें।

बम्बई समाज के हम बहुत आभारी हैं उसे जितना धन्यवाद दियाजाय थोड़ा है। इस कार्य को दि० जैन धर्म रक्षणार्थ उसने निष्पक्ष रूपसे सुलटाने की कोशिश की अगर ऐसा न किया गया होता तो दि० जैन समाज में बहुत क्षोभ होता। हम यह नहीं कह सकते कि यहां की समाज नहीं करती

तो और कोई नहीं करता परन्तु सबसे प्रथम यह सौभाग्य स्थानीय समाज को प्राप्त हुआ है और उसको अपना कर्तव्य समझ कर उसने बहुत शान्ति सरलता एवं उत्साह से किया है वह सब समाज को मालूम ही है।

इस कार्य में खर्च की तरफ नहीं देखा गया है तन, मन, धन से इस को निभाया है। इस कार्य को सुलटाने केलिये एक मीटिंग करना जरूरी समझा कि समाज के १५ व २० बड़े से बड़े विद्वानो को बम्बई, इन्दौर या आचार्य १०८ श्री पूज्य चारित्र चक्रवर्ति शान्ति सागर जी महाराज के समक्ष मे प्रोफेसर हीरा लाल जी के साथ लिखित चर्चा कराई जाय इसके लिये प्रोफेसर साहबसे तथा अन्य विद्वानों से पत्र व्यवहार हुए पर कोई सफलता न मिली तब कलकत्ता वीर शासन जयन्ती महोत्सव में जहां सर सेठ हुकम चन्द जी साहब व अन्य बड़े बड़े विद्वान् और खुद प्रोफेसर साहब भी उपस्थित होने वाले थे वहां समक्ष में किसी तरह यह विवाद मिट जाय ऐसा समझ कर यहां की समाज ने श्रीमान् पं० राम प्रसाद जी को कलकत्ते भेजा। वहां पर प्रोफेसर जी के साथ दो रोज विद्वानो की चर्चा चलने पर भी कुछ नहीं हुआ। फिर प्रोफेसर साहब इस जगह आये तब भी कुछ चर्चा चली पर कुछ सार नहीं निकला। इसके अलावा पेपरो में भी बहुत चर्चा चली पर कुछ सार नहीं निकला तब यहां की समाज ने चुप होकर शान्ति ली कि अपना कार्य तो ट्रैक्ट निकालने का है उसे पूर्ण करना चाहिये उसी के अनुसार यह तीन ट्रैक प्रकाशित किये गये हैं।

इसके सिवाय 'संजद' शब्द के विषय में विचार करने के लिये पौषवदी १ से पौषवदी ५ तक होनेवाले वार्षिक महोत्सव पर बाहर से विद्वानों को बुलाने का निश्चय किया तदनुसार श्री पं० कैलाशचंद्रजी सिद्धांत शास्त्री बनारस, श्री० पं० फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री बनारस, श्री० पं० वंशीधर जी सिद्धान्त शास्त्री इन्दौर व श्री० पं० मक्खनलाल जी मुरेना यहां पर पधारे (तथा श्रीमान् पं० श्रीलाल जी साहब पाटनी सिद्धान्त शास्त्री अलीगढ़ और श्रीमान पं० माणिक चन्द्र जी साहब सिद्धान्त शास्त्री सहारनपुर यह विद्वान् कारणवश न आ सके) सौभाग्यवश श्रीमान् पं० वर्द्धमान जी साहब शास्त्री भी आगये थे और श्रीमान् सेठ तनसुखलाल जी काला भी नांद गांव से बुलाये गये, स्थानीय श्रीमान् पं० रामप्रसाद जी साहब सिद्धान्त शास्त्री, श्रीमान् पं० उल्फतराय जी साहब भिण्ड निवासी थे (श्रीमान् पं० उल्फतराय जी साहब रोहतक बुलाने पर कई कारण से नहीं आसके) विद्वानों के सिवाय श्री १०५ क्षुल्लक सूरि सिंह जी महाराज भी प्रार्थना करके बुलाये गये थे।

उपरोक्त विद्वान् ५ दिन तक बराबर दोपहर व रात्रि को ३, ३ घण्टे बैठ कर बहुत शान्ति और उत्साह से विचार करते रहे (श्रीमान् प० खूबच द्र जी साहब सिद्धान्त शास्त्री ने इस जगह उपस्थित होते हुए भी इस चर्चा मे भाग लेने को असमर्थता बतलाई) कुछ निर्णय नहीं होने पर भविष्य मे इसी मीटिंग की चर्चा आचार्य श्री १०८ शान्ति सागर जी के समक्ष में रख कर आखिरी इसका निर्णय करा लिया जाय इस विषय में यह निश्चय किया गया कि जो उनका आदेश होगा वह सब को सहर्ष मान्य होगा ऐसा विचार किया गया है, जिसका निर्णय कुछ दिनो मे समाज के सामने आ जायगा।

यह काम बिलकुल पक्षपात रहित यहां की पंचायत कर रही है। उदाहरण सामने है कि 'संजद' शब्द के मानने वाले और न मानने वाले दोनों पक्ष के विद्वानों को बड़ी प्रेरणा से बाहर से बुलाया गया। पक्षपात होता तो संजद शब्द के मानने वाले ही — विद्वानों को बुलाकर एक — पक्षी ही निर्णय कर लेते पर यह भावना नहीं (ऐसी भावना धर्म कार्य में हानि—कारक होती है) भावना धर्म रक्षार्थ ही है। इस कार्य में कई विद्वानों ने अपना समय भी नहीं दिया और इस विषय में पत्र व्यवहार का उत्तर तक नहीं दिया परन्तु ऐसे विद्वान एक दो हैं। हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि समाज के कार्य के लिये समाज व धर्म रक्षार्थ अपना समय देकर हर जगह से आये हुए कार्य को सरलता से निपटाना चाहिये। समाज ने आप लोगों के विद्याध्ययन में कितना द्रव्य खर्च किया है उसका तो कम से कम गौरव रखना चाहिये। पैसे वाले पैसे से मदद करते हैं, विद्वान लोगों को अपनी विद्वत्ता से धर्म कार्य में अपना योग देकर कार्य करना चाहिये भविष्य में समय बहुत खराब आ रहा है इसलिये एक रूप होकर कार्य करना श्रेयस्कर है।

अन्त में हम यह भी कहना ठीक समझते हैं कि गलती होना सबसे स्वाभाविक है गलती रहित तो एक सर्वज्ञदेव ही हैं और सबसे गलती हो सकती है। इस कार्य में हमारी तरफ से जो कुछ गलती हुई हो उसको क्षमा करके गलती को सुधारने की चेष्टा करें। यदि धर्म रक्षार्थ किसी समय यहा की पंचायत से कोई कार्य निकालना हो तो प्रत्येक समय वह तन मन धनसे करने को तैयार रहेगी। वार्षिक महोत्सव पर बाहर से पधारे हुए विद्वानो के जरिये एक पंथ दो काज वाली कहावत हुई। चर्चा चली उसके साथ २ शास्त्र प्रवचन भी हुआ था इससे बहुत लाभ पहुंचा अतएव हम उन सब महानुभावों के बहुत आभारी हैं और श्री १०५ क्षुल्लक सूरसिंह जी महाराज के बहुत आभारी हैं कि जिन्होंने बड़ी विद्वत्ता से ५ दिन तक अपने सभापतित्व में यह तत्व विचार धारा बड़े प्रेम व आदर भाव से चलाई और समय २ पर इस कार्य में पूरा पूरा परिश्रम करके सहयोग दिया है। आप त्यागी तो हैं ही पर सिद्धान्त वेत्ता भी ऊंचे दर्जे के हैं यह बड़े सौभाग्य की बात है।

इस चर्चा में सेठ सुन्दर लाल जी भूझ व सेठ चांद मल जी साहब वक्षी व सेठ परमेष्ठी दास जी साहब भी बहुत उत्साह व धर्म रक्षार्थ श्रद्धा रख कर समय २ पर बैठकर सहयोग देते थे एवं इस चर्चा में बहुत से स्त्री पुरुष बैठ कर धर्म चर्चा सुनते थे वह उनकी धर्म तत्परता सराहनीय है। यह चर्चा बहुत सरल सुन्दर आदरणीय प्रेम भाव से निर्विघ्न समाप्त हुई।

स्थानीय सब सज्जनों ने इस कार्य को एक-चित्त होकर पूर्ण रूप से सब सहमत होकर शुरू से लेकर अन्त तक निर्विघ्न निभाया है हम उन सबके आ— भारी हैं और आशा रखते हैं कि ऐसा उत्साह भविष्य में भी धर्मरक्षार्थ कायम रखेंगे और बाहर के समस्त सज्जनों से भी प्रार्थना है कि इस कार्य में जैसा आप महानुभावों ने हमको सहयोग दिया है वैसा भविष्य में भी देवेंगे।

विशेष बात यह है कि इस कार्य में सहयोग के निमित्त सहस्रों पत्र आये हैं व्यक्ति गत हम उन सब के पूर्ण आभारी हैं। 'सञ्जद' शब्द के विषय में विद्वानों में परस्पर मतभेद अवश्य है किन्तु प्रोफेसर

साहय के पक्ष में कोई नहीं है। प्रोफेसर साहब के मंतव्यो के विरोध मे समस्त समाज है। एक व्यक्ति भी इनके पक्ष का समर्थन नहीं करता। सञ्जद शब्द पर जो चर्चा चल रही है उस पर कुछ ही दिनों में निश्चय रूप से आचार्य श्री १०८ शान्ति सागर जी महाराज अपना आदेश देंगे। वह सब समाज को मान्य होगा। और मुझे आशा है कि प्रोफेसर साहब बहुत शीघ्र अपने विचारों में परिवर्तन करके फैले हुये अशान्त वातावरणको शान्त करेंगे।

निरञ्जनलाल जैन बम्बई,

—: मुद्रकीय वक्तव्य :—

श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी के समाधानार्थ बम्बई दिगम्बर जैन पचायत ने जो प्रशंसनीय यत्न किया उसके फल स्वरूप यह तीसरा अश आपके सामने प्रस्तुत है। इसके समाप्त करने में आशातीत विलम्ब हुआ इसमे अनेक कारण हुये।

१—पेपर ऐकोनेमी ऐक्ट के अनुसार इस तीसरे अंश के प्रकाशन की अनुमति प्रांतीय कन्ट्रोल अफसर से प्राप्त करने मे प्राय: ५ मास का समय लग गया।

२—कम्पोजीटर यथेष्ट संख्यामें प्राप्त न हो सके।

३-प्रेस कर्मचारियों का तथा अपना स्वास्थ्य समय २ पर ठीक न रहा। इत्यादि अनेक कारणवश इतनी देरी हुई।

इस अंशमें भी अनेक लेख ऐसे थे जो प्रेस कापी के सर्वथा अयोग्य थे उनकी भाषा, शब्द विन्यास, भाव शैली अस्त व्यस्त थी, अक्षर सुवाच्य न थे उसके सुधारने में पर्याप्त श्रम करना पड़ा फिर भी यत्र तत्र कुछ त्रुटि रह गई हो तो उसे पाठक महानुभाव स्वयं सुधार लें।

टाईप कलकतिया तथा कुछ पुराना होने के कारण कहीं कहीं पर मात्रा, रेफ आदि स्पष्ट नहीं छप सके हैं इस त्रुटियो पर भी पाठक ध्यान न दें। वैसे पुस्तक छापने में अपनी ओर से पूर्ण सावधानी रखी गई है किन्तु पूर्वोक्त कठिनाइयों एवं अपनी परिमित शक्तिके कारण अनेक त्रुटियो का रह जाना सम्भव है तदर्थ नम्रतापूर्वक क्षमा याचना है।

निवेदक—

अजितकुमार जैन शास्त्री
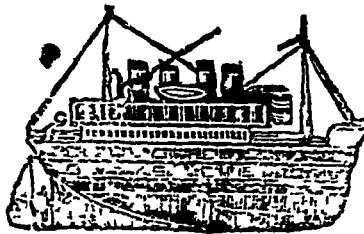
अनेकनरेंद्रगणवंदित कविकलाधुरीण षड्भाषा कोविद व्याख्यानकलाकुशल
संस्कृतचत्वारिंशद्ग्रंथनिर्माता परमपूज्य विश्ववंद्य चारित्रचूडामणि

पूज्य श्री १०८ आचार्य कुन्थुसागरजी महाराज.

पूज्यश्रीका लेख द्वितीय भागमें है।

सम्मति या ट्रैक्ट भेजने वाले पूज्य संयमियों की
* नामावली *

(१) श्री १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज कुन्थलगिरि।
(२) श्री १०८ आचार्य श्री कुन्थुसागर जी महाराज
(३) श्री १०८ आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज
(४) श्री १०८ श्री आदिसागर जी मुनि महाराज।
(५) श्री १०८ श्री सुमतिसागर जी मुनि महाराज
(६) श्री १०८ श्री सन्मतिसागर जी मुनि महाराज
(७) श्री १०८ श्री आर्यिका धर्मवती जी।
(८) श्री १०८ श्री आर्यिका जी महाराज मोडनिंव
(९) श्री १०५ श्री ऐलक जी कुलभूषण जी महाराज निमशिरगांव।
(१०) श्री १०५ श्री ऐलक जी देशभूषण जी महाराज निमशिरगांव।
(११) श्री १०५ श्री सूरिसिंह जी महाराज क्षुल्लक
(१२) श्री १०५ श्री चारित्र रत्न भूषण स्वरूपचन्द जी महाराज।
(१३) श्री १०५ श्री अशर्फीलाल जी महाराज।
(१४) श्री १०५ श्री धर्मसागर जी महाराज।
(१५) श्री देवेन्द्र कीर्ति जी महाराज भट्टारक।
(१६) श्री ब्रह्मचारी अभिनन्दन जी महाराज बूंदी।
(१७) श्री ब्रह्मचारी मोतीलाल जी महाराज।
(१८) श्री ब्रह्मचारी कानूलाल जी महाराज।
(१९) श्री ब्रह्मचारी सुन्दरलाल जी महाराज।
(२०) श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी।
(२१) श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी पण्डिताचार्य वर्य मूडबिद्री।
(२२) श्री ब्रह्मचारी आदप्पा जी मूडबिद्री।
(२३) श्री ब्रह्मचारी परवार भूषण फतेचन्द जी नागपुर मूडबिद्री।
(२४) श्री ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई जी आरा।
(२५) श्री १०८ मुनि विजयसागर जी महाराज।
(२६) श्री १०८ मुनि विमलसागर जी महाराज।
(२७) श्री ब्रह्मचारी मनोहरलाल जी।

उपरोक्त त्यागी महानुभावों ने स्थानीय समाज के निवेदन पर ध्यान देकर जो ट्रैक्ट, सम्मतियां भेज कर हमको कृतार्थ किया है इसके लिये आपके बहुत आभारी हैं तथा हार्दिक कोटिशः धन्यवाद देते हैं।

निरञ्जनलाल जैन खुरजावाला, बम्बई।

प्रोफेसर हीरालाल जी के मन्तव्यों का निराकरण करने के लिये
—निम्न लिखित विद्वानों के ट्रैक्ट आये—

(६) श्रीयुत पं० राजेन्द्रकुमार जी मन्त्री शास्त्रार्थ सङ्घ मथुरा।

(७) ,, ,, फूलचन्द्रजी सिद्धांत शास्त्री बनारस

(८) ,, ,, रणजीतप्रसाद जी जैन कविराज भिषगाचार्य धन्वन्तरि मन्त्री जैन दि० जैन सभा कोडयागज।

(९) ,, ,, चम्पालाल जी नरसिंगपुरा।

(१०) ,, ,, कैलाशचन्द्र जी बनारस।

(११) ,, ,, दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य वीर सेवा मन्दिर सरसावा

(१२) ,, ,, लालाराम जी मैनपुरी।

(१३) ,, ,, शांतिराज जी मैसूर।

(१४) ,, ,, परमानन्द जी शास्त्री वीर सेवा मन्दिर सरसावा।

(१५) ,, ,, जुगलकिशोर जी मुख्त्यार सरसावा वीर सेवा मन्दिर।

(१६) ,, ,, अमोलकचन्द जी उड़ेसरीय इंदौर

(१७) ,, ,, श्यामलाल जी जैन शास्त्री ललितपुर।

(१८) ,, ,, कड़ोरीलाल जी केशली।

(१९) ,, ,, कुमारैया जी शास्त्री।

(२०) ,, ,, जीवन्धरकुमार जी शास्त्री इंदौर

(२१) ,, ,, चैनसुखदास जी जयपुर।

(२२) ,, ,, सुरेन्द्रकुमार जी जैन न्याय सिद्धांत साहित्य शास्त्री न्यायतीर्थ आयुर्वेदाचार्य वैद्य भानपुरा।

(२३) ,, ,, हरीशचन्द्र जी जैन गिरीडी।

(२४) ,, ,, विद्यानन्द जी शर्मा गणेशपुर।

(२५) ,, ,, दयाचन्द जी शास्त्री बीना।

(२६) ,, ,, धर्मदास जी जैन शास्त्री बीना।

(२७) श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमार जी विशारद जारखी।

(२८) ,, ,, मोहनलाल जी पनागर।

(२९) ,, ,, बाबूलाल जी सौंधिया पनागर।

(३०) ,, ,, शांतिलाल जी अमरावती।

(३१) ,, ,, गोपालदास जी व्याकरणाचार्य।

(३२) ,, ,, पन्नालाल जी परवार।

(३३) ,, ,, माणिकचन्द जी परवार।

(३४) ,, ,, सिद्धसागर जी जैन वैद्य ललितपुर आल इण्डिया जैन सोसायटी।

(३५) ,, ,, मन्नूलाल जी अध्यापक जैन पाठशाला ककरवाहा।

(३६) ,, ,, माणिकचन्द जी वैद्य ककरवाहा।

(३७) ,, ,, देवेन्द्र जी शर्मा अध्यापक जैन पाठशाला पीठ।

(३८) ,, ,, गेंदालाल जी जैन राजमहल।

(३९) ,, ,, वीरेन्द्रकुमार जी छतरपुर।

(४०) ,, ,, भुवनेंद्रकुमार जी जैन शास्त्री दि० जैन वीर विद्यालय सोनागिर

(४१) ,, ,, वर्धमान जी शास्त्री सोलापुर।

(४२) ,, ,, खूबचन्द जी शास्त्री इंदौर।

(४३) ,, ,, कुन्दनलाल जी अध्यापक दि० जैन पाठशाला छपिया।

(४४) ,, ,, निहालचन्द जी अध्यापक दि० जैन पाठशाला बांसवाड़ा।

(४५) ,, ,, साकलचन्द रामचन्द जी देवल।

(४६) ,, ,, इंद्रलाल जी वैद्य चित्तौड़गढ़।

(४७) ,, ,, श्यामलाल जी जैन शास्त्री न्याय काव्य तीर्थ ललितपुर।

(४८) ,, ,, राजकुमार जी प्रधान अध्यापक महा० दि० जैन पाठशाला बबीना

(४६) श्रीयुत पं० बाबूलाल जी जैन विशारद संस्थापक जैन सेवक मण्डल तिस्सा।

(५०) ,, ,, क्षेमेन्द्र जी शास्त्री न्यायतीर्थ रानापुर।

(५१) ,, ,, चुन्नीलाल जी वैद्य बांदा।

(५२) ,, ,, नागराज जी शास्त्री न्यायतीर्थ मूडबद्री।

(५३) ,, ,, नेमिराज श्रेष्ठि मूडबद्री।

(५४) ,, ,, नानूलाल जी शास्त्री जयपुर।

(५५) ,, ,, नाथूलाल जी जैन साहित्यरत्न सहिता सूरि साहित्य धर्म शास्त्री इंदौर।

(५६) ,, ,, रामप्रसाद जी जैन शास्त्री लाडनू

(५७) ,, ,, नेमिचन्द्र जी जैन शास्त्री अध्यक्ष जैन सिद्धांत भवन, आरा।

(५८) श्रीमती विदुषी चंदाबाई जी आरा।

(५९) श्रीमान पं० न्यायज्योतिषतीर्थ नेमिचन्द्र जी आरा।

(६०) ,, ,, शांतिराज जी शास्त्री नागपुर।

(६१) ,, ,, बालमुकन्द जी मोरेना।

(६२) ,, ,, मल्लिनाथ जी शास्त्री न्यायतीर्थ मोरेना।

(६३) ,, ,, सुमतिचन्द जी शास्त्री मोरेना।

(६४) ,, ,, कुञ्जीलाल जी शास्त्री न्याय काव्य तीर्थ मोरेना।

(६५) ,, ,, नाथूलाल जी शास्त्री काव्य रत्न मोरेना।

(६६) ,, ,, कविराज अजितवीर्य जी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य मुरेना।

(६७) ,, ,, कन्हैयालाल जी व्याकरणाचार्य।

(६८) ,, ,, नन्हेलाल जी शास्त्री।

(६९) ,, ,, शान्तिलाल जी साहित्य शास्त्री।

(७०) ,, ,, मोतीलाल जी न्यायतीर्थ।

(७१) ,, सेठ पोखीलाल जी बम्बई।

(७२) ,, पं० नन्हेलाल जी कुचामन।

(७३) ,, सेठ प्रसादीलाल स्टेशन मास्टर।

(७४) ,, जैन पञ्चायत हटा।

(७५) ,, पं० भुवनेन्द्रप्रसाद जी।

(७६) ,, ,, धरणीन्द्र जी सोलापुर।

(७७) ,, ,, नेमिदास जी सोलापुर।

(७८) ,, , श्री दि० पंचायत फीरोजाबाद

(७९) ,, ,, शिखरचन्द जी शास्त्री।

(८०) ,, पञ्चायत ठकुरई।

(८१) ,, सरसावा पञ्चायत।

(८२) ,, तिलकपुर पञ्चायत।

(८३) ,, रतलाम पञ्चायत।

(८४) ,, खांदू पञ्चायत।

(८५) ,, रिड पञ्चायत।

(८६) ,, पार्वतीबाई हैड अध्यापिका-लालचन्द जैन कन्या पाठशाला टीकरी।

(८७) ,, सकीट पञ्चायत।

(८८) ,, पाली पञ्चायत।

(८९) ,, रानापुर पञ्चायत।

(९०) ,, जावद पञ्चायत।

(९१) ,, कोड़यागञ्ज पञ्चायत।

(९२) ,, धोद पञ्चायत।

(९३) ,, पं० रामप्रसाद जी शास्त्री।

(९४) ,, ,, चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ।

(९५) ,, ,, कमलकुमार जी शास्त्री।

(९६) ,, ,, रामसहाय जी शास्त्री।

चारित्रवीरत्वाब्धि वीरचर्याचतुर वक्तृत्वकलाकीर्तितकीर्ति भव्यसत्वहितंकर
समताक्षमुचित स्वरसलमास्वादी तपोनिधि
श्री १०८ पूज्य मुनिराज वीरसागरजी महाराज.

(K. P. S.)

(९७) श्री पं० दयाचन्द जी न्यायतीर्थ।
(९८) ,, ,, श्रुतसागर जी तीर्थत्रय।
(९९) ,, ,, पन्नालाल जी साहित्याचार्य।
(१००) ,, ,, माणिकचन्द जी न्यायतीर्थ सागर।
(१०१) ,, ,, रामलाल जी वैद्य शास्त्री अलीगढ़।
(१०२) ,, ,, श्रीपाल जी उपदेशक अलीगढ़।
(१०३) ,, ,, इन्द्रमणि जी वैद्य अलीगढ़।
(१०४) ,, ,, दुर्गाप्रसाद जी अलीगढ़।
(१०५) ,, ,, चम्पालाल जी विशारद, शीतलनाथ दि० जैन पाठशाला खांदू (बांसवाड़ा)
(१०६) ,, ,, सतीशचंद्र जैन न्यायतीर्थ आयुर्वेदाचार्य सकीट (मेरठ)।
(१०७) श्री पं० जिनेश्वरदास जी जैन धर्म भूषण वैद्य शास्त्री सरधना।
(१०८) ,, ,, प्यारेलाल जी विलसी।
(१०९) ,, ,, प्रसन्नकुमार जी शास्त्री पाली।

हम उपरोक्त विद्वन्मण्डलीके बहुत आभारी हैं और भूरि भूरि प्रशंसा करते हुये हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि आप लोगों ने अपना २ समय निकालकर जो धर्म रक्षार्थ सम्मतियां भेजी हैं यह समाज के व धर्म के वास्ते बहुत ही उपयोगी कार्य है और आशा है भविष्य में भी कभी ऐसी विकिट परस्थिति उपस्थित होने पर हर तरह से सहयोग देंगे।

—श्रीमानों द्वारा आई हुई सम्मतियां—

(१) रावराजा राज्यरत्न रायबहादुर सर सेठ हुकमचन्द्र जी, इन्दौर।
(२) राय बहादुर सर सेठ भागचद्र जी सोनी ओ० बी० ई० लैफ्टीनैंट करनल अजमेर।
(३) श्री सेठ रायसाहब मोतीलाल जी रानीवाले ब्यावर।
(४) श्री लाला प्रद्युम्नकुमार जी रईस सहारनपुर
(५) श्री सेठ पूनमचंद घासीलाल जी सङ्घपति बम्बई।

❋ प्रथम द्वितीय अंककी लेखसूची ❋

इससे पूर्व छपे हुए दो ट्रेक्टों के विषयों की सूची भी सब भाइयों की जानकारी के लिये यहां देते हैं जिस से पहिले विषय का भी पूर्ण ध्यान रहे।

ट्रेक्ट नं० १

इसमें श्रीमान पं० मक्खन लाल जी शास्त्री मुरेना वालों का ही लेख है।

दूसरे ट्रेक्ट में निम्न लिखित विषय हैं।

—द्वितीय अंश की लेख सूची—

—: इस तृतीय अंश की विषय सूची :—

(द्वितीयांश में १३ लेख प्रकाशित हुए हैं तदनुसार इस अंश में लेखांक उससे आगे १४ आदि लगाये गये हैं। प्रमाद वश कुछ लेखोंपर अंक अंकित न हो सके अत एव अंक अंकित संख्या अशुद्ध हो गई हैं)

* श्रीमान सर सेठ भागचन्द्र जी सोनी, ओ० बी० ई० अजमेर की सम्मति *

श्री दिगम्बर जैन पञ्चान मुम्बई के द्वारा प्रकाशित "दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण" के दो अंशों को देखने का अवसर मुझे मिला। श्री० प्रोफेसर हीरालाल जी साहब अमरावती वालो ने श्री षटखण्डागम–धवला टीका के आधार से यह सिद्ध करने की जो विफल चेष्टा की है कि—

१–स्त्री पर्याय से मुक्ति हो सकती है। २–सवस्त्र मुक्त हो सकते हैं। ३–केवली कवलाहारी होते हैं।

ये तीनो ही सिद्धांत दिगम्बरत्व के विरुद्ध है। पूर्व मे श्री प्रभाचन्द्र आचार्य जैसे तार्किक शिरोमणि विद्वानो द्वारा ये तीनों ही सिद्धात तर्क की कसौटी पर कस गये हैं और फलतः उनसे पूर्व के आचार्यों का अभिप्राय साधन करते हुये उक्त आचार्य ने तो इसे इतना कहा है कि परीक्षा मे उक्त तीनो ही विषय असम्भव ही सिद्ध हुये। उक्त दोनों ही अंशोंमे विद्वानो ने आगम और युक्तियों द्वारा इनका खण्डन किया है जो कि दिगम्बरत्व की रक्षा के लिये अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

पूज्य श्री १०८

मुनिवर वीरसागर जी महाराज

के संकेत अनुसार

पण्डित छोटेलाल जी बरैया

* श्री *

साहित्य भवन, जीवाजीगंज,
उज्जैन

सेवा में,

श्रीमान् धर्मपरायण सकल दिगम्बर जैन पंचायत,
भूलेश्वर बम्बई
यथायोग्य जुहारु !

परंच,

आपका एक मुद्रित पत्र श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी सा० के द्वारा उठाई गई शंकाओं को लेकर मिला, जो परम पूज्य श्री १०८ वीरसागर जी महाराज के संघ में भेजा था, उसे आद्योपान्त पढ़ा, पढ़कर महान दुःख हुआ कि प्रोफेसर साहब जैसे महान उद्भट विद्वान जिन्होंके द्वारा धवलादि जैसे महान जैन ग्रन्थों का सम्पादन होना और उन्हीं ग्रंथों का आश्रय लेकर स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवली के भूख-प्यास की बाधा का होना, जैसे निराधार प्रकरण खड़े हुए हैं। इस लिये हम उक्त पंचायत की विशेष प्रेरणानुसार परम पूज्य मुनि वीरसागर जी महाराज की पूर्ण विचारधारानुसार उक्त तीनों विषयों पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हैं। आशा है कि प्रोफेसर जी साहब को अवश्य ही सन्तोष होगा।

सबसे प्रथम हम उस पर्चेके प्रथम विषय जो कि स्त्रीमुक्ति का आश्रय लेकर उन्हों ने षट्खण्डागम के पहले खण्ड सत्प्ररूपणा के ९३ वे नम्बर के सूत्र का आश्रय लेकर "स्त्रीमुक्ति" सिद्ध करने का प्रयास किया है उसीपर प्रकाश डालते हैं और प्रोफैसर सा० से निवेदन करेंगे कि वे उस सूत्र को एक बार पुनः देखने का कष्ट उठावे ऐसा हमारा निवेदन है। यथा,

"अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धये-दितिचेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः'

इस सूत्र टीका से स्त्रीमुक्ति और सवस्त्र—मुक्ति दोनोंका परिहार होता है, न कि स्त्रीमुक्ति सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त सत्प्ररूपणा के द्वितीयखण्ड के पृष्ठ नम्बर ५२२ पर देखें,—

"इत्थिवेद-णवुंसयवेदाणमुदए आहारदुगं मणपज्जवणाणं परिहारविसुद्धिसंजमो च णत्थि"

इससे भी सिद्ध होता है कि जब मनुष्यनियों में परिहार विशुद्धि और मनपर्यय ज्ञान भी नहीं होता है तब केवलज्ञान और मुक्ति किस प्रकार हो सकेगी ? क्या प्रोफेसर साहिब विचार करेंगे।

इसके अतिरिक्त श्रीवामदेवसूरि विरचित भावसंग्रह श्लोक नम्बर २४० से २५१ तक स्त्रीमुक्ति का कितना सुन्दर निराकरण किया है वहां से देखें। इतना ही नहीं देवसेन स्वामी विरचित भावसंग्रह में

भी गाथा नम्बर ८५ से १६० तक जोरदार प्रमाण भरे हैं वहां से देखें।

इसी प्रकार पर्चे में जो द्रव्यप्ररूपणा का इशारा किया है वह भी बिल्कुल भूल-भरा है उसमें मनुष्य-नियों की संख्या सासादनादिक गुणस्थानो के द्वारा बतलाई है उसमे जो आदि शब्द आया है उससे शायद प्रोफेसर साहब चौदहवां गुणस्थान ग्रहण कर रहे हैं और उसमें वे स्त्रियों को भी घसीट रहे हैं यह कहां तक उचित है। इसी प्रकार नम्बर १२४ में स्त्रीद्रव्यवेदी देवियों की गणना बतलाई है, इससे स्त्री मुक्ति कतई सिद्ध नहीं होती है। इत्यादिक जितनेभी नम्बर हैं वे सब भूल-भरे हैं उनसे स्त्री-मुक्ति सिद्ध नहीं होती है। इस लिये प्रोफेसर साहब ने जो भी प्ररूपणाओं के नम्बर दिये हैं उन पर व्यर्थ लिखना उचित न समझ कर छोड़ दिये हैं, अगर वे उनका खुलासा चाहें तो प्रत्यक्ष मे बैठें उनका उचित उत्तर देने को तैयार हैं।

इसके अतिरिक्त राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र ४७में निर्ग्रन्थ विशेषण क्यों ? और "द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिंगेन सिद्धिः" और सर्वार्थ सिद्धिमें "द्रव्यतः पुल्लिंगेन एव" व्याख्या क्यों है क्या इसका प्रोफेसरसाहब उत्तर देवेंगे ?

प्रोफेसर साहब जी ! दिगम्बर सम्प्रदाय का सर्व साहित्य स्त्रीमुक्ति का विरोधी ही मिलेगा, और साथ में श्वेताम्बर साहित्यभी स्त्री मुक्ति का नितांत विरोधी है देखिये—

अरहंत चक्कि केसव बल संभिन्नचारणे पुव्वा।
गणधरपुलायआहारगंच न हु भवियमहिलाणं" ५२०
प्रवचनसारोद्धार तीसरा भाग पृ० ५४४-४५

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्री अर्हंत, आदि दस लब्धियों का श्वेताम्बर सूत्रसे भी प्राप्ति नहीं कर सकती तो फिर दिगम्बर सम्प्रदाय में मुक्ति किस प्रकार से होती है ? इस पर विचार करेंगे।

वज्रवृषभनाराचसंहनन के विना मुक्ति प्राप्ति नहीं होती है इस बातको दोनो सम्प्रदाय निर्विरोध स्वीकार करते हैं और स्त्रीको श्वेताम्बरी सूत्रके अनुसार वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता है, प्रकरणरत्नाकर के चौथे भाग के संग्रहणी सूत्र नामक ग्रन्थ की २३६ वीं गाथा को देखो—

इतना ही नहीं बल्कि प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ के चौथे भाग संग्रहणी सूत्र के ७५ वें पृष्ठ गाथा नबर १६० वीं में तो यहांतक लिखा है कि स्त्रियां अहिमिंद्र (नौ ग्रीवक तथा पांच अनुत्तर) विमानोंमें उत्पन्न नही होतीं।

इससे स्पष्ट पता चलता है कि स्त्रियोंके वज्रवृषभनाराच संहनन नहींहै और विना वज्रवृषभनाराच-संहननके मोक्ष भी नहीं मिलती है।

उपर्युक्त प्रमाणसे यहभी भलीभान्ति सिद्ध होता है कि स्त्रियां १२ स्वर्ग (दिगम्बर सम्प्रदायानुसार १६ स्वर्गसे)आगे उत्पन्न होने लायक तपश्चर्या भी नहीं कर सकती हैं। फिर स्त्रीमुक्ति कैसी ?

इत्यादिक स्त्रीमुक्ति विरोधी साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय में बहुत बड़ी तादादमें भरा पड़ा है, उसे हम विस्तार भय से नहीं लिख रहे हैं आशा है कि प्रोफेसर साहब को इतने ही से अवश्य सन्तोष होगा।

संयमी और वस्त्रत्याग

श्वेताम्बरीय मान्यतानुसार वस्त्ररहित ही मुनियो का उत्कृष्ट मार्ग बतलाया है और अपवादरूप में वस्त्र ग्रहण किया है किन्तु वस्त्र सहित उन्हों ने भी मोक्ष

नहीं मानी है, नहीं तो वे आचाराङ्ग सूत्र के आठवें अध्याय के सातवें उद्देश्य के ४३४ वें सूत्रमें १२६ पृ० पर इस प्रकार उल्लेख क्यों करते हैं ?

"अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसन्ती, सीय फासा फुसंती, तेउफासा फुसंती, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासा अहियासेति अचेले लाघवीयं आगमपमाणे। तवेसे अभिसन्नागए भवति" इत्यादि ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर सूत्र भी कपड़ों को परिग्रह ही मानता है वस्त्र न रखने से मानसिक भावनाएं कितनी पवित्र हो जाती हैं। इस पर आचारांग सूत्र के छठे अध्याय के ३६० वे सूत्र पृ० ६७ में इस प्रकार लिखा है।

"जे अचेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्सणोएवं भवइ-परिजिण्णे मे वत्थे, वत्थेजाइस्सामि, सुत्तेजाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि, पाउणिस्सामि" ३६०

आचारांग सूत्रकार स्वयं श्वेताम्बराचार्य हैं उन्हों ने वस्त्र रखने के सम्बन्ध मे आपने कितने श्रेष्ठ अनुभव व्यक्त किये हैं। इससे स्पष्ट पता चलता है कि श्वेताम्बरीय सिद्धात से भी सवस्त्र मुक्ति सिद्ध नहीं होती है।

तत्वार्थाधिगम भाष्य के नवम अध्याय के ६ वें सूत्र में जो बाईस परीषह बतलाई है, उसमें एक "नग्न परीषह" भी है उसमें क्या वस्त्र ग्रहण किया है ?

इसी अध्याय के ४८ वें सूत्र में पुलाक, वकुश, आदि मुनियों का स्वरूप वर्णन करते हुये "निर्ग्रन्थ" शब्द का प्रयोग किया है क्या उसमे कहीं वस्त्र ग्रहण किया है ? कदापि नहीं इससे स्पष्ट पता चलता है कि श्वेताम्बर सिद्धान्त भी वस्त्ररहित मोक्ष मानता है।

पर्चे में जो भगवती आराधना की ७६ व ८३ नम्बर की गाथा का वर्णन किया है वह ठीक है प्रो० साहब स्वयं अपवादमार्ग स्वीकार कर रहे हैं किन्तु यह वेश गृहस्थ के लिये लिखा है, साधु के लिये तो नहीं बतलाया ।

"सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में वस्त्र त्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता" लिखनाभी गलत है उक्त ग्रन्थों में खुले शब्दोंमें वस्त्र रहित को ही मुक्ति मानी है, कृपया एक बार पुनः उक्त ग्रन्थों को देखने की कृपा करें।

वामदेव स्वामी विरचित भावसंग्रह पृष्ठ १७४ श्लोक नम्बर २५२ से २८५ तक पढ़लेवे अपने आप आपकी शंका निर्मूल होजायेगी। आप जैसे विद्वानों को संक्षिप्त प्रमाण भी पर्याप्त होंगे। विशेष की आवश्यकता पड़ेगी तो वे भी उपस्थित किये जा सकेंगे।

दिगम्बर सम्प्रदाय ने कही भी विधेयरूपमें द्वारा वस्त्र स्वीकार नहीं किये हैं और श्वेताम्बर ग्रन्थ भी वस्त्र रहित ही उत्तम मुनि मानते हैं ऐसी अवस्था में प्रोफेसर सा० के लिखने में आगम प्रमाण नहीं है। आशा है कि इस पर वे पुनः विचार करेंगे।

केवली के भूख प्यास की वेदना

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य ने ही भूख प्यास का निषेध नहीं किया बल्कि दिगम्बर सम्प्रदाय के सम्पूर्ण आचार्यों ने एक स्वर से उपर्युक्त विषय का विरोध ही किया है। राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि के प्रणेताओं ने जो हेतु मोहनीय के अभाव में वेदनीय का जर्जरित होना कहा, वह प्रामाणिक है, उसका विरोध आपको सहेतु उपस्थित करना चाहिये उस पर विचार किया जायगा।

आपने ९ वें अध्याय के ८ वे, व १७ वें सूत्र को सामने रखा है किंतु एकबार फिरसे आपको उक्त सूत्रों की टीकाओं को देखने की कृपा करनी चाहिये। जो १४ वें गुणस्थान तक वेदनीय का उदय माना है वह ठीक है परन्तु यह भी तो आप बतलाने की कृपा करें कि वेदनीयकर्म में फल देने की शक्ति किस निमित्त से पैदा होती है। कर्म सिद्धान्त द्वारा

इसका भली भान्ति प्रतिपादन हुआ है वहां से आपको देखना चाहिये।

सामने आये हुये प्रश्नके पहले यह जान लेना भी आवश्यकीय है कि भूख प्यास क्यों लगती है, इस लिये इस विषय को समझने के लिये गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा नं० १३४ को पढ़ लेवें तब स्पष्ट पता चल जायगा कि भूख प्यास का कारण केवलीके उपस्थित ही नहीं होता है—

समयट्ठिदिगो बन्धो सादस्सुदयोपिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ।२७४।
एदेण कारणेण दु सादस्सेव हु णिरंतरो उदओ।
तेणअसादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ।२७५।
(गो० क०)

इस लिये केवली के साता वेदणीय का उदय हमेशा रहता है और असाता वेदनीय जनित क्षुधादिक ११ परीषह नहीं होती क्योंकि असाता का उदय सातारूप में ही परिणत होता है। इसके अतिरिक्त और भी देखें—

घादिवं वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्मि पठिदंतु ॥ १८ ॥
(गो० क०)

इसी लिये वेदनीय का उदय होते हुये भी केवली के भूख प्यास की बाधा नहीं हो सकती है। उपर्युक्त सिद्धान्त विषयक प्रमाण प्रबलता के साथ केवली के प्रकृत विषय का खण्डन करते हैं और स्पष्ट बतलाते हैं कि केवलज्ञानी के वेदनीय साता रूप मे ही रहती है। इसी प्रकार श्वेताम्बर सिद्धान्तभी बतलाता है। देखिये प्रकरणरत्नाकर के चतुर्थभाग के षडशीति नामक चौथे खण्ड की ६४ वीं गाथा पृ० नं० ४०२-

उइरंति पमत्तंता सगट्ठ मसिट्ट वेअ आउविणा।
छग अपमत्ताइ तऊ छ पंच सुहुमो पणु वसंतो ६४

इसके आगे और भी ६५ गाथा है—
पण दो खीण दुजोगीऽणुदीरगु अजोगि-
थोव उवसंता।

इस प्रकार जब वेदनीय कर्म की उदीरणा छठे गुणस्थान तक होती है तो नियमानुसार यहभी मानना पड़ेगा कि भूख भी छठे गुणस्थान तक ही लगती है। इस लिये प्रोफेसर साहब का विषय उभय सिद्धात से बिल्कुल विपरीत है।

भूखकी वेदना कितने प्रकारकी और कैसी दुखदाई होती है जरा देखिये—

आदौ रूपविनाशिनी कृशकरी कामस्य विध्वंसिनी,
ज्ञानभ्रंशकरी तपःक्षयकरी धर्म्मस्य निर्मूलिनी।
पुत्र--भ्रातृ--कलत्र--भेदनकरी लज्जाकुलच्छेदिनी,
सा मां पीडति विश्वदोषजननी प्राणापहारीक्षुधा ॥

इतना ही नही और भी देखिये—
त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं,
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं,
क्षीणा जनाः निष्करुणा भवन्ति ॥

ऐसी घोर दुःखदायिनी भूख परीषह यदि केवल ज्ञानी को वेदना उत्पन्न करे तो केवलीका अनन्तसुख क्या कार्यकारी होगा क्या प्रोफेसर साहब इसका समुचित उत्तर देवेगे?

बस इस विषयपर हम इतना ही लिखकर समाप्त कर रहे है आशा है कि प्रोफेसर साहब अपनी विचारधारा का परिवर्तन करेंगे।

परम पूज्य श्री वीरसागर जी महाराज का बम्बई पंचायत को "धर्मवृद्धि"

साहित्यभवनजीवाजीगंज उज्जैन ता० ३०-७-४४	समाजसेवी— छोटेलालबरैया आमोलनिवासी

श्रीमान विद्वद्वर श्री भट्टारक

देवेन्द्रकीर्त्ति जी महाराज

गादी—नागौर

वीरेशं तीर्थपं वंदे मार्वं करुणापूरुपं।
युक्त्यागमाविरोधेन यद्वचो भूखभूषणं॥

युक्तिवाद यदि आगम के अनुकूल है तो सर्व-मान्य हो सकता है किन्तु यदि युक्तिवाद आगम का विरोधक और वस्तु निर्णय का विध्वंसक हो तो विज्ञ जनता उसे युक्तिवाद ही नहीं कहसकती। ऐसे युक्त्याभासो की ओट में ही आज का सुधारवाद पनप रहा है। और लोग इस शैतान की चपेटमें आकर अपने विरुद्ध गवाही देते हुये देखे जाते हैं। अन्तस्तत्त्वावलोकन की तरफ किसी भले आदमी का ध्यान ही नहीं जाता।

जो कुछ लोग कहते हैं वह सब ठीक ही है इस का क्या प्रमाण? भारत के अतिरिक्त यदि सब देश व्यभिचार को पाप न मानें तो क्या व्यभिचार न्याय्य सिद्ध हो जायगा।

आज यह सम्मति का रोग ऐसा फैल गया है कि लोग अपने पूर्व पुरुषोंकी प्रसिद्ध नीति—'सुनै सबकी करै मन की' को बिल्कुल भूल गये हैं।

बहु सम्मति के अवसरपर तो लोग आगम और युक्ति दोनो को ही भूल जाते हैं। और कुछ व्यक्ति अपनी विद्वत्ता का दुरुपयोग आगम के अर्थको अपने मनोनुकूल करने और युक्तियोंको अपनी ओर खींचने में कर रहे हैं इसका हमे अत्यन्त खेद है।

विद्वानो का ध्यान समाज उत्थान की ओर लगा रहना चाहिये और समाज में श्रद्धान की दृढ़ता चारित्र की निर्मलता और ज्ञान की प्रौढ़ता बढ़ानी चाहिये। किन्तु कुछ विद्वानोंकी निकम्मी करतूतों से समाज में विक्षोभ फैलता हुआ देखकर अवश्य दुःख होता है।

प्रत्येक स्थल पर युक्ति की अपेक्षा आगम प्रमाण को महत्व दिया गया है। अतः आगमानुकूल युक्ति ही ग्राह्य है। और "स्वभावोऽतर्कगोचरः" स्वभाव यानी वस्तुधर्म में युक्ति, तर्क काम नहीं देते हैं।

स्त्री मुक्ति निराकरण

समस्त शास्त्रों का अभिमत है कि स्त्रीपर्याय एक निन्द्यतम पर्याय है। इसमें दुःख, क्लेश, मायाचारी, लोभ, भोगलांपट्य, क्रूरत्व, अभिमान, वेदका तीव्रत्व प्रसूतिवेदना, पुत्रमोहादि अनेक दोषोंकी प्रचुरता है।

किसी भी गति की स्त्रीपर्याय में क्षायिक सम्यक्-दर्शन, सकलसंयम, तीर्थंकर प्रकृतिका उदय व बन्ध, शुक्लध्यान, श्रेणीआरोहण आदि नहीं होते। किसी भी प्रकार का सम्यग्दृष्टि मरण कर स्त्रीत्व प्राप्त नहीं करता है। कर्मभूमि की स्त्रियों में उत्तम संहनन नहीं होते। स्त्रीपर्याय पंचम गुणस्थान द्वारा सोलहवां स्वर्ग प्राप्त करने भरकी ही साधिका है। ग्रैवेयकादि और सातवें नरकमें भी स्त्रियों का गमन नहीं होता।

भगवान भूतबलि पुष्पदंत ने इसका समर्थन निम्न प्रकार से किया है—

छक्खण्डागम जीवट्ठाए चूलियाए गदियागदियाए पवेस णिग्गमए गुणट्ठाणाणि।

सूत्र ६१-६५, पत्र ४४२-४३

पंचेन्दिय तिरिक्ख जोणिणीओ मणुसिणीओ भवणवासिय वाणवेंतर जोइसियदेवा देवीओ सोधम्मीसाए कप्पवासिय देवाओच मिच्छतेण अधिगदा केइ मिच्छतेण णीतिं ॥ ६१ ॥ केइ मिच्छत्तेण अधिगदा सासणसम्मणत्ते णीति ॥६२॥ केइमिच्छत्तेण अधिगदा सम्मत्तेण णीतिं ॥ ६३ ॥ केइ सासण अधिगदा मिच्छत्तेण णीतिं ॥ ६४ ॥ केइ सासण सम्मणत्ते अधिगदा सम्मत्तेण णीतिं ॥ ६५ ॥

चूर्णि-एदेसु सम्मत्तेण अधिगमो णत्थि। कुदो ? एदस्स अच्चंताभावादो।

अर्थात् सम्यक्त्व के साथ मरण कर कोई भी जीव किसी प्रकारकी स्त्रियो में जन्म नहीं लेता। स्त्रीत्व मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय के उदय का ही परिणाम है। अतः स्त्रीत्व निन्द्य है।

षट्खण्डागम जीवस्थान चूलिका सम्यक्त्वोत्पत्ति चारित्र परिवर्धन विधान मे श्री वीरसेन स्वामी ३०५ पृ० पर समर्थन करते हैं।

पुरिसवेदोदएण उवसमसेडिमारोहणादो।

अर्थात्—पुरुष वेदका उदय होने से उपशम श्रेणी का आरोहण होता है। नपुंकवेदी और स्त्रीवेदी उपशम या क्षपक श्रेणी नही माड़ सकते।

छक्खण्डागम जीवस्थान सत्प्ररूपणा पत्र ५१३ पर श्रीवीरसेन स्वामीने स्पष्टतया स्त्रीके संयम ग्रहणका निषेध किया है। साथ ही सचेलमुक्ति का भी निषेध इस प्रकार है।

जेसिंभावो इत्थिवेदो दव्वं पुण पुरिसवेदो ते वि जीवा संजमं पडिवज्जंति। दव्वित्थिवेदा संजमं ण पडिवज्जंति, सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणं पि संजदाणं णाहार रिद्धि समुप्पज्जदि। दव्वभावेहिं पुरिसवेदाणमेव समुप्पज्जदि तेणित्थिवेदेपि णिरुद्धे आहारदुगं णत्थि तेण एगारह जोगा भणिया इत्थिवेदो अवगद वेदोपि अत्थि। एत्थ भाववेदेण पयदं ण दव्ववेदेण किं कारणं ? अवगदवेदोपि अत्थित्ति वयणादो ॥

अर्थात्–द्रव्यस्त्रीके संयम ग्रहण नहीं क्योंकि वे सवस्त्र होती हैं। वे नग्नत्व धारण नहीं कर सकतीं। शत्रुभय और शास्त्राज्ञालोप इसमें प्रधान कारण है। स्त्रियों के आहारक शरीर, मनः पर्ययज्ञान, परिहारविशुद्धि आदि भी नहीं होते।

जीवस्थान चूलिकासूत्र २३० पत्र ४६५

भवणवासिय बाणवेतर जोइसिदेवा देवीओ सोधम्मीसान कप्पवासिय देवीओ देवादेवेहि उवट्टिद चुद समाणा कदि गदीओ आगच्छन्ति—

णोएं बलदेवत्तं उप्पामेति, णो वासुदेवत्तमुप्पाएंवि णो चक्कवट्टित्तमुप्पाएंति, णो तित्थयरत्तमुप्पाएंति ॥

अर्थात भवनत्रिक और कल्पवासियो की देवियां मरण कर बलदेव वासुदेव चक्रवर्ती और तीर्थंकर नहीं होती हैं।

त्रेसठ शलाका पुरुष ही होते हैं, न कि स्त्रियां।

इस सवसे सिद्ध होताहै कि स्त्रियां जब सासारिक अनेक गणनीय विभूतियोंको, ऋद्धियोंको, संयम को मनःपर्यायादि ज्ञान को और उत्तमोत्तम पदों को भी नहीं पा सकतीं, और उत्कृष्ट संहनन, उत्कृष्टध्यानादि, की उनमें योग्यता नहीं तो मुक्ति की वे अधिकारिणी सिद्ध नहीं की जा सकतीं। अतः दिगम्बर जैन सिद्धांत अनुसार स्त्रियो को स्त्रीपर्याय से मुक्ति नहीं हो सकती।

प्रो० की द्वारा सूचित किये गये प्रमाण द्रव्यस्त्री वेद से मुक्ति सिद्ध नहीं करते । अतः वे निस्सार हैं ।

अपसत्थवेदोदयेण सह पउरं सम्मद्दंसणलं-भाभावादो ।

(द्रव्यप्रमाणानुगम पृ० २६१)

अर्थात्—अप्रशस्त वेद (नपुंसक और स्त्री) के साथ प्रचुर जीवोंको सम्यग्दर्शन लाभ नहीं होता है ।

इस स्थल पर भी वीरसेन स्वामी ने स्त्रीवेद को निन्द्य और अप्रशस्त कहा है ।

नीच गोत्र की स्त्रियों को आर्यिका के भी व्रत नहीं होते जैसे कि शूद्रों को उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक) के व्रत नहीं, सद्गोत्र वाली स्त्रियों को भी छठा गुणस्थान (महाव्रत) नहीं है, पंचम गुणस्थान मात्र है वह आर्यिकाके व्रत ग्रहणकर सकती । पाप कर्मोदयसे उसे जिनलिंग नहीं होता, नग्नता नहीं होती । स्त्रियां गर्भधारण करती हैं । निरन्तर अशुचि रहती हैं । अनेक जन्तुघात, पुत्र जनन और मानव वीर्य ग्रहण के कारण वे प्रायः अपवित्र और अशुद्ध रहती हैं । स्त्रियों के स्तन, योनि और कुक्षि में निरन्तर निगोदी जीव उत्पन्न होते और मरते रहते हैं । अतः उन्हें महाव्रत, ऋद्धियां, श्रेणी–आरोहण योग्य परिणाम, शुक्लध्यान, घातिकर्म क्षय, केवलज्ञान, योग निरोध आदि की योग्यता नहीं । हीन संहनन होनेसे उनके शुक्लध्यान नहीं होता । उसके बिना कर्मक्षय कदापि नहीं माना जा सकता । अल्प शक्ति होने से उसे सातवां नरक और मुक्ति गमन की योग्यता नहीं उसके सम्पूर्ण व्रत, सकल संयम और अचेलक्य नहीं होता अतः कभी मुक्त नहीं हो सकती ।

सवस्त्र मुक्ति निराकरण

प्रो० जी ने दि० मान्यतानुसार वस्त्रके सम्पूर्ण त्यागसे ही संयमी और मोक्षका अधिकारी हो सकता है, यह स्वीकार किया है । पर दिगम्बर शास्त्र इस विषयमें क्या आदेश करतेहैं इसकी खोज चाहते हैं ।

स्वामी समन्तभद्र देव सवस्त्र मुक्ति व सवस्त्र सकल संयम का निषेध निम्न प्रकार से करते हैं—

सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेपि ।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥

गृहस्थ देशव्रती सामायिक के समय समस्त आरंभ परिग्रहको छोड़कर भी वस्त्रधारी है । अतएव मुनि नहीं होता, मुनि के समान हो जाता है । यतः मुनि के वस्त्र बिल्कुल नहीं होते । कोई अज्ञान आदि के कारण मुनि पर वस्त्र डाल भी दे तो जब तक वस्त्र उतर न जाय उपसर्ग माना जाता है । अतएव मुनि के वस्त्र धारण नहीं ।

जो कम से कम भी वस्त्र धारण करता है वह भी श्रावक है, मुनि नहीं । देखिये समन्तभद्र श्रावकाचार श्लोक नम्बर १४७ ।

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥ १४० ॥

जब तक किसी के शरीर पर खण्डवस्त्र भी है । तब तक वह श्रावक ही है, मुनि नहीं हो सकता । भला श्रावक तो वस्त्रों को कम करता जाय और लंगोटी मात्र परिग्रह रक्खे तथा मुनि भरमार वस्त्रों को पहने ओढे रहे यह कैसे सम्भव है निर्ग्रंथ लिंगमें वस्त्र कहीं नहीं ।

वस्त्रधारक गृहस्थ के प्रत्याख्यान कषाय का उदय-सत्व रहता है । अतः वह मुनि नहीं हो सकता, जब तक प्रत्याख्यान कषायोदय है तब तक भावश्रमण नहीं

हो सकता। और तब तक प्रत्याख्यान का क्षयादिक नहीं हो सकता देखिये रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक नम्बर ७१।

प्रत्याख्यानतनुत्वान्मंदतराश्चरणमोहपरिणामाः।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥ ७१ ॥

प्रत्याख्यान कषाय का मंद उदयसत्वभी महाव्रतमे बाधक है जिसका कार्य वस्त्रादि परिग्रह धारण है। अतः वस्त्र धारक के प्रत्याख्यान का क्षयादि नही हो सकता और इस अवस्थामे मुनिव्रत नहीं।

जो वस्त्रादि धारण करते है वे पाखण्डी है मुनि देखिये र० श्रा० श्लोक २४।

सग्रन्थारंभहिंसानां संसारावर्तवर्तिनां।
पाखण्डिनां .... ,

जो सग्रन्थ है हिंसक है वे पाखंडी है, जो वस्त्रादि परिग्रह रक्खेंगे वे अवश्य पहरने उतारने का आरंभ करेगे जो धोने सीने और क्षुद्र जन्तु निष्कासनका आरम्भ करेंगे वे हिंसासे बच नहीं सकते अत. हिंसक भी होंगे ऐसे लोग पाखण्डी हैं।

महाव्रत महात्माओं के होते है पाखण्डियों के नहीं देखिये उक्त ग्रन्थ का श्लोक ७२।

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महतां ॥

हिंसादि समस्त पापो का त्याग महाव्रत है और वह महापुरुषों के होता है। कातर असंयमी लुब्ध पाखण्डियो के नहीं।

सकल चारित्र सर्वपरिग्रह से रहित अनगारो के होता है। देखिये उक्त ग्रथ का पच्चीसवां श्लोक।

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानां।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥

अनगार वस्त्रग्रहणादिक समस्त परिग्रह से रहित और सागार परिग्रह से युक्त होते है। जो परिग्रही है वे सागार (गृहस्थ) है। जो निष्परिग्रही है वे ही मुनि है।

भगवान भूतबली पुष्पदंत पर्याप्त मनुष्यनी के ५ गुणस्थान मानते है देखिये प्रमाण सत्प्र० सूत्र ९३ पृष्ठ ३३२—३३३,

"सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठिसंजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

यानी मनुष्यस्त्रिया मिश्र, असंयत सम्यग्दृष्टि और और संयतासंयत इन गुणस्थानों मे नियम से पर्याप्तक होती है।

अर्थात्—स्त्रियो के पहले पांच गुणस्थान ही हो सकते है उससे आगे के नहीं।

इसी बात को धवला टीकाकार ने इस प्रकार से स्पष्ट किया है—

...... सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां सयमानुपपत्तेः। ......न तासां भावसंयमोस्ति भावासयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।

अर्थात्—स्त्रिया निर्वस्त्र नहीं हो सकतीं अतः सवस्त्र होने के कारण वे पचम गुणस्थानवर्तिनी होती है, उनके संयम (महाव्रत या छठा गुणस्थान) नहीं होता।.......... द्रव्यसंयम के समान उनके भावसंयम भी नहीं होता क्योंकि भाव असंयमका अविनाभावी वस्त्रादि परिग्रह उनके मौजूद है।

षट्खण्डागम के उक्त सूत्र और उसकी धवला टीकासे स्त्रियोके महाव्रत होनेकी बात सूर्यवत्स्पष्ट है। इस से अधिक पुष्ट प्रमाण की अब हम कथमपि आवश्यकता नहीं समझते।

सवस्त्रमुक्ति निराकरण पर व्याख्या निम्न है।

सवस्त्र होने से मोह, उससे रागादिक अनेक दोष

होते हैं। वस्त्र के गल जाने पर तदर्थ शोक संताप क्लेश निरन्तर होते देखे जाते हैं। नवीन वस्त्र ग्रहण करनेकी इच्छा होनेपर मोहोदय जनित याचना करनी पड़ती है। मैला होने पर धोने से जीव घात और हिंसाजन्य कर्मबन्ध होता है। बन्धसद्भाव में मुक्ति कहां। वस्त्र के योग से चित्त की स्थिरता नहीं हवा से उड़ने लग जाय, पानीसे भीग जाने पर क्लेश के कारण हो जांय। और चित्तस्थैर्य के बिना ध्यान सिद्धि नहीं। उसके बिना कर्मक्षय नहीं, अतः वस्त्र तो मुक्ति का बाधक है। वस्त्रादि से राग—वर्द्धक काम उत्पन्न होकर इंद्रियों में विकार पैदा होता है।

शीतादि की बाधा दूर करने को वस्त्रादि धारण में प्रत्यक्ष मोह प्रतीत होता है। बिना मोहके शरीरपर वस्त्रधारण की व्यर्थ कवायद कौन करे। लज्जा निवारण के लिये वस्त्र धारने पर शरीर में राग और बीभत्सकों से द्वेष अवश्य जाना जाता है। शरीर शृङ्गार के तो प्रत्यक्ष मोह है। वस्त्र ग्रहण में मोह होता ही है। उसमें हिंसादि पाप अपने आप ही होंगे। वस्त्र त्याग से निर्ग्रथत्व निःशल्यत्व और ध्यान सिद्धि होती है वस्त्रादि त्यागसे इच्छा निरोधरूप तप होता है, स्वात्मसिद्धि होती है, वस्त्र संग से चित्त में व्याकुलता मोहादि अनेक दोष होते हैं। सवस्त्र मुक्ति सिद्ध हो तो नाग्न्य परीषह कैसे ? आकिंचन्य धर्म कैसे ? यथाख्यात संयम कैसे ? जातरूपता कहां, अट्ठाईस मूलगुण और अपरिग्रहता कैसे सिद्ध हो। सवस्त्र मुक्ति माननेपर गृहस्थ ही मुक्त हो जाया करें फिर जिनरूपता ग्रहणकी आवश्यकता ही क्या ? वस्त्र से वेष्टित साधु गृहस्थ ही समझा जायगा साधु और गृहस्थ के वेश में भेद तो यही है कि गृहस्थ सवस्त्र और साधु अवस्त्र। विदेह क्षेत्रमें आजभी श्रीभगवान सीमंधरदेव गणधरदेव साधु अचेलक्य गुण के धारण करने वाले दिगम्बर निर्ग्रन्थही हैं, उन निर्ग्रंथ वेशके धारक विदेहस्थ महापुरुषों की निर्वृत्ति आचारांगसूत्र में जिनेश्वरदेव ने प्रतिपादित की है। अतः सवस्त्र मुक्ति सम्भव नहीं। वस्त्रयुक्त लिंग से मुक्ति होती हो तो अकृत्रिम जिन विम्बोंपर वस्त्र क्यों नहीं, वस्त्रों में देह के संयोग से जुंआं आदि पड़ते हैं उनके दूर करने पर हिंसा अनिवार्य है अतः सवस्त्र मुक्ति में अनेक बाधा तथा अनेक दोष हैं।

इतना सिद्ध होने पर श्री वीरसेन स्वामी का मौलिक प्रमाण देकर उसे संक्षिप्त करते हैं।

अट्ठावीसमूलगुणाइचारविसय सव्वपडिक्कमणाणि इरियावट्टयपडिक्कमणम्मि णिवदंति। अवगय- अइचारविसयत्तादो।

कसाय पाहुड़ जयधवला पत्र ११४,

भगवान वीरसेन स्वामी ने दिगम्बर जैन शास्त्रों के अनुसार ही धवला जयधवला जैसी विस्तृत टीका लिखी हैं। उन्हों ने इस स्थल पर अट्ठाईस मूलगुण दिगम्बर मुनि के स्वीकार किये हैं जिनमें निर्ग्रंथ नग्नता भी एक मूलगुण है।

केवली कवलाहार निराकरण

—:※:—

अप्पमत्तसंजदाणमोवालावे भण्णमाणे—तिण्णि सण्णाओ। असादा वेदणीयस्स उदीरणाभावादो आहार सण्णा अप्पमत्तसंजयस्स णत्थि। कारण-भूदकम्मोदय संभवादो उवयारेण भयमेहुणपरिग्गह सण्णा अत्थि।

छक्खंडागम सतप्ररूपणा दूसरी पु० पत्र ४३३

७वें गुणस्थान में आहार संज्ञा नहीं। असाता वेदनीयकी उदीरणाके अभाव के कारण यहां आहार संज्ञा का अभाव है। आहार संज्ञाके विना कवलाहार भोजन ग्रहण संभव नहीं।

कारणभूत कर्मोदय के सद्भाव की अपेक्षा शेष भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञायें मात्र उपचारसे हैं। कार्यकारिणी नहीं। अर्थात् ७वें गुणस्थान में या इससे ऊपर कोई भयभीत नहीं होता। विषय सेवन (स्त्री पुरुष भोग) नहीं करता और किसी प्रकार का अन्तरंग वहिरग परिग्रह नहीं रखता।

यदि केवली को कवलाहार स्वीकार किया जाय जो कि सर्वथा असंभव है। तो फिर ऐश आराम की सामग्री दुनियां भर से भय और विषयभोग स्त्री सेवन से कौन रोक सकेगा।

कसायपाहुड़ जयधवला पेज्ज दोसविहत्तीर पत्र ११६ पर वीरसेन स्वामी आहार ग्रहण से अहिंसादि महाव्रतों मे अतीचार स्वीकार करते है—

ससरीरो आहारो सकसाओ पंचमहव्वयगहणकाले चेव परिचत्तो। अण्णहा सुद्धणय विसयीक महव्वयग्गहणाणुववत्तीदो। सो सेवियो च मए एत्तियं कालं पंचमहव्वयभगं काऊण सत्तिवियलदाए इदि अप्पाणं गरहिय उत्तमट्ठाणकाले पडिक्कमणवृत्ति जाणावणट्ठं तत्थ पडिक्कमणोवयारो कीरदे।

अर्थात्—संयम ग्रहणकालमें शरीर कषाय व आहार त्याग किया जाता है। अन्यथा शुद्ध नय के विषयीभूत पंचमहाव्रतो की उत्पति ही नही हो सकती परन्तु शक्त्यभाव के कारण कोई आहारग्रहण करता है तो दोष है उसका भी प्रतिक्रमण आवश्यक है। जब छद्मस्थ ही आहार ग्रहण करने पर प्रायश्चित प्रतिक्रमण के अधिकारी है। तो केवली आहार करे यह उनके अवर्णवाद के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोग आहारक अनाहारक की अपेक्षा से केवली को कवलाहारी सिद्ध करने की धृष्टता करते है उसका निराकरण निम्न है। सत्प्ररूपणा द्वितीय जिल्द आहारआलाप पत्र ८४६—

आहारि अप्पमत्त संजदाणं भण्णमाणे अत्थि तिण्णि सण्णाओ—

आहारि सजोग केवलीणं—खीणसण्णाओ।

पत्र ८५०

अणाहारि सजोग केवलीयं खीण सण्णा।

पत्र ८५३

आहारक अप्रमत्त संयतों के आहार बिना ३ संज्ञाए हैं आहारक सयोग केवली सज्ञाओं से रहित अनाहारक सयोग केवली सज्ञाओं से रहित है।

अर्थात् आहार संज्ञा के अभाव में भोजन ग्रहण सूचित करना अपनी अज्ञानकारीका ढोल पीटना है। कसायपाहुड़ जयधवला पृष्ठ ६८ से ७१ तक आचार्य श्री वीरसेन स्वामी स्पष्टतया केवली के उपसर्गादि दुःख क्षुधादि वेदना और कवलाहार का निषेध करते है।

ण च वेयणीयं तत्र—कारणं। असहेज्जत्तादो, घाइचउक्क सहेज्जं संतं वेयणीयं दुक्खुप्पाययं। णच तं घाइचउक्कम्मित्थि केवलिम्मि, तदो ण सकज्जणाणं वेयणीयं जलमट्टियादि विरहियवीजं वेत्ति। वेयणीयस्स दुक्खमुप्पाएंतस्स घइचउक्क सहेज्जयमिदि कधं णव्वदे। तिरयणपउत्ति अण्णहाणुववत्तीदो।

असहाय वेदनीय देवत्वका बाधक और क्षुधादिक का उत्पादक नहीं हो सकता। घाति चतुष्क के साथ ही वेदनीय दुःखोत्पादक होता है। और केवल में

घातिचतुष्क हैं नहीं। इस लिये वहां वेदनीय स्वकार्य करने में-जल मिट्टी बिना बीजके समान असमर्थ है घातिचतुष्क के अभाव के कारण निःसहाय वेदनीय रत्नत्रय का भी बाधक नही है। अन्यथा निःसहाय वेदनीय अनन्तचतुष्टयान्तर्गत अनन्त सुख का भी व्याघातक हो जाय।

घाइकम्मे णट्ठे संते वि जइ वेयणीय दुक्खमुप्पायइ तो सतिसो सभुक्खो केवली होज्ज। ण च एवं। भुक्खातिसासु कूरजलविसयतण्हासु संतीसु केवलिस्स समोहत्तावत्तादो। तण्हाए ण भुंजइ किंतु तिरय-णट्ठमिदि ण वोत्तुं जुत्तं तत्थ पत्तासेससरूवंमि तद संभवादो। तं जहा, ण ताव णाणट्ठं भुंजइ पत्तकेवलणा णभावादो ण च केवलणाणादो अहियमण्णं पत्थणिज्जं णाणमत्थि जेण तदट्ठं केवली भुंज्जेज्ज। ण संज-मट्ठं। पत्तजहाक्खाद संजमादो। ण ज्झाणट्ठं, विसयीकयासेसतिहुवणस्सज्झेयाभावादो। ण भुंजइ केवली मुक्तिकारणाभावादो त्ति सिद्धम्।

यदि घाति कर्म के अभाव में भी वेदनीय दुःख दे तो केवली को भूखा प्यासा होना चाहिये। पर ऐसा माननेपर उनके मोहोत्पत्ति सिद्ध होगी। फिर मोहनीयादि का अभाव और कैवल्य का सद्भाव भी उनके न ठहर सकेगा। रत्नत्रयकी सिद्धिके हेतु भी उनका भोजन करना नहीं बन सकता। क्योंकि केवलज्ञान, यथाख्यात संयम और त्रिभुवन के ध्येय ध्याता वे हो चुके हैं। उन्हें रत्नत्रय प्राप्त हो चुका अतः वे भोजन नही करते। क्योंकि उनके भोजन करने का कोई कारण उपस्थित नहीं है।

अह जइ सो भुंजइ तो वलाउसादु सरीरुवचय तेज सुहट्ठं चेव भुंजइ संसारिजीवोव्व। ण च एवं, समोहस्स केवलणाणाणुववत्तीदो। ण च अकेवलि वयणमागमो, रागदोसमोहकलंकिए हरिहरहिरण्ण-गब्भेसु व सच्चाभावादो। आगमाभावे ण तिरयण-पउत्ति त्ति तित्थवोच्छेदो चेव होज्ज। ण च एवं तित्थस्स णिव्वाहवोहविसयीकयस्स उवलभादो तदो णवेयणीयं घाइकम्मणिरवेक्खं फलं देदित्ति सिद्धम्

यदि संसारी जीवोंके समान केवलीभी बल आयु स्वादु भोजन, शरीर सौंदर्य तेज सुख आदि की प्राप्ति के लिये भोजन करते हैं माननेपर वे मोही सिद्ध होंगे मोही के कैवल्य सिद्ध नहीं हो सकता। अकेवली के वचन आगम नही। रागद्वेषमोहादि से कलंकित हरि हर हिरण्यगर्भादि देवताओंमें सत्यका अभाव है आगमाभाव होनेपर रत्नत्रयका अभाव और तदभाव में तीर्थव्युच्छेद हो जायगा किन्तु तीर्थका निर्बाधबोध, का उपलम्भ है ही। इस लिये घातिकर्म निरपेक्षित वेदनीय फल नहीं दे सकता यह सिद्ध हुआ।

जो वीतरागी केवली को कवलाहारी बतलाते हैं वे जैन ही नहीं। वे तो जैनाभास हैं। क्षुधादि दोष-मुक्त घाती कर्म रहित जिनेश्वर के कवलाहार संभव नहीं हो सकता है। मोह का अभाव होने से उनके आहार संज्ञा नही तदभाव में ग्रासाहार कैसे ? और आहार संज्ञा दोष के सद्भाव में वे निर्दोष नहीं हो सकते। आहार संज्ञा के सद्भाव मानने पर केवली के शेष तीन संज्ञाओं का निवारण कैसे होगा मोह के अभाव हो जाने से व्यवहारी संज्ञाएं ही नहीं होती हैं। हो भी तो भी मोह के विना क्षुधादि उत्पन्न करने में समर्थ नहीं। इस लिये भगवान में क्षुधा दोष नहीं होता। क्षुधा दोष होने पर शेष राग द्वेष मोह निद्रा आदि अनेक दोषों का निवारण अशक्य होगा। रागादिक के सद्भाव में कोई सर्वज्ञ निर्दोष सत्याप्त नहीं हो सकता। आहारसे राग, राग

से मोहादि, उससे तन्द्रा निद्रा मद क्लेश रोग चिन्ता वेदनादिक अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। आहार ग्रहण से कामोत्पत्ति उससे चित में व्याकुलता और मथुनेच्छा उत्पन्न होगी उसे कौन रोक सकेगा। सुमिष्ट आहार से सन्तोष, हृदय इन्द्रियतुष्टि होने से रति रागादि केवली को मानने होंगे। रूखे आहार से ग्लानि विद्वेष विषाद खेद आदि दोष उत्पन्न होंगे। जहां आहार होता है वहां क्लेश कारक रोगोंसे बचा नहीं जा सकता। आहार गृहण से स्वेद, क्लेद, कफादिक अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

शरीर इंद्रिय तुष्टि के हेतु केवली भोजन करें तो बड़ा दोष है। इन्द्रिय शरीर राग उनके प्रगट माना जायगा। और आहार का अलाभ उन्हें विषाद पैदा करके मानसिक पीड़ा देगा। जोकि क्लेश कारिणी और अत्यंत अशुभ होगी। जिससे आर्त्तध्यान होना अवश्य संभव है। आर्त्तध्यानी की तिर्यंगति होती है। मोक्ष नहीं।

क्षुधा से कातर होजाने के कारण केवली भोजन करें तो अनन्तवीर्यता का दिवाला निकल गया हो समझो। यदि भगवान कातर हैं तो गृहस्थ के समान दुःखी और सदोष हैं फिर वे भगवान किस बातके?

सर्वज्ञ वीतराग के, मन और इन्द्रिय स्वयमेव आहार में प्रवृत्त होना मानने पर उनका ज्ञान भी सेंद्रियिक माना जायगा। इंद्रिय ज्ञान मानने पर सर्वज्ञता रफूचक्कर हो जायगी। आहार गृहण करते हुए यथाख्यात चारित्र नहीं हो सकता। और क्या उनके इन्द्रिय मन वश मे नहीं है जो खाने की चाट लगी रहती है। यदि ऐसा है तो ज्ञान भी अक्षज ही मानना होगा। यदि उनके इन्द्रिय निग्रह है तो क्षुधा दोष और आहार मे प्रवृत्ति कैसे? अतः उन जितेंद्रिय भगवान के ग्रास गृहण नहीं। इन्द्रिय, विषय, कषाय, क्षुधादि विकार के जीत लेने पर ही जिन कहलाते हैं। अतः वे सर्वथा निर्विकारी है। यही मानना श्रेयस्कर है। उनके भूख प्यास नींद शोकादि कुछ नहीं ये बातें छद्मस्थों के हुआ करती है। क्षुधादिक समस्त अठारह दोषो के अभाव होने पर ही कैवल्य उत्पन्न होता है। सदोषता रहने पर सर्वज्ञता नहीं हो सकती। जहां केवलज्ञान नहीं वहा ही क्षुधादिक का सद्भाव हैं। कैवल्य सिद्धि होनेपर क्षुधादि का क्या काम। क्षुधा विना ग्रास गृहण नहीं क्षुधा दोष है। दोष के सद्भाव में भगवान् मे निर्दोषता कैसे? वेदनीय के उदय से क्षुधा और उसके कारण केवली ग्रास लेते हैं कहना भी नहीं बनता। मोहनीय अकिंचित्कर है। जैसे आंख होते हुए भी पट्टी बांधने पर कोई देख नहीं सकता। मोह के अभाव मे दग्धरज्जुवत् वेदनीय क्षुधोत्पत्ति करने मे समर्थ नहीं। निर्मोही वीतराग भगवान छद्मस्थ के समान भोजन ग्रहण नही कर सकते। जहा थोड़ा भी मोह है वहां वीतरागता नहीं। समूल मोहनाश से वीतरागत्व होता है। निर्मोही निर्दोष वीतराग जिनेश के आहार दोष की कल्पना मिथ्या ही है। विना मोह इच्छा और क्षुधाके भी शरीर स्थित्यर्थ उन के ग्रासाहार नहीं बनता। उनकी देह स्थिति तो अंतराय के नष्ट हो जानेसे अनन्तवीर्यता और अनेक शुभ पुद्गल वर्गणाओ द्वारा बनी रहती है। यहां भी देखिये। कि भोजन गृहण करते हुए भी शरीर क्षीणता ह्रास आदि अन्तराय के उदय से होते रहते है। अतः भोजन शरीर स्थिति का भी मुख्य कारण नहीं हो सकता।

अन्तराय का प्रवल उदय शरीर में रंच मात्र भी ताकत नहीं रहने देता। और तो क्या भोजन के खाने और पचानेकी शक्ति भी अंतरायके तीव्रोदय में नहीं रहती। भगवान के अन्तराय का अभाव है। अतः उन्हें आहार की आवश्यकता नहीं। तथा ग्रासाहार से औदारिक शरीर की स्थिति मानी गई है, परमौदारिक शरीर की नहीं। उनके परमौ-दारिक शरीर है। वे सिंहासन से भी चार अंगुल अधर रहते हैं यह क्या भोजन का बल है। यदि ऐसा होता तो किसी को भोजन करने के बाद पृथ्वी पर पैर रखनेकी जरूरत न पड़े, पर ऐसा नहीं होता। नोकर्माहार शरीर स्थिर रखने में समर्थ है, ग्रासाहार की आवश्यक्ता नहीं। इन्द्र असंयमी होनेसे दान का अधिकारी नहीं। और असंयमी का आहार भगवान ग्रहण नहीं करते। छद्मस्थ अवस्था में ही तीर्थंकर मुनि होने पर देवों का भोजन परित्याग कर देते हैं तो केवली होने पर कैसे ग्रहण करेंगे। भगवान आदिनाथ स्वामी को छः मास का अंतराय कभी नहीं आता। यदि इन्द्र का आहार स्वीकार होता तो यह नौबत आती ही नहीं। ग्राम २ घूम कर आहार लेने में उन्हें अवश्य छद्मस्थ मानना पड़ेगा। क्योंकि उन्हें पता ही नहीं कि हमें किस गांव और किस के घर आहारादि होगा। जभी तो घूमने की कवायद मानी जा सकती है अन्यथा क्यों ? अपनी सर्वज्ञता द्वारा मद्य मांस, मार काट, रुदन, क्रन्दन जानते हुए केवली भोजन करे तो दोषहै। अंतराय सहित ग्लानि युक्त भोजन करना मानने पर गृहस्थ से भी हीन वृत्ति उन्हें मानना पड़ेगा। गृहस्थ भी दोष, अन्तराय बचा कर आहार लेता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में भगवान् का रूप—

अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवन्हेर्जयात्,
कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः।
विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा,
मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यंतिकीं ॥

निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदयात्,
निरंबरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः।
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसाक्रमात्,
निरामिषसुतृप्तिमद् विविधवेदनानां क्षयात् ॥

मितस्थितनखांगनं गतरजोमलस्पर्शनं,
नवांबुरुहचंदनप्रतिमदिव्यगंधोदयं।
रवींदुकुलिशादिदिव्यबहुलक्षणालंकृतं,
दिवाकरसहस्रभासुरमपीक्षणानां प्रियं ॥ गौतमर्षि

विगतायुधविक्रिया विभूषा,
प्रकृतिस्था कृतिनां जिनेश्वराणां।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कांत्या,
प्रतिमाः कल्मषशांतयेऽभिवंद्रे।
कथयंति कषायमुक्तिलक्ष्मीं,
परमा शांततया भवांतकानां।
प्रणमाम्यभिरूपमूर्तिमंति,
प्रतिरूपाणि विशुद्धये जिनानां ॥

भगवान् पूज्य पाद स्वामी।

केवली निराभरण भासुर और निरंबर मनोहर हैं। निरामिष निराहार तृप्तिमान और प्रकृतिरूप निर्दोष हैं। इससे कवलाहार ग्रहण वस्त्राभरणधारण का सुस्पष्ट निषेध हो जाता है। उनकी प्रतिमा भी आयुध विक्रिया और वेषभूषासे रहित प्रकृतिस्थ निर्विकार जातरूप है।

तम्हा सेय मलरय रत्तणयण कटक्खसर मोक्खादिसरोणय दोसविरहियेण समचउरस्स संठाण वज्जरिसह संघडण दिव्व गंध पमाणणह रोग णिराहरण भासुर सोम्मवयण णिरंवर मणोहर णिराउग्र मुणिब्भयादि णाणागुण–सहिय दिव्वदेह धरेण रायरोस कमायिंदिय चउव्विहोवसग्ग वावीस परीषहादि सयल दोस विरहिएण——वड्ढमाणभट्टारयेण उवइट्ठनादो पमाण दव्वागमो ।

श्री वर्द्धमान स्वामी का शरीर–पसीना, मलमूत्र, रज से रहित, नेत्र रक्तता हीन, कटाक्षरहित और प्रथम संस्थान, प्रथम संहनन, दिव्य गंध, वृद्धिरहित नखरोम, निराभरण भासुर, निरंवर मनोहर. निराकुल निर्भय आदि नानागुणोंसे युक्त देह वर्णन किया गया है । रागद्वेष कषाय इन्द्रिय प्रवृत्ति रहित, चार प्रकार उपसर्ग बाईस परीषह से रहित, भगवान वर्धमान स्वीकार किये गये हैं ।

इन्द्रिय प्रवृत्ति और कषाय राहित्य कवलाहार का निषेध सूचित करता है । निराभरण भासुरता निरंवर मनोहरता सवस्त्रता का निराकरण करते हैं ।

निराकुल और बाईस परीषह रहितता सवस्त्रता और कवलाहार दोनो के निषेधक हैं ।

सवस्त्र मुक्ति निराकरण से स्त्रीमुक्ति का निराकरण स्वयमेव हो जाताहै । क्योंकि स्त्री किसी हालत मे वस्त्र त्याग नहीं कर सकती ।

श्वेताम्वरो का दिगम्बरो से इतना ही विरोध हो सो नहीं किन्तु, गर्भापहरण, उपसर्ग, मांसाहार आदि भी दिगम्बरो को अभीष्ट नहीं है । आवश्यक हुआ तो उन पर फिर लेखनी उठाई जायगी ।

श्रीमान पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री,

कटनी।

*   श्री वीतरागाय नमः   *

क्या स्त्री मुक्ति सिद्धान्त-सम्मत है ?

कलकत्ता वीर शासन जयन्तीके अवसर पर जैन विद्वानोंके लेख धर्मपरिपद्में पढ़े जाने केलिये बुलाये गये थे पर यह ज्ञात हुआ कि समयाभाव से वे पढ़े न जा सकेंगे। श्रीमान पं० कैलाशचन्द्र जी का एक मात्र लेख पढ़े जानेकी आज्ञा प्राप्त हुई थी, किन्तु जब पंडित जी का विद्वत्तापूर्ण लेख पढ़ा जा रहा था तब सभापति सा० द्वारा नहीं, अपितु साहु शान्तिप्रसाद जी द्वारा उक्त लेख अनधिकार ही पढ़ने से रोक दिया गया। यह लेख इस उद्देश्य से रोका गया कि इस से दिगम्बर श्वेताम्बर एकता भंग होने का भय है † यह जैन विद्वानोंकी ही अवहेलना न थी, बल्कि एकता के नामपर दि० जैनधर्म की भी अवहेलना थी। भले ही साहुजी ने वह दुर्भाव से न की हो, पर यह गलती अवश्य थी, चाहे अनजाने हुई हो। दिगम्बर श्वेताम्बर एकता की बात प्रत्येक भावुक को प्रिय हो सकती है पर उसकी संभावना जिन बातों पर की जाती है वह कदापि संभव नहीं।

दि० जैन धर्म तथा उसके जानकार विद्वानो के प्रति इस अनादर पूर्ण व्यवहारसे उपस्थित समाज को धक्का लगा। वहां विद्वानोंके सहयोग से जैन विद्वानों के संगठन के अर्थ विद्वत्परिषद्की स्थापना हुई।

हिन्दू विश्व विद्यालय के प्रा० वि० स० क १२वें अधिवेशन पर प्रो० हीरालाल जी ने एक परचा प्रकाशित किया था जिसमें स्त्रीमुक्ति सवस्त्रमुक्ति, केवलि कवलाहार इन तीन विषयों की पुष्टि की गई थी। यह तीनों विषय दिगम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुकूल हैं। कलकत्ते में इसकी भी काफी चर्चा थी उक्त व्यवहारों से यह स्पष्ट है कि दि० श्वेता० एकता का आधार "दिगम्बर परम्परा को मिथ्या और श्वेताम्बर परम्परा को सम्यक् सिद्ध करना" रखा गया है।

प्रोफे० हीरालाल जी ने उक्त विषय शंका रूप में रखा था, यह विचार हुआ कि यहां वे प्रत्यक्ष मौजूद हैं उनसे इसपर चर्चा चलाई जाय। विद्वानों की तरफ तरफ से पं० राजेंद्रकुमार जी नियतहुए और दो दिन चर्चा चली इससे आगे चर्चा चलाने में प्रो० सा० ने अपनी असमर्थता समयाभाव आदि के आधार पर की। दूसरे दिन संध्या समय कलकत्ता में पंडित ऋषभचन्द शास्त्री के यहां प्रो० से मेरी भेंट हो गई और चूंकि कलकत्ता में उपस्थित विद्वानों ने मुझ में

---

† 'श्री भगवान महावीर का अचेलक धर्म' शीर्षक लेख अलग छप चुका है और पं० नाथूराम जी प्रेमी जैसे विद्वानो ने भी इसकी उपयुक्तता स्वीकार की है।

योग्यता न होते हुए भी विद्वत्परिषद् का अध्यक्ष चुन लिया था सम्भवतः इसलिये प्रोफे० साहब ने मुझ से अवसर न होने पर भी उक्त विषय की चर्चा चलाई। यद्यपि उस वक्त मुझे बातचीत करने का समय न था तो भी मैंने सामायिक का समय टाल कर भी उनको यह अवसर नहीं दिया कि मैंने उनसे चर्चा करने में किसी बहानेसे इन्कार किया है। प्रायः उसी चर्चाका सारांश कुछ बढ़ाकर इस लेखमें मैंने लिखा है। प्रो० साहब ने अपने परचे में यह लिखा है कि जिन तीन् बातों को लेकर दि० श्वे० में मतभेद है वे तीनों बातें दि० स्वीकृत नहीं करते तो भी दि० ग्रंथों से सिद्ध हैं मूल में वे तीनों बातें दि० परम्परा में थीं, बादमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने इन के विरोधकी कल्पना की, तथा बादके सभी आचार्य उसका समर्थन करते आये।

षट्खण्डागम के मूल सूत्रकार श्री भूतबलि पुष्पदन्त है, उन्होंने सूत्रों में अनेक स्थानोंपर मनुष्यनीके १४ गुणस्थान लिखे हैं। ये गुणस्थान द्रव्यवेद स्त्री की अपेक्षा नहीं है, भाववेद स्त्री की ही अपेक्षा हैं—ऐसा टीकाकार श्री वीरसेन स्वामी ने लिखा है, पर प्रोफे० सा० टीकाकार को श्री कुन्दकुन्दाचार्यके समय के बादका होनेसे उनकी तरह अप्रमाणिक सम्प्रदायमोही मानते हैं। प्रो० सा० की उक्ति पर थोड़ा धैर्यसे विचार करनेकी आवश्यकता है, पाठक ध्यानसे पढ़ें।

षट्खण्डागम सत्प्ररूपणाधिकार प्रथम पुस्तक के पेज ३३२ पर सूत्र नं० ९२ इस प्रकार है।

सूत्र—मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि सासण सम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपत्तिज्जयाओ।९२

हिंदी टीका—मनुष्यस्त्रियां मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होती हैं और अपर्याप्त भी। सारांश यह-कि-स्त्री पर्याय में पर्याप्त दशा में भी ये २ गुणस्थान पाये जाते हैं और पूर्वपर्याय से इन दो गुणस्थानों को लेकर भी जीव स्त्री पर्याय में आ सकता है अतः अपर्याप्त दशा में भी (स्त्री की) इन दोनों गुणस्थानों का सद्भाव है। इसके आगे शेष गुणस्थानो केलिये सूत्र नं० ९३ है—

सूत्र-सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।

अर्थात्-सम्यग्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत नामक पांचवां गुणस्थान इन तीनों गुणस्थानों की प्राप्ति स्त्री के पर्याप्त दशामें ही होती है। अर्थात् पूर्वपर्याय से इन तीनों गुणस्थानों को लेकर कोई स्त्री पर्याय में नहीं आता।

दोनों सूत्रोंका उल्लेख इसलिये किया गया है कि पाठक यह समझ लें कि स्त्रियों में कौन २ गुणस्थान वाले जीव आकर उत्पन्न हो सकते हैं और कौन २ गुणस्थान वाले मरकर स्त्री नहीं हो सकते। भले ही स्त्री पर्याय में जाने के बाद वे गुणस्थान हो जावें।

कोई सम्यग्दृष्टिजीव मरकर स्त्री पर्याय नहीं पाता यह इस सूत्रसे सिद्ध है। अब पाठकोंको यह देखना है कि संस्कृत टीकाकार इसकी टीका क्या लिखते हैं और भाषा टीकाकार प्रो० हीरालाल जी उसका क्या अर्थ निकालते हैं। ९३ सूत्र की टीका यह है।

टीका—हुंडावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इतिचेत् न उत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते! अस्मादेवार्षात्।

प्रो० सा०की टीका—हुण्डावसर्पिणीकाल संबंधी स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि जीव क्यों नहीं उत्पन्न होते?

समाधान—नहीं, क्योंकि इसमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं।

शंका—यह किस प्रमाण से जाना जाता है।

समाधान-इसी आगम प्रमाणसे जाना जाता है।

कोई भी पाठक यह सहज ही समझ सकेंगे कि मूल सूत्रकार स्त्री की अपर्याप्त दशामें चौथा गुणस्थान स्वीकार नहीं करते, पर टीकाकार प्रोफे० सा० लिखते हैं कि हुंडावसर्पिणीकाल संवंधी स्त्रियो में सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान वाले उत्पन्न होते हैं, अर्थात स्त्रियोंकी अपर्याप्त दशामें चौथा गुणस्थान होताहै। यह टीका सूत्रकारके सूत्रके अभिप्रायसे बिलकुल उल्टी है।

पाठक सोचते होंगे कि प्रोफे० साहब का इसमें क्या अपराध ? उन्होंने तो संस्कृत टीका के अनुसार लिखा है। यह दोष दिया जाय तो वीरसेन स्वामी को दिया जाय, जिन्होंने संस्कृत टीका की रचना की है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। संस्कृत टीकाकार ने तो ठीक लिखा है। संस्कृत टीकाकार के भाव को न समझ कर हिन्दी टीका लिखी गई है। टीका के शब्द देखिये—इति चेत् न उत्पद्यन्ते। इन शब्दों के बीच में 'न' शब्द पड़ा है टीकाकार वीरसेन स्वामीका अभिप्राय 'न' शब्द को उत्पद्यन्ते के साथ लगाने का है जिससे यह अर्थ होता है कि—"नहीं उत्पन्न होते" पर प्रोफे० साहब ने उस 'न' को उत्पद्यन्ते के साथ न जोड़कर शंकाके चेत शब्द केसाथ जोड़ दिया है जिस से उ ह ने यह अर्थ कर दिया कि 'न' अर्थात् ऐसी शंका न करनी क्योंकि "स्त्रियों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं।"

पाठक समझ सकते हैं कि थोड़ी सी समझ के फेर से अर्थ का कितना अनर्थ हो गया कि सिद्धान्त ही उलट गया। इस तरह विरुद्धता होने पर भी वह उस सूत्रकी टीका संस्कृत टीकानुसार की है यह समझ लिया गया है पर वास्तव में हिन्दी टीका करने में गलती हुई है।

इसी ९३ सूत्र की संस्कृत टीका को आगे पढ़ने के बाद प्रोफे० सा० को यह शंका हो गई कि इस सूत्रमें पांच गुणस्थान ही क्यो लिखे हैं इस सूत्र में एक पद 'संजद' और जोड़ दिया जाय ताकि 'संयत पद' से ६ से १४ तक सब गुणस्थान ग्रहण किये जा सकते है और इस तरह स्त्रियोंके १४ गुणस्थान माननेसे स्त्री-मुक्ति सिद्ध हो जाती है। 'संयत' पद संस्कृत टीकाकार के समय सूत्रमें था यह भी वे टीकासे सिद्ध मानतेहैं।

यह तो सिद्ध है कि मूल सूत्र प्रो० सा० को मिला उसमें 'सजद' पद नहीं है और इसलिये उससे स्त्रियो के ५ गुणस्थानही सिद्ध होते हैं आगे अन्य प्ररूपणा-ओं मे जो वेद मनुष्यणी की अपेक्षा १४ गुणस्थान या ९ गुणस्थान बताए हैं सो भाववेद की अपेक्षा है द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं।

एक ही टीकाकार या मूल ग्रन्थकार एक सूत्र मे स्त्रियों के ५ गुणस्थान, और दूसरी जगह स्त्रियों के १४ गुणस्थान लिखता हो तो इसका यह अर्थ तो नहीं कि ५ की जगह भी १४ सुधार दिया जाय। बल्कि इसका सीधा सा अर्थ है कि एक जगह द्रव्यवेद की विवक्षा है इससे द्रव्यस्त्री के ५ गुणस्थान होते हैं और अन्यत्र या वेदमार्गणा में भाववेद की अपेक्षा कथनहै अतएव द्रव्यपुरुष भावस्त्री के ९ बताये हैं वेदोदय की अपेक्षा, और कहीं २ चौदह बताये है—भूतपूर्व वेदो-दय की अपेक्षा।

यह बात कल्पित नहीं। सस्कृत टीकाकार भी वेद की अपेक्षा वर्णित स्थानों में लिखते है।

अधिकृतोऽत्र भाववेदः।

नौ गुणस्थान केवाद अपगतवेद का वर्णन करना भी इस वात का सूचक है कि वह कथन भाववेद की दृष्टि से है। जव ६ गुणस्थानों का वर्णन भाववेद से ही हो सकता है, द्रव्यवेद से नहीं यह सिद्ध है। तब १४ गुणस्थान का वर्णन इसी भाववेद का भूतपूर्व प्रज्ञापन नयापेक्षया वर्णन है। यह मानकर द्रव्यवेदकी अपेक्षा है ऐसा मानना नितान्त असंगत है जहां ५ से ऊपर ६ भी संभव नहीं, वहां १४ सभव कैसे ?

अब एकबात रह जाती है कि नं० ६३ के सूत्र में 'संजद' पद न होनेपर भी प्रोफे० सा० उसकी कल्पना जिस आधारपर करते हैं और इसी कल्पनासे ५ गुणस्थान की मर्यादा स्त्रियों में से तोड़ देना चाहते हैं उस पर विचार करना है।

वह बात कहां तक संगत है। इस संबंधमें पहिले हीरालाल जी सा० की दलील सुन लीजिए जो टीकाके आधार पर उन्हों ने दी है।

टीका—अस्मदेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत् इतिचेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इतिचेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानि इतिचेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात।

अर्थ-१—इसी आगम से द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति सिद्ध हो जायगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्र सहित होनेसे उन संयतासंयत गुणस्थान होता है। अतः उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न नं० २—वस्त्रसहित होनेपर भी उनके भाव संयम होने में विरोध नहीं होना चाहिए।

उत्तर नं० २—उनके भाव संयम नहींहै, अन्यथा उनके भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादि ग्रहण नही बन सकता।

प्रश्न ३—तो फिर स्त्रियोंमें १४ गुणस्थान होतेहैं यह कैसे बन सकेगा।

उत्तर नं० ३—नहीं, क्योंकि भावस्त्री में अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगतिमें (पुरुषमे) चौदह गुणस्थानों के मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

प्रोफे० सा० का मन्तव्य है कि-संस्कृत टीकाकार के तीन प्रश्नों में से नं० १ में बताया है कि—"इसी आगम से द्रव्य स्त्रियों की मुक्ति सिद्ध हो जायगी।" यहां पर इसी आगमसे अर्थात् "इसी सूत्र से" ऐसा भाव प्रो० सा० ने लिया है। इसी सूत्र से स्त्रियों की मुक्तिका प्रश्न तबही हो सकता है जब सूत्रमें 'सजद' पद और स्वीकार कर लिया जाय।

प्रश्न नं० ३ में भी १४ गुणस्थान कैसे बनेंगे। यह प्रश्न नहीं बन सकता यदि सूत्रमें १४ गुणस्थान बताने वाला कोई शब्द नहो इसलिये द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्ति और १४ गुणस्थान बताने वाला 'संजद' पद टीकाकारके सामने था तब वे ऐसी शंका उठा सके।

आगे की प्ररूपणाओं में मनुष्यणी के १४ गुणस्थान सूत्रों में भी बताए हैं। इन दोनों प्रश्नों और आगे की प्ररूपणाओं के सूत्रों में १४ गुणस्थान की बात पढ कर प्रो० सा० इस ६३ वें सूत्र में 'सजद' मानते हैं। उनका टिप्पण इस बात को सूचित करता है।

इस सम्बन्ध मे मेरा यह स्पष्ट कथन है कि प्रो०सा० का यह नितान्त भ्रम है। यदि सूत्र में 'संजद'

पद टीकाकारके सामने होता तो वे स्वयं उसे स्वीकार करते। उनके लेख से जो उत्तर नं० १ में लिखा है कि 'स्त्रियों के संयतासंयत गुणस्थान तक ही होता है अतः संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती' उनका भाव स्पष्ट है 'संजद' पद सूत्र में उनके सामने रहे और वे लिखें कि उन्हें संयम नहीं हो सकता यह विरुद्धता कब संभव है? अब रही यह बात कि फिर उन्होंने इस सूत्र में द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति और १४ गुणस्थान की सम्भावना" की बात क्यों लिखी।

यथार्थमें आपने आर्षका अर्थ टीका में 'आगम' लिख कर भी उसे भुला दिया और प्रश्न करते समय आगम का अर्थ 'यही सूत्र' ऐसा कर दिया। आगम का अर्थ 'यही सूत्र' नहीं होता। अस्मादेवार्षात् का अर्थ इसी आगम ग्रन्थ से है अर्थात्—पूरा ग्रन्थ ग्रन्थकारकी दृष्टिमें था इस लिये आगामी प्ररूपणाओं में जिन सूत्रों में मनुष्यनी के १४ गुणस्थान लिखे हैं उनकी अपेक्षा प्रश्न न० १ और ३ हैं, न कि ९३ सूत्र की अपेक्षा उसमें तो 'संजद' पद है नहीं। यह दलील देना कि ९३ सूत्रके पूर्व तो १४ गुणस्थान की बात नहीं आई तब प्रश्न कैसे उपस्थित हुआ बिलकुल लचर दलील है। पहले न आने पर ही टीकाकार की दृष्टि में आगे के सूत्र हैं, उनने टीका करते समय आगे के सूत्रों को न पढ़ा हो यह बात तो है नहीं तब यही सम्भव है कि आगामी सूत्रों को लक्ष्यमें रखकर प्रश्न किया है। और आगामी सूत्रों में उक्त १४ गुणस्थान भाववेद से ही हैं द्रव्यस्त्री वेद से नहीं, यह स्पष्ट है।

एक बात और है,—प्रोफे० सा० ने इस ९३ वें सूत्र में 'संजद' पद जोड़कर सूत्र भी छापा बल्कि अपनी कल्पना को टिप्पण में किया है, इस सत्य व्यवहार के लिये हम धन्यवाद देते हैं, तथापि हिन्दी टीका उसी सूत्र की करते समय वे इस प्रकार अर्थ लिख गये हैं मानो सूत्र में 'संजद' पद है ही, ऐसा करने से वह टिप्पण की वस्तु नहीं रह जाती भाषा पढ़ने वाला उसे सूत्र की चीज मान ही लेगा। ऐसा करके प्रोफे० सा० ने हिन्दी भाषा पाठियो के साथ अन्याय किया है।

उन्हों ने सूत्र की टीका लिखी है—

"मनुष्य स्त्रियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि–असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और 'संयत' गुणस्थानों मे नियमसे पर्याप्तक होते हैं। ॥९३॥"

मेरे आरोप की सत्यता पाठक इस टीका शब्दोंसे जान सकेंगे। बौद्धिक ईमानदारी का विद्वानों को उपदेश प्रोफे० सा० ने एक लेख में दिया था पर इस स्थान पर वे स्वयं इसे कायम नहीं रख सके हैं। प्रो० सा० चाहते तो यह भी उस स्थान पर स्पष्ट कर सकते थे कि "मूलसूत्रमें 'संयत' पद न होनेपर भी अमुक २ कारणों से हम उसे रखते हैं, वह वहां होना चाहिए विद्वज्जन इसपर विचार करें।" आपने ऐसा न कर हिन्दी मात्रके जानकार पाठकों केसाथ अन्याय किया है। अपने अभिप्राय को ऐसे कूट मार्गसे पुष्ट करने की प्रवृत्ति निन्दनीय है।

यथार्थ में प्रत्येक अनुयोग द्वारों में गति मार्गणा में मनुष्यनी के १४ गुणस्थानों का प्ररूपण द्रव्यवेदसे नहीं, भाववेद से ही है यद्यपि वेदकी प्रधानता से जहां वर्णन है वहां ९ गुणस्थान ही लिखे हैं अतः यहां भी भाववेद से ९ ही लिखना था न कि १४ ऐसा प्रश्न हो सकता है किन्तु इसका उत्तर टीकाकार ने स्वयं लिख

दिया है कि—गति मार्गणामें वर्णन गति की अपेक्षा है गति जीवन भर नहीं बदलती अतएव द्रव्यपुरुष भावस्त्री के १४ गुणस्थान होते हैं ६ के बाद अपगत-वेद होनेपर भी गति न बदलने के कारण बराबर १४ ही उस गति की प्रधानतासे कहे गये हैं। इस खुलासा के बाद प्रश्न को कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।

मनुष्यणी को सब जगह मनुष्यणी लिखा गयाहै 'योनिमती' शब्द नही, फिर भी प्रो० सा० ने अपने परचे में जो प्रश्न किया है उसमें लिखा है कि—

सूत्रमें जो 'योनिमी' शब्दका उपयोग किया गया है वह द्रव्यस्त्री को छोड़ अन्यत्र घटित नहीं होता।

इसका उत्तर इतना ही है कि मूल सूत्र में और धवला टीकामें सर्वत्र मनुष्यणी शब्द लिखाहै 'योनि-नी' या 'योनिमती' नहीं लिखा फिर प्रश्न कैसा? योनिमती शब्द तो आपने टीका में लिख मारा है। आप स्वयं तो शब्द का अनर्थ करतेहैं और फिर उसे सूत्रकारका शब्द बताकर अपने अभिप्राय को सूत्रकार का अभिप्राय बताने की चेष्टा करते हैं। एक महान ग्रन्थके टीकाकार के लिए यह शोभाप्रद नहींहै। द्रव्य स्त्रियोके मुक्ति न होनेके अनेक कारण शास्त्रकारोंने लिखे हैं उनपर भी विचार करना चाहिए केवल १४ की बात देखकर विवक्षा का विचार न करना अथवा विवक्षा बतानेवाले आचार्यो को अविचारक-सम्प्रदाय मोही बताना एक बड़ा अवर्णवाद है। स्त्रीको मुक्ति न होने के निम्न कारण भी हैं।

१–स्त्रियों के ३ संहनन कर्मभूमि में बताए हैं, चूंकि मुक्ति कर्मभूमि मे ही हो सकती है और वह भी वज्र-वृषभ नाराच संहननसे। यह संहनन स्त्रियों में नही होता।

२–कोई सम्यग्दृष्टि असयत भी मरकर स्त्रियोमे नही जाता यह स्त्री पर्याय इतनी हीन है तब मुक्ति गमन योग्य शुक्ल ध्यान आदि कैसे सम्भव है।

३–स्त्री अपनी पर्याय में सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने पर भी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं प्राप्तकर सकती। जो दर्शन मोह की प्रकृतियों के क्षय की योग्यता नहीं रखती वह सर्वकर्म क्षय करके मोक्ष कैसे जायगी?

अस्तु, कलकत्तामें प्रोफे० सा० का कथन था कि 'कर्मव्यवस्था से 'वेद वैषम्य' सिद्ध नहीं होता अतएव द्रव्यस्त्री भावस्त्री ये भेद ही सम्भव नहीं।' यह विषय विचारणीय है।

* वेद वैषम्य विचार *

-तथा कर्म व्यवस्था-

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंके आ-चार्योंने इस बातको स्वीकार किया है कि जो मनुष्य अपनी शारीरिक रचना से पुरुष होगा उसके भावोंमें पुरुषवेद के सिवाय स्त्रीवेद और नपुंसक शरीर वाले के भी भावमें तीनों वेदोंका उदय पाया जा सकताहै।

जिस विषय में जैन सम्प्रदाय के दोनों फिरके एकमत हैं वह विषय जैनधर्म का मूल-निर्भ्रान्त निर्वि-वाद सिद्धान्त है उसमें कोई भी बुद्धिमान शंका नहीं कर सकता। यद्यपि यह बात नहीं कि यह सिद्धान्त कर्मसिद्धान्त या गुणस्थान चर्चा सम्मत न सिद्ध होता हो, इसे तो हम आगे सिद्ध करेंगे ही, फिर भी यदि मान लिया जावे कियदि यहकर्म सिद्धान्त या गुणस्थान चर्चा में हम और आप जैसे अल्पज्ञों की बुद्धि में न उतर सका तो इसका यह तात्पर्य नही कि हम 'वेद वैषम्य' को भगवान महावीर का उपदेश ही न मानें। अपने को भगवान तीर्थकर सर्वज्ञदेव के मूल उपदेश का माननेवाले श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय हैं। फिर विवाद यहहै कि एक कहता है कि

भगवान ने स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति का विधान किया है दूसरा कहता है कि नहीं किया। वास्तविक बात क्या है यह विवाद की बात हो सकती है, पर दोनों सम्प्रदायवादी कहते हैं कि द्रव्यवेद और भाववेदमें विषमता होती है भगवान का यही उपदेश था, तब 'वेद-वैषम्य जिन भगवान का उपदेश है' ऐसा स्वीकार न करने का कोई आधार नहीं है।

अब रही बात यह कि 'वेद वैषम्य' कर्म सिद्धान्त से कैसे सिद्ध है ? प्रो० हीरालाल जी ने श्री गोम्मटसार जी जीवकांड की गाथा २७१ की संस्कृत टीका मे द्रव्यवेद की उत्पत्ति के जो कारण बताये हैं उनका उल्लेख किया है वह इस प्रकार है—

"जब पुंवेदके उदयके साथ निर्माण और अंगोपांग नामकर्मका उदय होताहै तब शिश्नादि लिंगांकित पुरुष शरीर होता है, और जब स्त्रीवेद के साथ उक्त नामकर्म का उदय होता है तब योनि आदि चिन्ह सहित स्त्री शरीर उत्पन्न होता है, तथा नपुंसकवेद के साथ उन्हीं नामकर्मों का उदय होता है तब उभयलिंग भिन्न नपुंसक शरीर बनता है। यहकर्म सिद्धान्त की नियत व्यवस्था बताकर टीकाकारने क्वचित् विषमत्व की बात यह कहकर समझाई है कि चूंकि 'परमागम' में तीनो वेदो से क्षपक श्रेणी बताई है अतः कर्मभूमि के जीवोमे भाव द्रव्यवेदो मे 'वैषम्य' भी होता है।" किन्तु टीकाकार ने वेद साम्य को जैसी व्यवस्था से समझा कर बताया है वैसे वे यहां नहीं बता सके कि कर्मोदय की कौन सी व्यवस्था से वेद वैषम्य फलित होता है।"

ऊपर लिखी पंक्तियां प्रो० सा० की है। वेद साम्य केलिये जो विवेचन टीकाकार ने किया है वह प्रोफे० सा० को मान्य है किन्तु उसी गाथा में और उसकी टीका में ग्रंथकार जो विषमता की बात वेद के संबंध में कर्मभूमिकी अपेक्षा लिखते हैं उसे वे स्वीकार नहीं करते। किसी वक्ताके अर्धांश को लेकर और शेषांश को अस्वीकार कर उसी पर शका करना युक्ति संगत नहीं, वक्ता का अभिप्राय ठीक वही है जो पूरे वाक्यो से ध्वनित होता है।

जब मूल ग्रन्थ की गाथा को पढ़ा जाता है तब सब बात स्पष्ट हो जाती है। गाथा मे यह स्पष्ट कियाहै कि पुरुष-स्त्री नपुंसक वेदके उदयसे भावपुरुष, भाव-स्त्री-नपुंसक वेद के उदय से भावपुरुष भावस्त्री भाव-नपुंसक होता है। नाम कर्मोदय से द्रव्यपुरुष द्रव्यस्त्री द्रव्यनपुंसक होता है। टीकाकार का लेख और यह लेख दोनों देखने में विरुद्ध से दीखते है पर वास्तवमें विरुद्ध नही इसका सीधा सा अर्थ यह है कि—

"शरीर रचना नामकर्मकी प्रधानतासे और भाव रचना वेद की प्रधानता से होती है।" 'कर्म व्यवस्था तो यह है'। इसमें शारीरिक रचना के प्रति भाववेद को भी टीकाकार ने जो कारण बताया है सो वह मुख्य एक मात्र साधकतम कारण नही बताया। भोगभूमि आदि स्थान जहां द्रव्यवेद भाववेद नियत हैं वहां की अपेक्षा बताया है जैसे भाववेद को द्रव्यवेद मे कारणता टीकाकार ने प्रतिपादन किया है उसीतरह उन्होंने कर्मभूमिमे क्वचित् अकारणता का भी प्रतिपादन कियाहै। अतः द्रव्यभाववेद केलिये यह नियत व्यवस्था नहीं है बल्कि यही नियत कर्म व्यवस्था है कि—"नामकर्म शारीरिक रचनाके लिये सर्वत्र कारण है और भाववेद वेदसाम्य वाले स्थानो पर कारण हो कर भी वेद विषमता के स्थानोमे कारण नहीं।" इस कथन का यह अर्थ हुआ कि भाववेद द्रव्य शरीर की

रचना का एक मात्र साधकतम कारण नही है।

इसके संवध में टीकाकार स्पष्ट लिखते हैं कि— 'प्रचुरवृत्त्या समवेदोदयांकिता भवन्ति क्वचित कर्मभूमिमनुष्य-तियग्द्विके विसदृशाः विषमा अपि भवन्ति' अर्थात् अधिकतर द्रव्यभाव समवेद वाले जीव होते हैं पर कमभूमि के मनुष्य तिर्यंच दोनोंमें विषमता भी होती है। टीकाकार विषमता के संवंध में जवकि लिख रहे हैं कि 'कर्मभूमिकी अपेक्षा' तो कोई भी बुद्धिमान यह समझ सकता है कि 'विषमता का कारण कर्मभूमिकी विषम व्यवस्था है और समवेदका कारण भोगभूमि की द्रव्यक्षेत्र काल भाव आदि की सम व्यवस्था ही है।"

समवेद में कर्म व्यवस्था लिखकर भी समता का कारण नियत कर्मोदय ही नही, वल्कि भोगभूमि की अन्य व्यवस्था भी है। यही-बात नरक और स्वर्ग की है वहां प्रत्येक नियम नियत हैं उनमे अतर नही पड़ता कर्मभूमि में अनेक स्थानो पर अनेक प्रकार की विषमता पाई जाती है अत: वेद में भी विषमता पाई जातीहै इतना स्पष्ट समर्थन होतेहुए भी उसे स्वीकार न करना '४ और ४ आठ होते हैं को न मानने' के समान है।

द्रव्यभाव की अपेक्षा ९ भंग वेद के होते हैं उस पर प्रोफे० सा० ने लिखा है कि—

"द्रव्य में पुरुष और स्त्रीलिंग के सिवाय तीसरा कोई प्रकार ही नही पाया जाता जिससे द्रव्यनपुंसक के ३ भेद अलग वन सकें।"

प्रोफे० सा० का मत है कि भाववेदके पुरुष-स्त्री-नपुंसक जीव भेद ठीक है पर द्रव्य से अर्थात् शरीर चिन्ह से तो पुरुष स्त्री दो ही होते हैं नपुंसक शरीर होता ही नही, नपुंसक यातो पुरुष चिन्हांकित होगा या स्त्री चिन्हांकित। प्रो० सा० की इस बात को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो फिर हम उनसे प्रश्न कर सकते हैं कि—

१-यदि वेद में वैषम्य नहीं होता यह आपका मत है तो नपुंसकवेद का उदय जिस जीवके पाया जायगा वह द्रव्य से नपुंसक होगा या नहीं ?

२-यदि द्रव्यनपुंसक नही होते तो उनके द्रव्य में स्त्री या पुरुष चिन्ह होगा, तब द्रव्यपुरुष भावनपुंसक द्रव्यस्त्री भावनपुंसक ये दो भेद उत्पन्न होकर वेद की विषमता को सिद्ध कर रहे हैं या नहीं ?

सारांश यह है कि 'विषमता' हो ही नही सकती ऐसा एकांत प्रो० सा० मान रहे हैं वह उनकी मान्यता उनके वचन से ही वाधित है जवकि वे भाव नपुंसक को द्रव्यस्त्री या द्रव्य पुरुष स्वीकार करते हैं और द्रव्यनपुंसक को ये मानते ही नहीं तब विषमता तो आपने मानही ली। इस प्रकार 'वेद वैषम्य' कर्म-सिद्धान्तसे भी सिद्ध है। और प्रो० सा० की मान्यता भी प्रकारांतर से उसकी पुष्टि करती है।

प्रोफे० सा० ने कलकत्ता में यह कहा था कि 'वेद वैषम्य' की सिद्धि ही मेरी अशेष शंकाओं का समाधान है। उक्त रीत्या उसकी सिद्धि हो जाती है अतः प्रोफे० सा० के शेष प्रश्न, प्रश्न नहीं रह जाते फिर भी थोड़ा सा विचार करना असंगत न होगा।

संयमी और वस्त्रत्याग

आपने भगवाती आराधना के अपवाद मार्ग के कथन से सवस्त्र संयम की पुष्टि की है। तत्वार्थसूत्रके १० अ० सू० ९ स० सि० से 'सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धि

भूतपूर्वनयापेक्षया" का भी उल्लेख उक्त पुष्टि में किया है। तीसरी बात यह लिखी है कि धवलाकार ने पंच महाव्रत के पालन को ही संयम लिखा है।

उक्त तीन उल्लेख के सिवाय कोई युक्ति व आगम प्रमाण इस संबंध में नहीं दिया। इस विषय में दी गई युक्ति और आगम प्रमाण आपके अभिप्राय के कारण यह है कि—

१-अपवाद मार्ग मुनि के लिये राज मार्ग नहीं उसे उत्सर्ग मान लेना भूल है।

२-सग्रंथलिंग में 'भूतपूर्वनयापेक्षया' शब्द ग्रन्थकार स्वयं लिख रहे हैं उसका अर्थ सिद्ध होनेसे अनन्तर पूर्व आपने अपने अभिप्राय से लगाया है ग्रन्थकारका यह अभिप्राय नहीं है स्वेच्छानुसार अर्थ निकाल कर प्रश्न करना कहां तक युक्ति संगत है।

३-पंचमहाव्रत संयमकी परिभाषामें हैं सो तो ठीक है पर इससे वस्त्र ग्रहण कैसे सिद्ध हो गया जिसके लिये आप इसका उल्लेख दे रहे हैं ? मुनि के सम्पूर्ण नियम पंच महाव्रतों की पुष्टि केलिये होते हैं। वस्त्र ग्रहण में परिग्रह त्याग महाव्रत कहां हुआ वह तो अणुव्रत ही हुआ।

केवली को भूख प्यास की वेदना

इस विषय में आपने कोई युक्ति व प्रमाण नहीं दिये सिवा इसके कि— १-तत्वार्थसूत्रकार ने केवली के ११ परीषह लिखी हैं। टीकाकार ने जो मोह के अभाव मे वेदनीय कर्म जर्जरित हो जाता है यह बात लिखी सो कर्म सिद्धान्त सम्मत नहीं।

उत्तर यह है कि—आपका 'कर्मसिद्धान्त' क्या कोई स्वतन्त्र है ? या जैसा कि कर्मकांड जी आदि में निबद्ध है वही है, यदि वही है तो उन्होंने "मोहनीये के अभाव में वेदनीय को जर्जरित माना है" वहां तो स्पष्ट लिखा है कि—

'घादिंव्व वेयणीयं मोहस्सवलेण घाददे जीवम्' अर्थात् वेदनीय घातियाकी तरह जीवको मोह के बल से दुख देता है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि मोहका बल मिट जाने पर बाधा नहीं दे सकता आपका कोई नवीन कर्मसिद्धान्त हो तो उसे प्रगट करें उस पर भी विचार किया जायगा। समन्तभद्रादि आचार्यों ने क्षुधादि अठारह दोष रहित केवलीको लिखाहै आपके मत से ये सब अप्रामाणिक है ? तब आप "पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्......" इत्यादि उनका श्लोक क्यो उद्धृत करते हैं। यह ध्रुव निश्चितहै कि इस श्लोक का आपने पूरा दुरुपयोग किया है यही कारण है कि आप श्लोक मात्र लिख कर उसका न तो पूर्वापर संबंध निरूपण करते हैं, न उसका अर्थ लिखते हैं उसे दिखाकर ही भोले मनुष्यों को अपने अभिप्राय से राजी कर लेना चाहते हैं। सारांश यह कि आपने उस श्लोक के भावको या तो समझने का प्रयत्न नहीं किया या जान-बूझकर भी अनर्थ करतेहै, दोनों बातें सम्भव हैं।

प्रोफे० हीरालालजी के परचेमें उल्लिखित विषय का संक्षिप्त मे उत्तर मैंने लिखा विस्तृत भी लिखा जा सकता था पर उसके लिये स्थान बहुत चाहिए इस पुस्तक में वह नहीं लिखा जा सकता, अन्य विद्वानो ने भी अपने मन्तव्य लिखे हैं अतएव पिष्ट पेपण न हो इस कारण भी ज्यादा लिखना ठीक नही। अस्तु, अंत में एक बात अवश्य लिखनी है।

इस लेख मे प्रोफे० सा० के लिये संभव है कहीं समालोचनात्मक शब्दावली आ गई हो हमने बहुत चाहा कि आलोचना न होकर विपय का उत्तर मात्र

दिया जाय तथापि कहीं २ आलोचना लेख के संबंध में आ गई है इसका कारण यह है कि प्रो० सा० ने अपना लेख जो लिखा है और जिन प्रमाणोंका उसमें उल्लेख है मेरी समझसे प्रोफे० सा० ने जान बूझकर उस स्थानपर अर्थ का अनर्थ कियाहै। मैं यह जानता हूं कि वे एक बुद्धिमान पुरुष हैं, ज्ञानी हैं, एक बड़े ग्रन्थ के प्रधान टीकाकार हैं, अतः अजानकार तो नहीं हैं पर स्वाभिप्राय पोषणार्थ कहीं २ उल्लिखित प्रमाणों का अनर्थक उपयोग किया है अतएव मैंने यदि कोई शब्द ऐसे लिखे हों जो आलोचनात्मक होगये हों तो मजबूरी है क्षमा करें।

दूसरी बात प्रोफे० हीरालाल जी ने दिग० जैनाचार्य श्री भगवान कुन्दकुन्द को अपने अभिप्राय का पोषक न पाकर बल्कि बाधक पाकर उनके प्रति शिष्टता के नाते भी आदर वाचक शब्दों द्वारा उल्लेख नहीं किया। अपने लेख में ३ स्थान पर 'कुन्दकुन्दाचार्य' मात्र लिखा है जब कि एक साधारण पुरुष के लिये शिष्टता पूर्ण शब्द लिखना इस युग में शिष्टता का नियम माना जाता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि उनकी दृष्टि में वे दिगम्बर सम्प्रदाय की नवीन स्थापना करने वाले सम्प्रदाय-मोही व्यक्ति थे। फिर भी आदर का भाव रखना उचित है। उनकी इस वृत्ति पर भी हमे अत्यन्त खेद है।

अन्तमें मै यह कहूंगा कि आपको अपने अभिप्राय को किसी एक निश्चित कर लिये गये सिद्धान्तको पुष्ट करने में न लगा कर आगम के यथार्थ भाव को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। पाठकों का कर्तव्य है कि प्रोफे० सा० के पीछे न पड़कर स्वाभिप्राय को ठीक करें, आगम का अभ्यास करें और स्वात्म कल्याणकी ओर उन्मुख हो आगम पर श्रद्धा रखें।

श्रीमान पं० श्यामलाल जी शास्त्री,

न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, प्राचीनन्यायतीर्थ,

ललितपुर ।

* श्री समन्तभद्राय नमः *

धिग्दुःषमाकालरात्रिं यत्र शास्त्रदृशामपि
शंकाशूलसहस्राणि चेतांसि भेदयन्ति यत् ।

दिगम्बर और श्वेताम्बर शासन में —मौलिक मतभेद—

दिगम्बर सम्प्रदायमें कुन्दकुन्दाचार्य मूल संघ के प्रणेता हैं मूल संघ के ही नहीं, उपलब्ध और अनेक दिगम्बर संघों के प्रणेताओं ने उन परम्पराओं को सुरक्षित रखने वाले उनके उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने जिनानुमोदित वीरोपदिष्ट समीचीन तत्त्वों की जो सुरक्षा की है उस आज न केवल दिगम्बर जैन समाज बल्कि निष्पक्ष तत्वगवेषी विश्वसमाज के सामाजिक भी श्रद्धा और भक्ति के साथ मानते व अपने हृदय में उच्च स्थान रखते हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में जिन सिद्धान्तों में मौलिक मतभेद है उनमें स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति, सयोग केवलिभुक्ति ये प्रधान सिद्धान्त हैं जिन के आधार पर भगवान महावीर के अपने को अनुयायी मानने वाले दोनों सम्प्रदायों में पृथक्त्व की गहरी खाई बन जाती है। आज के हितैपी लेखक और विचारक उस खाई को भरना चाहते हैं अच्छा है परन्तु वैध कारण, पुष्ट हेतु और समर्थन जो निष्पक्ष भाव से युक्त हो उनका उपयोग एतदर्थ होना चाहिए प्रकृत लेखमें उपर्युक्त कारणोंपर विद्वानोंने पूरा योग नहीं दिया है इसके विपरीत अपना विचार न बताते हुए विचारक ने आचार्यों की सम्मति ग्रन्थोंके अभिमतकी प्रामाणिक छापें लगार कर अपने शंका स्थानों का निर्देश किया है, जिससे ऐसे श्रद्धा प्रधान किन्तु जिनका शास्त्रीय अध्ययन या स्वाध्याय ऊंचा नहीं है लोगों की श्रद्धा का आघात करते हुए धोखे में डालने का खतरनाक प्रयत्न किया है। कहीं २ पर तो प्रकृत उद्धरणों का अर्थ का अनर्थ करने में भी आगा पीछा नहीं सोचा है जैसाकि आगे जाकर देखेंगे—

कुन्दकुन्दाचार्यने स्त्रीमुक्तिका निषेध किया है यह शंकाकारने स्वयं स्वीकार किया है किन्तु यह लिखा है कि "उन्होंने न तो व्यवस्था से गुणस्थान चर्चा की है न कर्मसिद्धान्तका विवेचन किया है" इसके संबंध में जिन्होंने भगवान कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का मनन किया है तथा उनके अनुकूल नयमार्गानुकूल रचना का दृष्टिकोण समझा है वे जानते हैं कि उन्होंने अपने उपदेश या प्रवचन या रचना में शुद्ध निश्चयनयावलंबित उपदेश की प्रधानता रखी है जो शुद्ध द्रव्यको

कर्मबंध का कर्ता ही नहीं मानते वे कर्मके अनुभाव मोह और योग के सद्भावासद्भाव हेतुक गुणस्थान जैसी वाह्य द्रव्यानुयोगिनी चर्चा को छोड़ कर कैसे अपना लेते। वक्ता और लेखक के नयानुमोदित दृष्टिकोण को अपने विभिन्न दृष्टिकोण से विचारानन्तर प्राप्त विभिन्नता वक्ता या लेखक को पर्युनुयोगार्ह नहीं है।

अपितु अपने दृष्टिकोण को उनके दृष्टिकोण से मिलान करते हुए किया गया अर्थाधिगम कभी भी किसी की विवक्षा का घातक नहीं हो सकता, अस्तु कुन्दकुन्दाचार्यने गुणस्थानोंके सम्बन्धमें और उनकी चर्चा करने न करने के सम्बन्ध मे स्वयं कहा है—

मोहनकम्मस्सुदयादु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥

स० प्रा० जीवा० ६८

सामण्णपच्चयाखलु चउरो भणंति बधकत्तारो
मिच्छत्तंअविरमणं कषायजोगाय वोद्धव्वा।
तेसितुणोवियइमो भणियोभेदो दुतेरयवियप्पो
मिच्छादिट्ठीआदी जावसजोगिस्स चरमंतं।
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसभवा जम्हा
ते जदि करंति कम्मं णवितेसिं वेदगो आदा ॥

स० प्रा० कतृकर्मा० ४१-४२-४३

इन गाथाओं की भावभासना व्यवहार नयावलम्बितोपदेश-प्रियों की आंखें खोल देती है। जो आचार्य 'सजोगी जिन को कर्मबंध करनेवाले अगर वे हैं तो अचेतनहैं क्योंकि शुद्धचेतन द्रव्य इन स्थानों का वेदक नहींहै' ऐसा मानतेहैं निश्चित जिस उपदेश की प्रधानता आप चाहते हैं आदृत नहीं ही करसकते थे। इतने पर भी इन दृष्टियों से स्त्रीमुक्ति का निषेध वे नहीं कर सकतेथे समझना अवर्णवादहै। गुणस्थान क्रम से व्यवस्थित और कर्मसिद्धान्त विवेचना युक्त स्त्रीमुक्ति का निषेध कुन्दकुन्दाचार्य ने नहीं किया यह लिखना उपयुक्त होता अगर उनके बाद के संसार मे अन्य आचार्यों ने गुणस्थान क्रम व कर्मसिद्धान्त विवेचनासे साबित कर दिया होता कि स्त्रीमुक्ति शब्दतः दिगम्बराम्नाय मे निषिद्ध है तत्त्वतः नहीं, परन्तु परिस्थिति सर्वथा इसके विपरीत है। सर्व प्रथम कुन्दकुन्दाचार्य ने स्त्रीमुक्ति के संबंध मे अपना दृष्टिकोण इस प्रकार रखा है—

णिच्छयदोइत्थीणं सिद्धीणहि तेणजम्मणादिट्ठा
तम्हा तप्पडिरूव वियप्पियं लिंगमित्थीणं।
पइडीपमादमइया एदासिवित्तिभासियापमया
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलत्ति णिदिट्ठा।
सन्तिधुवंपमदाण मोहपदोसायभयंदुगुंछाय
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासि ण णिव्वाणं।

सर्वप्रथम निश्चयनय से स्त्री को मुक्ति नहीं होती इसका हेतु सर्वज्ञ का ज्ञान बताया है-जिसका निर्देश 'दृष्टापद'के द्वारा कियाहै। इसके आगे व्यवहार नयालम्बित गुणस्थान क्रम व कर्मसिद्धांत का संकेत किया है अर्थात स्त्रियां प्रमदा नित्य प्रमाद-शीला होती है इसी लिये मुनि का सर्व प्रथम गुणस्थान अप्रमत्तविरत, वह प्रमाद की सत्ता को नष्ट नहीं करने वाली स्त्रियो के प्राप्त हो ही नहीं सकता। इसी तरह इसके आगे उन मोहादि कर्मों की प्रकृतियो को बताया है जिनके उदयादिक में मुनित्व स्त्री को संभव ही नहीं होता है। उनका अभाव जो प्रमाद के अभाव में कारण है, स्त्री पर्यायमें नहीं होता तथा अनन्तसुखादि स्वरूप मोक्ष विघातक चारित्र मोह रागद्वेष भय, जुगुप्सा माया आदि कर्मभेदहैं जो स्त्री पर्यायानुषंगी है उनका अभाव हुए बिना महाव्रतत्व या मुनित्व जो

साक्षात्मोक्षमार्ग है, कारणता नहीं आ सकती इसीके संबंधमें चित्तका शीघ्र द्रवित होने रूप प्रकृष्ट राग तदुत्पन्न शैथिल्य तथा मासिक धर्म और असंख्यात लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों के प्रति समय जन्म मरण के स्थान योनि स्तनान्तर नाभि तथा कक्ष विशिष्ट वह शरीर उस संयम का जिसमें प्रति समय सूक्ष्म जीवों की हिंसा भी न केवल द्रव्यतः भावतः भी निषिद्ध और परिहार्य वताई हो आधानक कभी नहीं वन सकता। इसतरह मोक्षके दो कारणोमे पहिला कारण वंधहेत्वभाव इनके नहीं वन सकता इसी तरह निर्जरा दूसरा कारण भी—

"जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चाविसजुत्ता
घोरंचरदि व चिरयं इत्थिस्सण णिज्जरा भणिदा।

के अनुसार सम्भव नहीं है।

कारण निर्जरा ध्यानसाध्य है ध्यान शक्तिसाध्य है शक्ति संहननसाध्य है ये संहनन कर्मभूमिज स्त्रियों में नहीं होते।

आदिमतिगसंहणणं णत्थित्तिजिणेहिं णिद्दिट्ठं
गो० क० ३२

जिनके साहाय्य से प्राप्त ध्यान की उत्कटता इनके नही हो पाती इसी लिये सप्तम नरक जैसे रौद्र नरक प्राप्ति का साधन उत्कृष्ट रौद्र ध्यान नहीं होता उसी प्रकार मोक्ष जैसे शुद्धभाव ध्यान प्राप्त स्थानकी प्राप्ति भी शुक्लध्यान जैसे ध्यान के नहीं होने से नहीं होती इस तरह निर्जरा के भी सिद्ध न होने से स्त्रियो में दोनों कारणों का अभाव होने से उन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं होता। स्त्रियो में इसलिये महाव्रतों का विधान नहीं किया गया है उपचार कथन तो उपचारनय का विषय है निश्चयनय का नहीं वस्तु का स्वरूप दर्शक उपचारनय नहीं होता निश्चय ही होता है इस तरह कुन्दकुन्दाचार्य का स्त्रीमुक्तिके सम्बन्ध में उनका अपना मत व्यवस्था—परिपूर्ण है गुणस्थान क्रम व कर्मसिद्धांत विवेचन प्राप्त है—

आगे आपने जो शास्त्रीय व्यवस्था के नाम से गुणस्थान व कर्मसिद्धान्त के आधार पर इसकी परीक्षा की है उससे उत्पन्न परिस्थिति पर विचार—

षटखण्डागम सूत्र में मनुष्य और मनुष्यनी के पृथक २ चौदह गुणस्थानो का निरूपण किया है इसके साथ यह भी लिखना चाहिए कि नपुंसकों के भी १४ गुणस्थानों का निरूपण किया है ऐसा हो जाने पर स्त्रीमुक्ति जहां संभाव्य हो जाती है वहां नपुंसक मुक्ति की भी सम्भावना हट नहीं सकती और स्त्री-मुक्ति नहीं रहने पर नपुंसक मुक्ति ठहर नहीं सकती अस्तु—

सम्मामिच्छाइट्ठि असंजदसम्माइट्ठि संजदासंजद ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥स०प्र०६३॥

इस सूत्र का अर्थ स्त्रीवेदी मिश्रगुणस्थान असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत गुणस्थानोंमें नियम से पर्याप्तक होती है।

इस सूत्र के पहिले—

सम्मामिच्छाइट्ठिसंजदासंजदसंजदा णियमापज्जत्ता
स० प्र० ६०

इसमें पुंदवेदियों को तीसरे चौथे पांचवें और छटवें गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक वताया है यहां सूत्रकार का दृष्टिकोण भाववेद वर्णन करने का है जैसा कि आगे स्पष्ट करेंगे इससे शंकाकार ने क्या देखा जो अपने पक्ष के समर्थन में सूत्र नं० ६३ को रख दिया है क्या वेद वाक्यों की तरह इन सूत्रों में भी अनेकार्थ समझते हैं प्रकृतमें यदि आपका अभि-

प्राय यहां द्रव्यवेद का ही है क्योंकि भाववेदको आपने केवल उत्तर देने के अर्थ में यहां संकेत माना है पव्यवेद की अपेक्षा ही रखे तो द्रव्यस्त्री के संयता-संयत नाम पांचवां गुणस्थान तक ही तो बताया है १४ कहीं नहीं बताए फिर यह सूत्र आपके पक्ष में क्या अर्थ रखता है।

इस सूत्र में सम्पादक ने एक टिप्पणी लगाई है "अत्र संजद इति पाठशेष: प्रतिभाति" परन्तु यह टिप्पणी द्रव्यार्थ में अनावश्यक और अनाधार है और इस अर्थमे ग्रन्थकार के अभिमत के सर्वथा विरुद्ध है भाव—अर्थ में तो आप स्वीकार कर ही नहीं सकते क्योंकि आपके दृष्टिकोण से भाव प्ररूपणा से संबंध नहीं अन्यथा स्त्रीमुक्ति विघटित हो जाती है ऐसे अर्थ में द्रव्य का प्ररूपण करते हुए स्त्री के पांच गुणस्थानों का कथन अविरुद्ध है फिर भी टिप्पणी को सार्थक समझते हैं तब सूत्र ९० और ९३ में पाठ व अर्थ की दृष्टि से अभेद है सूत्र ९० में ही मनुष्यनी पद बढ़ा देने से सूत्र ९३ की रचना अनावश्यक ठहर जाती है इस तरह इस सूत्र का प्रकृत अर्थ साधन में आपको (द्रव्यवेद सिद्धिमें) कोई उपयोग नहीं हुआ यदि भाव-वेद प्रधानता से स्वीकार किया जाता है तब आपका पक्ष ही समाप्त हो जाता है—

इसी तरह आगे भी आपने जो प्रमाण उद्धृत किये हैं उन पर भी इसी विचारधारा के आश्रय पर आपको कोई स्वपक्ष – साधनार्थ अर्थ लाभ होता दिखाई नहीं देता।

आगे के प्रमाण रूप मे उपस्थित किये गये सूत्रों के विचार करने के पहिले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि उनका निर्देश सूत्रकार एवं भाष्यकार तथा आगे और ग्रन्थकारों ने जिस अर्थ (भाव) की प्रधानता में किया है वह अर्थ संगत भी है या नहीं इसी भाववेद के सिद्ध हो जाने पर ही सूत्रकारादिकों की सारी व्यवस्था संगत और प्रमाणिक हो जाती है सर्व प्रथम भाववेद-परक ग्रन्थकारों के समर्थन को संकेत जैसे हल्के शब्द में द्योतन करने का अभिप्राय क्या है—

क्या धवलाकार या पूज्यपाद तथा नेमिचंद्राचार्य का निजी अभिप्राय यह नहीं है?

या उनके पीछे के टीकाकारों ने श्वेताम्बर मत सम्मत स्त्रीमुक्ति का प्रसंग दिगम्बराम्नाय में आजाने के भय से पश्चात कल्पित किया है?

या मूल ग्रन्थकार को स्वयं द्रव्यस्त्रियों नपुंसकों के भी पुरुषों की तरह १४ गुणस्थान निरूपित करने पर प्राप्त सिद्धान्त विरोधशंका का समाधान मात्र में इस उत्तर का आलम्बन किया है? प्रथम पक्ष में धवलाकार का यह स्वयं का मत है षटखण्डागम के अन्तरानुगम सूत्र १८६ को देखिये—

पमत्तस्स उक्चेद-एक्को अट्ठावीस मोहसतकम्मिओ अण्णवेदो इत्थीवेदमणुसेसु उववण्णो इत्यादि—

यहांपर अण्णवेदो इत्थीवेद मणुसेसु का अर्थ यह है कि स्त्रीवेद से भिन्नवेद की सत्तावाला कोई जीव स्त्री वेदी मनुष्यों में पैदा हुआ यहां अगर भाववेद का तात्पर्य नहीं होता तो स्त्रीवेद मनुष्य ऐसा प्रयोग क्यों होता स्त्रीवेद में पैदा हुआ यही होना स्पष्ट है कि भावतः स्त्री वेदी द्रव्यलिंगी पुरुष में पैदाहुआ। यही प्रमाण वेद वैषम्य में जिसे समीक्षक विद्वान ने नहीं माना है प्रबल प्रमाण है। अगर यहां वेद वैषम्य का अर्थ नहीं होता तो मूल में अण्णवेदो त्थी सु उववण्णो ऐसा पाठ अभीष्ट होता इसीतरह इसके आगे सूत्र नं० १८९ को देखिये—

त्थीवेद मणुसेसु उववरणो अट्ठवस्सिओ सम्मत्तं संजम च जुगवं पडिवरणो अणंताणुबधीविसंजोय दंसणमोहणीय मुवसमिय अप्पमत्तो पमत्तो अपुव्वो अणियट्ठी सुहुमो उवसंतो— आदि निर्दिष्ट है इस में भी स्पष्ट अभिप्राय भाववेद सहित द्रव्यवेद प्रकट करते हुए वैषम्य दिखाने में है इससे पहिले का सूत्र भी प्रमाण कोटि में आ सकता था परन्तु पांचवें गुणस्थान तक स्त्रियों के द्रव्य से भी कोई बाधा नहीं पहुंचती इसी लिये प्रमत्त आदि के निरूपक सूत्रों को दृष्टान्तस्थल माना है। इस तरह इन वेदों के निरूपण में भाव की प्रधानता व्यक्त करने में मूल ग्रन्थकारों का स्वयं का अभिमत है। इसके बाद दूसरा और तीसरा विकल्प कोई अर्थ नहीं रखता इस लिये विचारक इसे संकेत जैसा तुच्छार्थ बोधक न समझें जैसाकि वकील साहब ने लिखकर भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है अस्तु इसके आगे द्रव्य प्ररूपणा सूत्र नं० ४६ में १४ गुणस्थानों को भावस्त्रियों का प्रमाण बताया है और लिखा है कि दूसरे से १४वें गुणस्थान तक का जितना प्रमाण हो उसे पर्याप्त स्त्री वेदियोंके प्रमाणमें से कम कर देने से मिथ्यादृष्टि स्त्रीवेदियोंका प्रमाण आ जाता है इस निरूपण का अर्थ स्पष्ट भाव-वेद साबित करता है—

इसी प्ररूपणा के सूत्र नं १२४ से १२६ तक १२५ सूत्रमें पांचवें गुणस्थान तक के स्त्रीवेदियों का प्रमाण ओघके समान बताया है—

इसी तरह क्षेत्र प्ररूपणा सूत्र ४३ स्पर्शन प्ररूपणा ३४–३८–१०२ से ११० काल प्ररूपणा ६८–८२–२२७ २३५ अन्तर प्ररूपणा ५७–७७–१७८११६२ भाव-प्ररूपणा २२-४१ अल्पबहुत्व प्ररूपणा ५३–८०–१४४ १६१ इन सबका अभिप्राय वेद की अपेक्षा है क्योंकि १४ मार्गणाओं में वेदका ही वर्णन है लिंगका नहीं। द्रव्य में प्रयोग लिंग सहित होता है भाव में वेद सहित यह ध्यान में रख लेने पर कहीं भी कोई अंतर नहीं आता इस तरह उद्धृत यह प्रमाण कार्यकारी नहीं रह जाते हैं।

दूसरे भाववेद की अपेक्षा भी तीनों वेदों वाला मनुष्य पांचवें गुणस्थान से आगे बढ़कर नवमें में वेदों के अभाव को या वेदोदय के अभाव को करता है उसके आगे के गुणस्थानों में वेद का सम्बन्ध ही नहीं रहता इसीलिये वे गुणस्थान अपगत वेदियों के गुणस्थान कहलाते हैं इस दृष्टि से प्रो० सा० के प्रश्न की रूप रेखा गलत हो जाती है स्त्रियों के भी १४ गुणस्थान न होते न कहकर स्त्रियों के भी ६ गुणस्थान होते हैं कहना चाहिए अस्तु—

इसके आगे तीनों भाववेदों के प्रत्येक के साथ तीनों द्रव्यवेद का संयोग हो सकने से नौ प्रकार के जीवों का सद्भाव अनिवार्य है और इसी अर्थ के समर्थन स्वरूप यह कथन—

पुरिसोदयेण चडिस्सित्थी खवणद्धातं पठमठिदी इत्थिस्स सत्तकम्मं अवगदवेदो समंविणासिदि इत्यादि

तथा—

तथाथी पठमट्ठिदीमेत्ता संढस्सवि अन्तरा दु सठेक्क तस्सद्धाति तदुवरि संढा इत्थिं च खवदि थी चरिमे अवगय वेदो संजो सत्त कसाए खवेदि को हुदये पुरिसोदएण चडणविही। सेसुदयाणु टुहेठु वीरं

लब्धिसार–६०६–६०७–६०८।

यह कथन भी सयुक्तिक और निराबधक हो जाता है ऐसा होने पर भी स्त्रीमुक्ति या नपुंसकमुक्ति या पुरुषमुक्ति नहीं रहती अपितु अपगतवेदमुक्ति ही अंत में रहती है।

नौभंगो के व्याख्यान में असंतोपके अनेक उप-कारणसंयुक्त चार कारण वताए है।

सर्वप्रथम-सूत्रोमे जो योगिनी शब्द का उपयोग किया गया है वह द्रव्यस्त्री को छोड़कर अन्यत्र घटित ही नहीं होता—यह प्रश्न है प्राच्य महान सूत्रकारो ने अपनी रचनामे निबद्ध प्रत्येक शब्दकी शाब्दिक शक्ति की अपेक्षा आर्थिक गभीर और व्यापक शक्ति का महान् ध्यान रखा है स्त्री के अर्थमे स्त्रीशब्द का प्रायः प्रयोग न करके योनिनी या योनिमती जैसे व्यापक शब्दो का प्रयोग किया है स्त्री शब्द जहा अपनी योगज शक्ति से वृत्ति नहीं कर सका जैसे कुमारी विधवा वंध्या आदि वहां भी योनिनी या योनिमती योगजशक्तिसे व्यापक अर्थ रखनेकी वजह सूत्रकारो की रचना में स्थान प्राप्त कर सका है पीछे यह भी रूढ़ होकर द्रव्य की तरह भाव अर्थ मे भी स्त्री शब्द की ही तरह प्रवृत्त होता आया है—और इसका अर्थ संगति के अनुसार स्त्रीवेद व स्त्री लिंग होता है।

इस तरह इस कारण की कोई कीमत नहीं है, इसी लिए योनिनी या योनिमती में जुड़े योनि शब्द को देख कर प्रोफे० सा० झट से तत्पुरुप समास के वल पर इस शब्द का वाच्य द्रव्यस्त्री करना चाहते हैं परन्तु योगज शक्ति ही शब्द की ली जावेगी तव स्त्री शब्द रख के भी तो अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता दूसरी शंका—

वेद मात्र की अपेक्षा आठ गुणस्थानो का कथन करना है यह कथन तो व्यवस्थित है क्योंकि क्षपणा या उपशमन काल में इससे आगे यह वेद या वेदोदय ही नहीं है चौदह गुणस्थानों तक जो वेदो की अपेक्षा वर्णन किया गया है उसका तात्पर्य उस गति से है जिसमे वेद विशेपण रहा आया आगे विशेपण नष्ट हो जाने पर गति के रह जाने पर भी उपचारसे विशेपण मान कर मनुष्य गति की प्रधानता में उनकी अपेक्षा वर्णन करना युक्ति संगत है।

इस शंका के कायम रहने पर आपकी मूलशंका स्त्रियो के १४ गुणस्थान वाली खतम हो जाती है उस के कायम होनेपर यह शंका निरर्थकहै। तीसरे प्रश्न में आपने लिखा है कर्म सिद्धान्त के अनुसार वेद-वैपम्य सिद्ध नहीं होता अच्छा होता आप प्रश्न का रूप यह रखते कि 'कर्मसिद्धान्तानुमोदित वेद वैषम्य को हमारी वुद्धि ग्रहण नही करती' अस्तु।

भाववेद चारित्र मोहनीय की अकपाय वेदनीय नाम की प्रकृतियों मे स्त्री वेद पुंवेद नपुंसकवेद है जिनकी उत्पत्ति का कारण प्रकृष्ट क्रोधमानेर्ष्यादि तथा अल्पक्रोध मायाचार राहित्यादि एवं प्रचुरक्रोधादि सहित का अतितीव्रादिभाव क्रमशः तीनों वेदों के वंध के कारण है तथा लिंग या चिन्ह जो नामकर्म की रचनान्तर्गत अंगोपांग कर्म द्वारा रचित है उनके भी कारण शुभ और अशुभ नामकर्मके कारण हैं। अभिप्राय यह है कि वेद घातिया कर्मोंकी प्रकृतिहै और उनके उदयसे प्राप्त होने वाले तथा जीवविपाकी हैं तथा लिंग अघातिया कर्मोंकी प्रकृति स्वरूप पौद्गलिक रचना है जो पुद्गल विपाकीहै दोनो पृथक कर्म अपने २ कारणो से आत्म लाभ करते हुए अव्याहत है एक की सत्ता दूसरे के आधीन नहीं।

भिन्न इन्द्रिय संवंधी उपांगो की रचना देख कर वेद और लिंग मे भी अनुकूलता खोजना आपका ही रिसर्च है—

भावेन्द्रिय के अनुकूल द्रव्येन्द्रिय की रचना का कारण वीर्यान्तरायक्षयोपशमसमर्थित ज्ञानावरण का क्षयोपशम स्वरूप प्राप्त ज्ञान परिणामहै उसका प्रयोग

और उपयोग के आवश्यक द्रव्येन्द्रिय की रचना में मूल हेतु उन प्रदेशो का ही वहां रहना है जहां द्रव्येन्द्रिय निर्मित है। इसी लिये उस भावेन्द्रिय का उस द्रव्येन्द्रिय में ही उपयोग होगा अन्यमे नहीं या अन्य का नहीं। इसी लिये आपने आगे चल कर जो यह लिखा है कि 'पांचों भावेन्द्रियो के पांचों द्रव्येन्द्रियों के साथ पृथक २ संयोग होकर पच्चीस प्रकार ज्ञान होने लगेगा आदि, यह देख कर एक कहावत याद आ गई जो यहां चरितार्थ होतीहै 'जाट तेरे शिरपर खाट, तेली तेरे शिरपर कोल्हू' क्योंकि आप भी वेद वैषम्य सिद्ध होता देख कर इन्द्रिय-विषय वैषम्य भी संभावित करने लगे हैं परन्तु वेद के संबंध में प्रति नियत स्थान में क्षयोपशम के समान जैसाकि भावेन्द्रिय में है नही पाया जाता यह औदयिक भाव है वे क्षायोपशमिक भाव हैं तब वेदोंमें यह नियमही क्या वस्तु है कि जैसा भाववेद उसी के अनुसार वह पुद्गल रचना करेगा और ।।।।। उपांग उत्पन्न होगा क्योंकि प्रकृतियों के उदयमें बंध नियामक हो सकता है आगामी फल नहीं। जीवमे बंध अवस्थाको प्राप्त हुए तीनों वेद अपनी २ स्थिति काल में उदय प्राप्त हो सकते हैं उनके उदय में आने केलिये द्रव्यलिग आवश्यक सामग्री नहीं अगर ऐसा माना जायगा तो रमणकाल के अलावा और समय में वेदों का उदय ही नहीं माना जा सकता क्योंकि आपने लिखा है "यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदय में नहीं आ सकेगा" विद्वानने भावस्पर्शनेन्द्रिय और भाववेद में भेद नहीं समझ कर उसी के आधार पर अपनी विचारधारा उपस्थित की है और उसी के आवेश में वेद साम्य नहीं होगा तो भावचक्षुरिन्द्रिय से श्रोत्र द्रव्येन्द्रिय की उत्पत्ति कौन रोक सकता है यह अभिप्राय भी प्रकट कर दिया है आपके आवेश को यह विचार चेतना शान्त करेगी।

> पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसिच्छिसंढओ भावे
> णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहि विसमा ॥
>
> गो० जी० २७०

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य यहां भाववेद और द्रव्यलिगके पृथक कारण व स्वरूप निर्देश करते हुए उनके साम्य और वैषम्य को स्पष्ट कर रहे हैं इसीलिये आपका यह लिखना 'कि वेद का वध उपांग की रचना करायगा' अत्यन्त असंगत है भिन्न कार्योत्पत्ति भिन्न कारण सापेक्ष होती है चारित्र मोहोदय प्राप्त वेद स्वरूप औदयिक भाव उपांग रचना का कारण नहीं हो सकता क्योंकि यह नाम कर्मकारणक है किसी भी कर्म व प्रकृति के उदय को फलोदय से ही नही आंकिये अन्यथा नारकियों मे सातावेदनीय तींथंकर प्रकृत्यादि व देवोमे आसातवेदनीय निद्रादिक तथा प्रकृत मे पांचवें गुणस्थान से नौवें गुणस्थानों तक वेदों के ही उदय का क्या अर्थ होगा इस लिये आपका यह वाक्य "यदि ऐसा न हुआ तो वह वेद ही उदयमें नही आ सकेगा मार्मिक चोट पहुंचाता है अनुकूल भाववेद के उदय मे द्रव्यवेद का संयोग फलोदयका कारण बनेगा ही। इसलिये यह लिखना कि 'जीवनभर वेद नही बदलता उनकी अपेक्षा संगत है जिनमे वेदसाम्य है। नोकषायांतर्गत वेदहै, कषाय और नोकषायोंका बदलना स्वीकार करते हुए वेदों का बदलना न मानना स्ववचन व्याघात है

चौथे प्रश्न में नौ प्रकार के जीवों की असंगति बताई है परन्तु वेद और लिंग पृथक् २ सिद्ध हो जाने तथा उनका वैषम्य भी मान लेने पर नौ प्रकार बनने में कोई बाधा नहीं। द्रव्यमें नपुंसक नहीहै इस धारा

का जन्म संभवतः जिन धवला के स्थलों ने इन्हें स्त्री मुक्ति का समर्थन करनेकी बुद्धि दी होगी वे ही स्थल नपुंसक मुक्ति समर्थन करनेमे प्रवृत्त हैं इसका निपेध कैसे किया जाय ? इसी लिये वर्तमान D. I. R. की तरह वकील साहव ने दे डाला 'न रहेगा वास न वजेगी वांसुरी' द्रव्य नपुंसक नही है का क्या अर्थ मनुष्यगति मे नहीं है या शेप गतियो मे भी नहीं है शेप गतियो मे नहीं है तो एकेन्द्रियादि तिर्यंचो मे वेनारकियो म कौन सा लिंग होगा। स्त्री लिग और पुलिग तो हो ही नहीं सकते वेद भी इन जीवो के नपुंसक होगा ही, तव आपकी धारणा के अनुसार उसका उदय आने को अनुकूल लिंग जो भी होगा वह नपुंसक लिग ही होगा इस लिये भावनपुंसक जीवोके आपके न मानतेहुए भी द्रव्यलिगनपुंसक ही होगा। रही मनुष्यगति की वात सो यहां भी भाव नपुंसक अगर मान लेते हैं तो वलात उपर्युक्त न्याय से द्रव्यनपुंसक मानना ही होगा। भावनपुंसक का नहीं मानना तो सूत्रों असकृत निर्दिष्ट नपुंसक का निर्देश असम्भव और अप्रमाणित हो जाताहै। भाव नपुंसकके वेदकी उदयावलि किस लिंग मुखेन होगी स्त्रीलिग या पुलिंग द्वारा हो नहीं सकती, वरना स्पष्ट वेद वैपम्य मानना पड़ जायगा उदय नहीं होगा ऐसा नहीं है क्योकि आप सावित कर आये हैं उदय आने को अनुकूल उपाग चाहिए यह मनुष्य गति मे स्त्री पुरुपलिग भिन्न भावनपुंसक का उपांग क्या वस्तु है जो है उसको मनुष्यगतिका द्रव्यनपुंसकलिग कहा जाता है। वर्तमान संसार मे जिन्हे हिजड़े जनखे आदि शब्दो द्वारा कहा जाता है जिनका लिंग न [illegible] से रमण करने समर्थ है, न पुरुप से रमण कराने मे समर्थ है न आकार ही दोनो के लिंगो से मिलता है उन्हें नपुंसक ही कहते हैं ऐसे जीवोंकी क्रियायें वेश भूषा हावभाव वातचीत ऐसी होती है जो न स्त्रियों में न पुरुपों में ही सम्भव है स्त्री पुरुषादि के वेद वैषम्य में कोई वाधा नहीं रह जाती।

आगे आपने लिखा है—

"यदि वैपम्य हो सकता है तो वेदके द्रव्य और भाव का तात्पर्य ही क्या रहा" ?

द्रव्य और भाव का तात्पर्य नहीं रहने से वैषम्य नहीं वन सकता वैपम्य वनने से ही द्रव्य और भाव का तात्पर्य संगत होकर नौ प्रकार के जीवोकी संगति होती है जहा वैपम्य नहीं है वहां द्रव्य और भाववेद दोनो के रहने मे कोई वाधा नहीं पृथक कारण सिद्ध पृथक फल प्रद विभिन्न दो वस्तुओ में क्या कितनी ही वस्तुओं मे कोई विरोध नहीं भासता।

"किसी भी उपाग विशेप को पुरुप या स्त्री कही ही क्यों जाय"?

देव को देव, नारकी को नारकी ही क्यों कहा जाय इसी लिये कि देवगति और नरकगति नामकर्म के उदय प्राप्त हैं तो इसीलिये नामकर्मान्तर्गत आंगोपांग नामकर्म के उदय से पुरुप व स्त्री या नपुंसक क्यों न कहा जाय।

जव अतद्गुण नाम निक्षेप तथा अतदाकार स्थापना जैसे वाह्य निक्षेपों से स्थायी व्यवहार चलता है तव चिन्ह से चिन्हीं के संवोधन करने के अलावा आपही वतावे किससे उसका व्यवहार करे। विभिन्न उपांग के रचे जाने पर भी उदय का विधान किया गया है तथा यह भी सिद्ध किया गया है कि पचीस प्रकार ज्ञान नहीं हो सकेंगे। इस तरह भाववेद की सिद्धि व वेदो की विपमता प्रमाणित करती है कि क्षपक श्रेणी का आरोहण करने वाले जीवो मे जैसे

भाववेदी पुरुष होते हैं उसी प्रकार स्त्रीवेदी पुरुष तथा नपुंसकवेदी पुरुष भी होते हैं स्त्री मुक्ति का अर्थ स्त्री वेदी पुरुष की मुक्ति का है तो ऐसी स्त्रीमुक्ति ही क्यों हमें तो नपुंसक मुक्ति मानने पर भी कोई आपत्ति नहीं रह जाती जिन समीक्षकों का ध्यान स्त्री शब्द देख कर और उसका अर्थ द्रव्य स्त्री करके उसे भी मुक्ति मानने की ओर गया उनका ध्यान नपुंसकों की मुक्ति की तरफ क्यों नहीं गया परिस्थिति दोनों की समान है मालूम होता है गहरी रिश्वत उनकी ओर से मिली है अन्य कारण दृष्टिगत नहीं होता इस तरह शंका रूपमें उपस्थित सूत्रोंका अर्थ भाववेद प्रधानता प्राप्त है और उनका अर्थ द्रव्यतः पुरुष को ही पांचवें से आगे नौवें या चौदहवें तक प्राप्त करता है द्रव्यस्त्री या नपुंसक को नहीं।

जिन स्त्रीमुक्ति मानने वाले मूर्तिपूजकों ने अपनी आराधना के लिये विशाल पुरुष मूर्तियां प्रतिष्ठित कराईं आज तक क्यों स्त्री मुक्तों की ओर की नहीं तो मल्लि की ही मूर्ति तदाकार स्थापना के रूप में आराधना केलिये नहीं मानी क्या इसलिये—

पुरुष जाति जो हमेशा अपने को उच्च स्वाधीन अधिकार संपन्न, शक्ति प्राप्तअनुभव करती है इसके विपरीत स्त्री जो हमेशा अपने शरीर को निंद्य जाति मात्र को नीच पराधीन, अधिकार विहीन. शक्ति हीन मानती रहती है पुरुष का आदर्श नहीं बन सकती सिवा इसके क्या उत्तर है।

इस प्रकार असतोष के अनेक उपकारणों के साथ २ मूल, चार कारणों पर विचार किये जाने के बाद वस्तुस्थिति यह रही कि स्त्रीमुक्ति द्रव्यतः स्त्री को मुक्ति होतीहै लिखना या मानना असंगत युक्ति और आगम प्रति कूल है इस विषय में विचारे गये प्रमाण व युक्तियों की अधिकता का उपयोग लेख का कलेवर बढ़ जानेके भय से नहीं किया गया समीक्षक विद्वान स्त्रीमुक्ति के सबंध में अपना दृष्टिकोण बदलने में इससे सहायता लेंगे।

—संयमी और वस्त्रत्याग—

शंकाकार प्रयुक्त दिगम्बर और श्वेताम्बर शब्दों पर विचार कर लेने से प्रकृत विषय को अधिक बलमिलता है।

'दिगम्बर' शब्द नग्नता का द्योतक व वाचक एक प्राचीन शब्द है जिसका कि प्रयोग संसार के आदि साहित्यसे चला आरहाहै जिसका वह विशेषण बना है ऐसे अपने विशेष्य मुनि के यथार्थ स्वरूप का विज्ञापन करता है उसकी अकिंचन रूपता यथाजात वृत्तिता वीतरागता प्रभृति सांयमिक आत्मिक गुणों का प्रकाश करता है इसके आश्रयपर ही उसके जीवन की सारी कियाएं तपश्चरण और ध्यान समाधि अवलम्बित हैं यह उसका आदर्श है जिसे अपनी जीवन की बाजी लगा कर पूर्ण करने में प्रवृत्त रहता है जबकि श्वेताम्बर शब्द मुनिका विशेषण बनते हुए सिर्फ वह 'सफेद कपड़े वाला है' द्योतनकरता है इसके आश्रयपर ही उसके जीवन की क्रियाएं तपश्चरण और ध्यान अवलम्बित नहीं है इसलिये कि यह आदर्श नहीं है।

विशेषण शब्दगत निवृत्तिपरता जो दिगम्बर शब्दमें है श्वेताम्बर शब्द में विशेषजातीय वस्त्रोपलक्षित पदार्थों की प्रवृत्तिशीलता का दर्शन है साधारण त्यागी को चाहिए कि वह अपनी त्यागवृत्ति को बलवती बनाने के लिए अपना परिकर निवृत्ति प्रधान रखे तब गृहवास छोड़ बनवास करने वाले साधु के सम्प्रदाय का नाम करण उसकी उस इच्छा, उस वांछा को जिसे

नाश करने के लिये वह आगे बढ़ना चाहता है आगे रखकर आदर्श बताया जाता है वहां यह शब्द कहता है कि संयम नहीं किन्तु संयम की विडम्बना है—

इस शब्द की उत्पत्ति भी आचरण हीनतासे संघ वाह्य होनेपर किसी साधु के हठवादसे हुई होगी।

वस्त्र का सर्वथा त्याग न होने से संयमी नहीं हो सकता और न मुक्ति का अधिकारी ही।

साधारण शीत उष्ण की वेदना या अनिगृहीत इन्द्रियावरण की कामना नग्नताजन्य कष्टअसहिष्णुता उस वस्त्रत्याग नहीं करने देती इसका अर्थ अन्तरंग की प्रत्याख्यानावरण कषाये हैं—जिनका उदय साधुवृत्तिता नहीं आने देता अन्तरंग त्याग का वाह्यत्याग दृष्टांतस्थल है वाह्य का परिग्रह अन्तरंग के रागाधिक्य को प्रमाणित करता है ऐसी परिस्थिति में वस्त्रादिक का उत्पादन होते हुए अन्तरंग उसमे अकारण नहीं कहा जा सकता एक अणुमात्र पर द्रव्यका बुद्धि पूर्वक ग्रहण परिग्रह है और उसके होने पर आरंभ निश्चित है आरंभ परिग्रह की सत्ता मुनि मार्ग विरोधिनी है 'मूर्च्छा परिग्रहः' का भी यही अर्थ है और ऐसे परिग्रहों के त्याग करने से वस्त्रादिक का भी त्याग हो जाता है।

भगवती आराधना का उल्लेख करके 'मुनि वस्त्र-पहिन सकता है' ऐसा अर्थ लिख देना श्रद्धालु हृदयों को भारी चोट पहुंचाना है।

उस्सग्गिय लिंगगदस्स लिंगमुस्सग्गिय तयं चेव
अववादियलिंगस्स विपसत्थमुवसग्गियं लिगं।
भ० आ० ॥७६॥

सन्याससमय उत्सर्गलिंग वालातो उत्सर्गलिगही रखे और अपवादलिगवाला उत्सर्गलिग धारण करे—

आवसथे वा अप्पाउग्गो वा महड्डियोहिरिमं
मिच्छजणेसजणेत्रा तस्सहुहोज्जअववादियंलिगं

इन गाथाओंक पहिले अर्हनामाधिकारमें संयमासंयमी तथा अविरत सम्यग्दृष्टि तक को कारण उपस्थित होने पर सन्यास धारण करने की योग्यता बताई है उन्हें भी लिखा है कि वे उत्सर्गलिंग (मुनिलिंग) धारण करे। यही नं० ७६ की गाथा मे उल्लेख किया है इस गाथा मे यह बताया है कि ऐसे प्राणियों को आवास वस्तिका आदि न मिले या अयोग्य मिले, गृहस्थं स्वयं लज्जादि कारणो स या स्त्रीजन आदि निथ्यादृष्टि स्वजनों द्वारा रोकेजाने आदि कारणों के उपस्थित होनेपर आपवादिक ११वी प्रतिमाधारी का लिग धारण करे आगे—

आचेलक्क लोचो, वोसट्ठ सरीरयापडिलिहण,
एसोहु लिंगकप्पो, चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥
भ० आ० ॥७२॥

यहां उत्सर्गलिंग के चार लिगों या चिन्हों का निर्देश किया है। यह है भगवती आराधनाकार की उन गाथाओं मे स्थिति, जिनका उद्धरण देकर प्रोफेसर साहब ने मुनियों का कपड़ा धारण करना समझा है। यहां कोई ऐसा स्वरूप और वर्णन अपवाद लिंग के संबंधमे नहीं है जो प्रकृत को सिद्ध करे।

संभव है गाथाओं की संगति वैठाने को आगे पीछे देखते तो यह भ्रम नही होता।

तत्वार्थसूत्रमे जिन पांच निग्रंथोंका वर्णन किया गया है उनके वस्त्र त्याग नहीं बताया गया तो वस्त्र गहण कहीं बताया गया है क्या ?

उनका विशेष्य निग्रंथ शब्द का स्वरूप जानलेने से वस्त्र क्या सभी परिग्रहों का त्याग समझ में

आ जाता है निर्ग्रंथ शब्द बाह्य परिग्रहरहित अर्थ में प्रयुक्त है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का उल्लेख जो इस अर्थ किया गया है कि उसमें सवस्त्र मुक्ति हो जाती है। तब देखिये प्राचीन दशवैकालिक सूत्र के उद्धरण—

अहावरे पंचमे भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि से अप्पं वा बहुंवा अणु वा थूल वा चित्तमंतं वा अचित्त-मंतं वा णेव सयंपरिग्गहं परिगिण्हिज्जा णेव अण्णेहि परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिग्गिहंतेवि अण्णे ण समणुजानामि जावज्जीवाए इत्यादि—

द० वै० चतुर्थ अ० ११

यहां परिग्रह मात्र का त्याग बताया गया है जिस में कि अणुमात्र का भी संयोग नहीं रहा है वहां वस्त्र पात्र रखनेकी गुञ्जाइश कहांसे आई। इसी प्रकार—

जया पुण्णं च पावं च बंधं मोक्खं च जाणई
तया णिव्विदए भोए जे दिव्वे जे अमाणुसे १६
जया णिविदिए भोए जे दिव्वे जे अमाणुसे
तया चयइ संजोगं सब्भितर बाहिरं ॥१७॥

जया चयइ संजोगं सब्भिंतर बाहिरं
तया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारियं ॥१८॥
जया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारियं
तया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥१६॥

द० वै० च० अ०

इन गाथाओंसे भी स्पष्ट है कि गृहस्थ किस प्रकार वैराग्य को प्राप्त होकर दीक्षा धारण करने के लिये बाह्याभ्यतर परिग्रहों का त्याग करके मुंडित होकर अनगारों में प्रवृत्त होता है तभी उसके उत्कृष्ट संवर और अनुत्तर धर्म लाभ होता है—

जिस श्वेताम्बराम्नाय में शैथिल्योपपन्न वर्तमान सवस्त्र साधुता को देखकर और उसके समर्थक कति-पय वाक्य जिन की रचना शिथिलाचारी साधुओं ने भगवान् महावीर या गौतम गणधर की छाप लगाकर की है उनका मूल्य इन मूल वाक्यों के सामने कुछ नहीं रह जाता ऐसी परिस्थितिमें निर्ग्रंथ शब्द निर्दोष होता हुआ अपने विशेष्य पुलाकादिकों में प्रवृत्ति करता हुआ सवस्त्रता जैसी बहुत दूर की वस्तुओं के सबंध से पृथक करता है।

वकुशों के शरीर के संस्कार का अर्थ कपड़े पहिनना नहीं, किन्तु शरीर में यदा कदाचित् ममत्व-बुद्धि के अंश का पैदा हो जाना है क्योंकि इनको 'अखंडितव्रताः' विशेषण दिया गया है कभीर शरीर व पीछी आदि उपकरणों को शोभित रखने की भावना पैदा होना जिसका अर्थ मल परीषह का अजय या रति प्रकृति का प्रकृष्ट उदय हो जाना ही है।

'भावलिगं प्रतीत्य' आदि का अभिप्राय यह है भावलिग के आलंबन से पांचों ही निर्ग्रंथलिंगी हैं द्रव्यलिग की अपेक्षा भेद नहीं है और है भी अर्थात् द्रव्यलिग से निर्ग्रंथ है उसी द्रव्यलिंग में बाह्य साधन सामग्री जिसके होने न होने से भावोंका तारतम्य होता है इस अपेक्षा भेद प्राप्त है।

परन्तु यह भेद वस्त्रादि सद्भाव या असद्भाव कृत नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने में 'निर्ग्रंथाः' पद व्यर्थ हो जाता है।

इसीतरह निर्ग्रंथलिंगेन सिद्धिः, सग्रन्थ लिंगेन वा भूतपूर्वनयापेक्षया इसमें भी कोई बाधा प्राप्त नहीं है—

क्यों कि 'सग्रंथलिंगेन वा मुक्तिर्भवति भूतपूर्व-नयापेक्षया' यहां भूतपूर्वनय का एक पूर्व किया गया अर्थ यद्यपि नहीं है फिर भी अंतसमय क्षय होनेवाली अयोग केवली की १३ प्रकृतियां जिनमें जाति गति शरीर आदिक भी हैं उनकी अपेक्षा सग्रन्थ मुक्ति है क्योकि मुक्त होने के एक समय पहिले यह रहती है। व्यवहित भूतपूर्वनय की अपेक्षा प्रकृत अर्थ मे है इसी लिये गत्यादिक की तरह पूर्व अपेक्षा सग्रन्थ मुक्ति है जो पहिले सग्रन्थ था वही तो निग्रंथ होकर मुक्त गया इस नय के प्रयोग में कोई बाधा नहीं आती।

धवलाकारोपदिष्ट पांच वृत्तों मे अन्तर्गत परिग्रह त्यागवृत्त मे वस्त्रत्याग हो जाता है।

भगवान् कुन्दकुन्दके इन वाक्योंके उद्धरण देकर-

"पाखडिय लिंगाणिय गिह लिंगाणिय बहुप्पया-णाणी, धित्तु वदन्ति मूढा लिगमिणं मोक्खमग्गोत्ति॥

णयहोदि मोक्खमग्गो लिंग ज देणणिम्ममा अ-रिहा लिंगं मुइत्तु दंसणणाण चरित्ताणि सेवन्ति॥

णविएसमोक्खमग्गं पाखण्डी गिहमयाणि लिंगा-णि दंसण णाणचरित्ताणि मोक्खमग्ग जिणा विंति॥

स० प्रा० सर्व वि० १०२॥

निश्चयदृष्टिसे प्रकाश डालते हैं कि रत्नत्रय मार्ग के अलावा गृहीलिंग पाखंडी लिंग आदि मोक्षमार्ग नहीं हैं उसी का साधक निग्रंथलिंग ही मुक्ति का लिंग है विभिन्न लिंगों से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है क्योंकि वह अभिन्न कारण साध्य है। इसतरह कुन्दकुन्दाचार्य व अन्य आचार्यों का किया गया निर्ग्रंथता स्वरूप दिगम्बरत्व का विधान प्रमाण ग्रन्थो से मेल खाता है और इसी लिये दिगम्बरता जैसी प्राचीन वस्तु जो उभय मत सम्मत है परम्पराय से सुरक्षित चली आ रही है हमेशा कलिकालके प्रभाव से प्रवृत्ति में अशुभता या अशुभतरता अशुभतमता आती है या आ सकती है। इसी से सिद्ध है कि भगवान महावीर के उत्तर काल से शारीरिक संगठनों की कमी परिणामो में अस्थिरता कषायाधिक्य आदि उत्पन्न हो जाने के कारण जो उत्सर्ग मार्ग दिगम्बर मार्ग पर नहीं चल सके, पदच्युत हुए और मनुष्य-सम्भव अपने पद की रक्षा के अभिमान ने अपने उस शिथिल चारित्र को श्री भगवान महावीर के नाम से उनके उपदेश की छाप लगा दी। काश निसर्गमार्ग सवस्त्रता भी होती तो दिगम्बरता जैसी कष्टसाध्य कठोरचर्या की ओर ऐसे समय में जब कि शारीरिक शक्ति के ह्रास के साथ २ मानसिक व आत्मीय बल की कमी हो रही हो, कषाय और विषयाशा संसारकी तरफ खींच रहे हो साथ में फल मे कोई विशेषता न हो तो हठ से भी कोई उसके स्थान पर इसे स्थान नहीं दे सकता। यह माना हुआ सिद्धात है कि ढालू जमीन मे डाला गया जल नीचेकी ओर जायगा ऊपर की ओर नहीं।

इस लिये सिद्ध है कि संयमी का समानाधिकार वस्त्रत्याग ही है सवस्त्रता नहीं और इसी लिए सवस्त्र संयमी नहीं और इसी लिये मोक्ष प्राप्त करने का वह अधिकारी नहीं।

क्या केवलीके भूख-प्यासादिकी वेदना है?

कुन्दकुन्दाचार्यने ही क्यों उनके पहिले और बाद के तमाम आचार्यों ने सयोग केवली के क्षुधादि १८ दोषों का अभाव माना है इन १८ दोषो में सब या कोई भी रहना उनकी वीतरागता और सर्वज्ञता के

बाधक हैं। इसी लिये दोषाभाव और वीतरागत्व की व्याप्ति बनती है— आगे समीक्षक ने तत्वार्थ सूत्र कार के स्वरूप प्ररूपक सूत्र "एकादश जिने" को विधिपरक मानकर जो अर्थ किया है और उस अर्थ में सबललासे तत्वार्थ सूत्रकारको घसीट कर अपना अर्थ समर्थन कराना तथा उस सूत्रके टीकाकार या वार्तिक कारों द्वारा किये गये व्याख्यान को 'सिद्ध करने का प्रयत्न' जैसे तुच्छ शब्दसे निर्देश करते हुए जो परिस्थिति पैदा की है वह विषम है—

केवली में क्षुधादि प्रवृत्ति-निमित्तता वेदनीय कर्म द्वारा मानी जाती है इसी वेदनीय के लक्षण पर विचार कर लेने से यह प्रश्न हल हो जायगा—

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहसरूवयसादं
दुःखसरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं ॥

गो० क० १४

इन्द्रियों का अपने २ रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है सुखरूप अनुभव सातावेदनीय तथा दुःखरूप अनुभव असाता वेदनीय है इन दोनों तरह के अनुभवनोंको छोड़ वेदनीय कोई अन्यस्वरूप नहीं वेदनीय कर्म के लक्षणमें मोह का अनुभाव या सुखात्मक व दुःखात्मक अनुभव कराने के प्रधान कारण रागद्वेष मौजूद हैं कहीं नोकषयोदय प्राप्त रति अरति भी इनमें बल देते हैं इस तरह क्षायोपशमिक इन्द्रिय ज्ञान और मोह का प्रभाव मिल कर उदय प्राप्त वेदनीय का लक्षण बना देते हैं जहां तक इन दोनों का साहचर्य इसे मिलता जाता है वहां तक इसके उदयमें कोई बाधा नहीं पहुंचती।

मोह के प्रभाव का समर्थन—

"घादिववेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं"

गो० कर्मकांडके इस वचनसे हो जाता है। यहां जीव के घातकाभिप्राय इष्टानिष्ट विषय प्रवृत्त उपयोग का स्वस्वरूपादि गुणोंमें प्रवृत्त न होने मात्रसे है इसी लिये औपचारिक है अन्यथा इसे घातिपना प्रसंगोपात्त हो जाता अस्तु, प्रकृत में (केवली में) मोह का प्रभाव नष्ट हो जाने तथा इन्द्रियों द्वारा अनुभवन न होनेसे पूर्वोक्त वेदनीयका लक्षण जो शास्त्र सम्मत है केवली के उदय प्राप्त वेदनीय में घटित ही नहीं होता क्योंकि क्षायिक ज्ञानादि लब्धियो के प्राप्त हो जानेपर क्षायोपशमिक इन्द्रियज्ञान और उनके अनुभव यहां नही हैं अब वह वेदनीय जो छद्मस्थ में सफल प्रवृत्त होती थी यहां नहीं हो सकती क्योंकि यह लक्षण लक्ष्य में ही नही रहा इसी लिये केवली की वेदनीय का (उसमें उदय प्राप्त है) दूसरा लक्षण करना पड़ेगा और वह इस लक्षण से भिन्न होगा।

इस दृष्टि से वेदनीय के प्रभावक मोहनीय और सहायक ज्ञानावरणीय प्राप्त क्षयोपशम के नष्ट हो जाने से स्वयं प्रभाव्य वेदनीय केवली में क्षुधादि प्रवृत्ति के प्रति प्रभावक नहीं बन सकता और उसकी स्थिति समय प्रमाण है उदय होतेहुए भी सत्ता समान है उसका कोई फल वहां नहीं है ग्रन्थकारने लिखा है कि यह घातिया कर्मोंकी तरह जीवका घात करता है तब घातिया कर्मो की शक्ति और व्यक्ति के अभाव हो जाने के समय वेदनीय की शक्ति का नाश हो जाना माना जायगा केवल उसकी व्यक्ति स्थिति लिये हुए प्रदेश रह जांयगे वे क्षुधादि में प्रवृत्त करने में समर्थ नही। विषधर को विष रहित कर देने पर जैसे उसमें प्राणघातक शक्ति नहीं रहती उसी प्रकार यहां भी निःशक्ति वेदनीय केवली में ११ परीषहें

पैदा नहीं कर सकेंगी। सूत्रकार ने निर्देश कारण की सत्ता मात्र की अपेक्षा किया है केवली में परीषहों का होना देखकर नहीं। कारण असमर्थ हो तथा उपादान स्वयं तदनुकूल परिणत होने में शक्ति शून्य हो तो कारण कार्य पैदा ही नहीं करेगा उसी असमर्थ कारण को कारणता दिखाने के अर्थ में सूत्रकार का सूत्र और व्याख्याकारों की व्याख्याये निराबाध हैं।

कर्मसिद्धान्त की व्यवस्था से अप्राप्त भी भोजन केवली के क्यों माना जाता है ?

शरीर स्थिति के लिये? नहीं क्योंकि केवल कवलाहार ही शरीर स्थिति नहीं रखता।

नोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्यमाहारो
ओजमणो विय कमसो आहारो छव्विहोणेयो ॥

बल्कि इन छः प्रकारीय आहारों में केवली के शरीर स्थिति में सहायक नोकर्माहार है जिसका—

पडिसमयं दिव्वतमं जोगीणोकम्म देहयडिवद्धं
समयपवद्धं वंधदि गलिदव सेसाउमेत्तठिदी ॥

स्वरूप यह है, ग्रहण करते हैं।

फिर भी केवल ज्ञानी अगर आहार ग्रहण करते हैं तो केवलज्ञानोपयोग से या भिन्नेंद्रियोपयोग से केवलज्ञान दशामें भोजन करना सम्भव नही क्योंकि बिना उपयोग के भोजन उन्मत्त ही करते हैं विवेकी नहीं तथा इसी बुभुक्षा पिपासादिकी तरह क्या रिंरंसा भी मान लेंगे क्योंकि यह एक इच्छा है अगर इच्छा है तो सब कामित किये जा सकते हैं। अगर नहीं है तो केवल वेदनीय के नाम मात्र बल पर भोजनादि भी नहीं कहे जा सकते। अन्यथा रथ्यापुरुषवत् वह संसारी ही होगा हमारा पूज्य हितोपदेष्टा नहीं। इस तरह प्रोफे० सा० का यह लिखना कर्म-सिद्धांतसे युक्ति युक्त सिद्ध नहीं होता, सरासर असिद्धहै। प्रकृतमें उपसंहारात्मक परिस्थिति यह रह जातीहै कि मोहानुभाव सहित वेदनीय की सन्तति क्षीण होकर विशुद्ध परिणामों से बन्धी वेदनीय जिसमें मोह का प्रभाव नहीं हो उसका उदय कोई बाधा-प्रद नहीं हो सकता समयस्थितिक बन्धवाली वेदनीय उदयावलि में पहुंच कर अविपाक निर्जरा रूपहोकर निर्जीर्ण होती जायगी

सयोगी और अयोगी में वेदनीय का उदय मानने का कारण तो योगकृत बंध है उदय में कारण हम बंधको समझें फल को न समझें तो कोई शका ही नहीं रहजाती है

अन्त मे समन्तभद्राचार्य ने—

पुण्य ध्रवं स्वतो दुःखात् पाप च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ९३

इस कारिका के उल्लेखसे तो आपने अपने न्याय विषयक ज्ञानको न्याय के विद्यार्थियों द्वारा परिहसनीय ही बनादिया है क्यो कि यहां 'वीतराग': मुनि: का विशेषण बना है जैसे दूसरी वार विद्वान् विशेषण बना है। अभिप्राय यह है कि एक वीतराग इष्टानिष्ट पदार्थों में समबुद्धि मुनि जब कायक्लेशादि रूप पर–जनों द्वारा ऐसा समझा गया कि यह कितना दु:ख उठा रहा है अपनेमें दु.ख पैदा करने से पुण्य बध से तथा दूसरा विद्वान् साधु शास्त्राध्ययनादि क्रियाओं से स्वयं आनंदका अनुभव करता हुआ पाप से बंध जायगा यह अर्थ है। आपने 'वीतराग' पदको देखकर सयोगी अर्थ समझा है जो कि वस्तुतः नही है क्यो कि सयोगी दुःखी नहीं पाया जाता कारण उस की असाता भी साता रूप से परिणत होकर उदय प्राप्त होती है ऐसी परिस्थिति में स्वात्मनि

सुखी प्रकृत पुण्यंबध का दृष्टान्त कैसे हो सकता है इसी अर्थका समर्थन अष्टशतीकार भट्ट अकलंक देव ने इस प्रकार किया है 'आत्मसुःखदुःखाभ्यां पापेतरैकान्तकृतान्ते पुनरकपायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात् ततो न कश्चिन्मोक्तुमर्हति तदुभयाभावासंभवात्' यहां अकपायका अर्थ ईषत्कपाय वाला है या श्रेणी में १०, ११, १२वें गुणस्थान वाला है उसमें तपश्चरण ध्यानादि द्वारा दुःख जिसे सांसारिक दुःख समझते हैं, पैदा होता है १३वें वालेके नहीं क्योंकि वे ध्यानादि कायक्लेशादि तपशून्य है तथा मोक्तुमर्हति कहे जाने वाले ईषत्कषायी साधु ही होंगे मुक्त या जीवन्मुक्तनहीं इस तरह विचार के वाद इस कारिका को प्रकृत में जहां कि आपने उद्धृत की है कोई उपयोग नहीं होता सो विचार लें।

इसतरह उपर्युक्त मूल तीनों सिद्धान्तों पर किया गया विचार दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शासनो के भारी मौलिक मतभेदको सिद्ध करता है

इस निबंध में किया गया विचार विद्वान् शंकाकार को वस्तुस्थिति तक पहुंचाने में उपादेय होगा।

१८

श्रीमान पं० दयाचन्द्र जी शास्त्री,

श्रीनाभिनन्दन विद्यालय,

–बीना–

---

* श्री वीतरागाय नमः *

संसार प्राणियों का खजाना है, वे तीन भागों में विभक्त हैं १ बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा। जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं वे बहिरात्मा नाम से कहे जाते हैं। वे आत्मायें जोकि सम्यग्दर्शनसे विभूषित हों, ज्ञानचक्षु से मोक्षपथ का अवलोकन करती हुई उस पर गमन करती हैं अन्तरात्मा शब्द से जगत में प्रसिद्ध है। आत्मा का तीसरा भेद परमात्मा है उसके भी दो विभाग हैं १ सकल परमात्मा और २ निकल परमात्मा। उनमें से निकल परमात्मा वे हैं जो द्रव्यभाव व नोकर्म से रहित हैं सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों से देदीप्यमान हैं सैंकड़ों कल्पकाल व्यतीत हो जाने पर भी जिन आत्मओं में कभी विकार होने वाला नहीं है जो सिद्ध और शुद्ध हैं। अब विचारणीय हैं सकल परमात्मा, यह आत्मा की एक विचित्र अवस्था है. इस अवस्था में विद्यमान आत्मा अष्ट कर्म रहित न होने के कारण सिद्ध (मुक्त) भी नहीं कही जाती और संसारी की तरह अनन्त संसारानुबन्ध न होने से संसारी या अमुक्त भी नहीं कही जा सकती। ऐसी दशा में आत्मा को 'जीवन्मुक्त' आदि दूसरे शब्दों से प्रयुक्त किया जाता है अर्थात जो संसारी होते हुए भी मुक्त हैं या मुक्त की तरह हैं, जिनके ४ घातिकर्म का अभाव और अघाति-चतुष्टय का सद्भाव है, घाति-चतुष्टय का अभाव होने से ६३ प्रकृतियों का बन्ध-उदय-सत्व आदि सबका अत्यन्त क्षय होने के साथ ही अनन्त चतुष्टय का आविर्भाव आत्मा में हो जाता है। केवलज्ञान मुख्य होने से उनको केवली शब्द से कहा जा सकता है। इस दशा में जो अघातिचतुष्टय की सत्ता है वह घाति कर्म का क्षय हो जाने से कुछ भी कार्य करने को समर्थ नहीं, वह तो सत्तामात्र जली हुई रस्सीकी तरह है। घातिकर्म के बिना अघातिकर्ममें स्वतंत्र फलदा शक्ति नहीं है, पर घातिक्षयके पूर्व जो अघातिकर्म का प्रभाव प्रबल था वह न होकर मात्र कुछ समय सत्तादि बन्धन है अतः मुक्त दशा नहीं कही जाती। प्रकृति-सिद्ध प्राचीन दिगम्बर सिद्धान्त के अनुसार जीवन्मुक्त आत्मा में अतिशयों की विशेषता होती है—घातिकर्म के क्षयपूर्वक अघातिकर्म निर्बल हो जाने से पुण्यविशिष्ट आत्मा में अतिशय प्रगट होना स्वाभाविक है ये अतिशय ११ प्रकार के होते हैं। जो केवलज्ञान होने पर प्रगट होते हैं।

श्रीत्रिलोकप्रज्ञप्ति भाग १ के पृष्ठ २६३ में श्रीयति वृषभ आचार्य कहते है।

जोयणसदमज्जादं सुभिक्खदा चउदिसासु णियराणा
णहगमणाणमहिंसा भोयणउवसग्गपरिहीणा। ।८९९।

तथा ९०० से ९०६ तक की गाथायें हैं। इन गाथाओं मे केवलज्ञान के होने पर ११ अतिशय

केवली के दर्शाये गये हैं। आ० कुन्दकुन्द और श्री यतिवृषभ आचार्य में समय का विशेष अंतर नहीं है। इन केवली के अतिशयो के विषय मे जो पूर्ववर्ती श्री कुन्दकुन्द आ० ने प्रतिपादन किया है वही उत्तरवर्ती श्री यतिवृषभाचार्य ने तथा उत्तरोत्तर कालवर्ती उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलंकदेव, समन्तभद्र इत्यादि— आचार्यों ने प्रतिपादन किया है। कहीं पर स्पष्ट विरोध दिखाई नहीं देता।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उक्त अतिशयो की पूर्णता नहीं मानी गई अर्थात् केवली के भोजनाभाव तथा उपसर्गाभाव नहीं माना शेप अतिशय प्रायः माने गयेहैं। पर यह विषय युक्ति व प्रमाणसंगत नहीं है।

श्री प्रोफे० हीरालाल जी नागपुर ने—

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस मे अखिल भारतीय प्राच्यसम्मेलन के १२वें अधिवेशन के समय अध्यक्षपद से स्त्रीमुक्ति सवस्त्रमुक्ति और केवली के भुक्ति तथा उपसर्गादिक होने के विषय में अपने विचार प्रगट किये हैं जो श्वेताम्बर मत का समर्थन करते हुए उसकी पुष्टि करते हैं। आप का यह विचार विरोधपूर्ण है आपने अपने विचारो को पुष्ट करने के लिये दि०आचार्यों की कृतियों में भी विरोध दर्शाने की चेष्टा की है आपने अपने ट्रेक्ट मे लिखा है कि—

"कुन्दकुन्दाचार्य ने केवली के भूखप्यासादि की वेदना का निपेध किया है पर तत्वार्थसूत्रकार ने सवलता से यह सिद्ध किया है कि वेदनीयोदयजन्य क्षुधा-पिपासादि ११ परीपह केवली के भी होते हैं। 'एकादश जिने' इस सूत्र में सर्वार्थसिद्धिकार तथा राजवार्तिककार ने जो क्षुधादिवेदना का अभाव केवली मे सिद्ध किया है वह कर्मसिद्धान्त से घटित नहीं होता इत्यादि'।

अब इसके उत्तर में विचार करना आवश्यक है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने जो क्षुधादि वेदना का अभाव केवली के बतलाया है उसी का अनुसरण करते हुए उन के निकट उत्तरवर्ती उमास्वाति आचार्य ने भी "एकादश जिने" इस स्वरचित सूत्र मे वही भाव दर्शाया है। यद्यपि सूत्र मे गिनती के ६ अक्षर अवश्य हैं पर उन्ही अक्षरो के बल पर सहसा यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि मुख्यतः वेदनापूर्वक ही केवली के ११ परीपह होते हैं। सूत्र अल्पाक्षर और सोपस्कार होते है।

दूसरी बात-अनेक आचार्यों की टीकायें इन्ही सूत्रो पर है उनमें परस्पर कहीं भी विरोध नहीं देखा जाता। जिनभगवान मे जो ११ परीषह है वे उपचार से हैं मुख्यतः नहीं, ध्यानकी तरह। यहां पर उपचार का कारण- जिन मे ११ परीषहो का कारणभूत-वेदनीय का सद्भावमात्र है। यहां कारण के सद्भाव-मात्र से कार्य की कल्पना की गई है इसलिये मुख्य के अभाव मे उपचार प्रवृत्त हुवा। यहां प्रश्न हो सकता है कि जब वेदनीय कारण है तो ११ परीषह रूप कार्य होना चाहिये।

इसका उत्तर है कि यहां कारण शब्द सामान्य है। समर्थकारण के रहते कार्य की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। मोहनीय के अभाव में वेदनीय समर्थकारण नही, अतः ११ परीषहो की उपस्थिति नहीं हो सकती। वेदनीय असमर्थ कारण है मोह बिना। जिसप्रकार सेनापति के रहते सेना विजय का समर्थ कारण है उसके अभाव मे नहीं, उसी प्रकार वेदनीय कर्म है। जिस प्रकार सेनापति के मरने पर साहस और जोश-हीन होने से सेना अपने मे

निर्बलता या अनाथ का अनुभव करने लगती है तथा युद्धक्षेत्रमें हथियार आदिके रहते भी पूर्ववत युद्ध नहीं कर सकती, उसी तरह आत्मा में निबेल वेदनीय का उदय रहते भी मोहराजा के अभाव में पूर्ववत वेदनानुभव नहीं होता चाहे बाह्यसामग्री हो या न हो।

दूसरी बात-मोह नाश होने से वेदनीय में स्थिति और अनुभाग भी नहीं होता। केवल सत्ता और उदयमात्र काय योग के बलपर होता है वेदनानुभव नहीं। (देखो-सर्वार्थसिद्धि अध्याय ६ सूत्र ११ की टीका।) प्रकृति-प्रदेश एक समयमात्र रहते हैं। जब घातिकर्म का उदय रहता है तब आत्मा के ज्ञानादिगुण अव्यक्त रहते हैं और वेदनीय कर्म में जोश रहता है इससे शक्ति हीन आत्मा में सुख दुख का वेदन होता है। और जब घाति-क्षय से आत्मा में अनन्तगुण विकसित हो जाते हैं तथा वेदनीय का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है तब अनन्तगुणशाली आत्मा में निर्बलवेदनीय का कोई असर नहीं पड़ता, उसके उदय रहते हुए भी। अनन्त सुख के सामने वेदनीय का सुख दुख कुछ बल नहीं रखता, जैसे सूर्यप्रकाश में दीपक और मंत्रके समक्ष विष।

जब केवली में वेदनीय-जन्य क्षुधादि वेदना नहीं है तब उसके प्रतीकारार्थ कवलाहार मानने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि अस्मदादि की तरह वेदना प्रतीकारार्थ कवलाहार मानने में आप्तत्व का विच्छेद हो जायगा। संसारी अन्यप्राणी और केवली में कोई भेद न रहेगा। कवलाहार से रागद्वेषइच्छा रूप मोहका सद्भाव, उससे घातित्रयका सद्भाव, उससे वीतरागता का अभाव-उससे सर्वज्ञता का अभाव-उससे हितोपदेशकता का अभाव होने से आप्तत्व का नाश होता है इसलिये केवली के कलवाहार का अभाव मानना आवश्यक है।

प्रश्न— कवलाहार के बिना केवली के शरीर की स्थिति कैसे रहती है। इसका उत्तर यह है कि लाभान्तराय के क्षय से प्रतिसमय आनेवाले, (कवलाहार के बिनाही केवली के शरीर की स्थिति) बलप्रद-परमशुभ-सूक्ष्म-अनन्त पुद्गल-परमाणुओं के सम्बन्ध से होती है (देखो-सर्वार्थसिद्धि अ० २-सूत्र ४ की टीका)

उक्त कथन से यह सिद्ध हुवा कि कवलाहार के बिना ही, किसी दूसरे आहार से (नोकर्माहारसे) केवली के शरीर स्थिति रहती है जैसे कि गर्भस्थ-बालक-अंडे मे का प्राणी-वनस्पति और देव आदि कवलाहार के बिना अन्य आहारों से शरीर स्थिति प्राप्त करते हैं। इसमें आगम से कोई विरोध भी नहींआता क्योंकि आगममें आहार ६ प्रकारका कहा है १ नोकर्म, २ कर्म, ३ कवलाहार, ४ लेप्य, ५ ओज, ६ मानसिक। यह नियम नही कि कवलाहार से ही देहस्थिति होती हो, किन्तु यथासंभव अन्य ६ आहारों से भी देहस्थिति रहती है अतः केवली के कवलाहार मानना युक्त नहीं।

श्री प्रभाचन्द्राचार्य जी ने केवली के कवलाहारत्व का युक्ति और प्रमाणोंसे अच्छा खण्डन किया है (देखो - श्री प्रमेय कमल मार्तण्ड के द्वितीय परिच्छेद-पृष्ठ ८४ से ८७ तक) तथा घातिकर्मक्षय से उदय रहते हुए भी वेदनीय में फलदान की सामर्थ्य नहीं। जैसे कि मंत्रके द्वारा शक्तिक्षीणविष का प्रयोग होने पर भी उसमें कार्यकरण सामर्थ्य नहीं। इसी विषय को श्री अकलंक देव ने राजवार्तिक मे स्पष्ट

किया है (देखो-रा० वा० अ० ६ सूत्र ११ का भाष्य और टीका)

इसी विषय को सिद्ध करते हुए श्री विद्यानन्दि स्वामी ने श्लोकवार्तिक में कहा है—

एकादशजिने सन्ति शक्तितस्ते परीषहाः ॥

व्यक्तितो नेति सामर्थ्यात् व्याख्यानद्वयमिष्यते १

अर्थात्-केवली जिन में शक्ति की अपेक्षा ११ परीषह हैं और व्यक्ति की अपेक्षा एक भी परीषह नहीं है इस विवक्षा की सामर्थ्य से दोनों तरह का व्याख्यान अभीष्ट है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जिन में घाति कर्म के अभाव से, असमर्थआरण के सद्भाव से, ११ परीषहों की उपस्थिति नहीं होती है उपचार से (शक्ति से) कहे जा सकते हैं। आगे चल कर श्री विद्यानदि जी ने इसी विषय को युक्ति और प्रमाणसे निष्पन्न-भावपूर्वक सिद्ध किया है। देखो श्लोकवार्तिक पृ० ४६२ अ० १ सूत्र ११ की कारिका नं० १ से १० तक)।

इन प्रमाणों और युक्तियों से सिद्ध होता है कि केवली जिन के क्षुधादिवेदनानुभव नहीं और कवलाहारत्व नहीं है।

श्री प्रो० हीरालाल जी ने अपने ट्रैक्ट में आप्तमीमांसा की ६३वीं कारिका का मनमाना अर्थ लगाकर श्री स्वामी समन्तभद्र को भी अपना अनुयायी बनाना चाहा है। पर यह धारणा भी गलत है। केवल इसी कारिका को स्थूलदृष्टि से देखकर श्री स्वा० समन्तभद्र का यह भाव नहीं जाना जासकता है कि जैसा प्रो० सा० ने ज्ञात किया है। केवलि जिन के दुःख सुखादि हैं या नहीं - इस विषय में समन्तभद्र का मत जानने के लिये तत्कृतअन्यग्रन्थों पर दृष्टिपात करना होगा। यदि स्वा० समन्तभद्रका अभिप्राय केवलि के सुख दुखादि सिद्ध करने का होता तो वे वृहत् स्वयम्भूस्तोत्र में श्री अभिनन्दन का स्तवन करते हुए यह श्लोक क्यों कहते—

क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थिति -
र्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।
ततो गुणो-नास्ति च देहदेहिनो
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥१८॥

इससे स्पष्ट यह सिद्ध होता है कि क्षुधादि दुःखके प्रतिकार से तथा इन्द्रियजन्य सुख से केवली के शरीरस्थिति नहीं है इत्यादि।

इससे सिद्ध होता है कि आप्तमीमांसा की कारिका नं० ६३ से समन्तभद्र का अभिप्राय केवली के सुखादि तथा कवलाहारत्व सिद्ध करने का नहीं था। किन्तु छठे गुणस्थानी छद्मस्थ वीतराग मुनिसे था।

अन्य प्रमाण—

श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धांत चक्रवर्ती ने केवलि के विषय-में कहा है—

प्रश्न-वेदनीयजन्य सुखदुख केवलीके होना चाहिए

उत्तर-णट्ठायरायदोसाइंदियणाणं च केवलिम्हिजदो
तेणदुसादासादजसुहदुक्खंणत्थि इंदियजं २७३

वेदनीयकर्म केवली के सुखदुख का कारण नहीं, इसमें युक्ति—

समयट्ठिदिगोबधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेणपरिणमदि २७४

केवली के ११ परीषह कार्यरूप नहीं हैं क्यों—

एदेणकारणेण दु सादस्सेव दु णिरंतरो उदओ।
तेणासादणिमित्तापरीसहा जिणवरेणत्थि ।२७५।

[कर्मकांड पृ० १०२-१०३]

❊ स्त्री-मुक्ति ❊

श्री प्रोफे० हीरालालजी ने 'स्त्री-मुक्ति' विषय पर भी अपने विचार श्वेताम्बर मान्यतानुसार समर्थन करते हुए प्रगट किये हैं आप कहते हैं कि—"श्वेताम्बरमान्यतानुसार जिस प्रकार पुरुष मोक्षाधिकारी हैं उसी प्रकार स्त्री भी। पर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित आम्नाय में स्त्रियों को मोक्षाधिकारिणी नहीं माना। इस बात का स्वयं दि० शास्त्रों से कहां तक समर्थन होता है यह विचारणीय है" इत्यादि।

अब विचारार्थ विषय यह है कि श्वेताम्बरमत में पुरुषवत् स्त्री को भी मोक्षाधिकारिणी माना है तो इस उदारता को सिद्ध करने केलिये युक्ति व प्रमाण क्या है! क्या हेतु है! प्रतिज्ञा मात्र से साध्यसिद्धि नहीं होती है।

जब स्त्री पुरुषवत् सर्वाधिकारिणी है तो क्या श्वेता० साहित्यानुसार इतिहास में केवलिनी-जिना-अर्हती-तीर्थंकरी-चक्रवर्तिनी-बलभद्रा-नारायणी—प्रतिनारायणी गणधरी इनका स्वव्यक्तित्वेन कथन है है या नहीं! यदि इनका वर्णन है तो इनका चारित्र सप्रमाण उपस्थित कीजिये। यदि उनका वर्णन नहीं है तो उक्तपदवीधारी स्त्रियां न होने से सर्वाधिकार कहां रहा! पुरुषवत् स्त्रियों को भी उक्त पदवी धारी होना चाहिए। तथा जो स्त्रियां आजतक मुक्त हुई हैं, क्या उनको किसी श्वे० ग्रन्थ में नमस्कार किया गया है कि—ॐ नमः सिद्धाभ्यः, श्री जिनायै नमः, गणपत्न्यै नमः इत्यादि। तथा किसी श्वेता० आचार्य द्वारा किसी मुक्तस्त्री का स्तोत्र भी रचा गया है क्या! सप्रमाण स[illegible] श्यक है। यह भी विचारणीय है कि स्त्री यदि सर्व शक्ति शालिनी है तो कौन कौन आचार्याणी-साध्वी-उपाध्यायानी ने कौन कौन श्वेता० ग्रन्थों की रचना की, शास्त्रार्थ किया और विहार किया?

इन बातों पर विचार करने से उत्तर प्रमाण शून्य ही दिखाई देगा,—इससे सिद्ध होता है कि स्त्री में कुछ शक्ति या विकाश की कमी अवश्य है कि जिससे उक्त विषयों की वे पूर्ति नहीं कर सकतीं।

दिगम्बर सम्प्रदाय में तो स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया गया है तथा तीर्थंकर-चक्रवर्ती-नारायण बलभद्र आदि पद धारी स्त्रियां न हुईं, न देखीं, न सुनीं गई। किसी भी दि० जैन आचार्य ने स्त्री मुक्ति का समर्थन नहीं किया है, न किसी दि० जैन ग्रन्थ में द्रव्य स्त्रीमुक्ति का वर्णन ही मिलता है। प्रोफे० सा० ने श्री कुन्दकुन्द स्वामी को स्पष्टतः स्त्री मुक्ति निषेध का दोषा रोपण करते हुए कहा है कि 'इन्होंने गुणस्थान तथा कर्मसिद्धान्त का व्यवस्थित विवेचन ही नहीं किया है आदि" यहां यह विचारणीय है कि सभी आचार्यों ने सभी विषय का व्याख्यान नहीं किया है किन्तु अपने अपने दृष्टिकोण तथा विषय प्राधान्य को लेकर रचनायें की हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी ने प्रधानतया अध्यात्म विषय को लेकर अपनी रचनायें की हैं यह तो उनका दृष्टिकोण था। यदि उन्हों ने गुणस्थान तथा कर्मसिद्धांत का विवेचन नहीं किया है तो यह उनकी इच्छा थी यह कोई दोष नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार तो सर्व आचार्यों पर दोषारोपण हो सकता है कि समन्तभद्र ने व्याकरण का, विद्यानन्दिने अध्यात्म का, अकलंकदेव ने साहित्य का, उमास्वाति ने न्याय का विवेचन नहीं

किया है आदि आदि। अतः उक्त कथन युक्ति पूर्वक नहीं है।

अब रह जाता है शास्त्रीय व्यवस्था से स्त्री मुक्ति पर विचार—दि० जैन आचार्यों ने अपनी कृतियो मे कहीं पर भी स्त्री मुक्ति का समर्थन नही किया। हां अनेक ग्रन्थों में जो मनुष्य मनुष्यनी के १४ गुणस्थान दर्शाये है वे सब भाववेद की अपेक्षा से हैं इससे द्रव्य या भाव स्त्री की साक्षात मुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। इसका स्पष्ट यह है कि वेद तो नवमें गुणस्थान के सवेद भाग तक रहते है इसके आगे कोईभी वेद मोहकर्मजनित नहीं रहता, हां, नामकर्म-जनित वाह्यरचना रूप पुंवेद जरूर रहता है यह मोह के अभाव में वेदजन्य सुखदुखजनक नहीं होता, वह केवल शरीर का सद्भाव मात्र है, द्रव्य रचना है। इस लिये द्रव्यवेदके रहते साक्षात मुक्ति या १४ गुणस्थान कहे हैं वर्तमान नय की अपेक्षा। पर भाववेद की अपेक्षा जो १४ गुणस्थान या मुक्ति कही गई है वह भूतनयकी अपेक्षासेहै, न कि साक्षात। इसका खुलासा यह है कि किसी भी भाववेद के साथ द्रव्यपुंवेदी क्षपक श्रेणी चढ़ता है, वह नियम से मोक्षगामी है, इस जीव के आगे चल कर १४वां गुणस्थान अवश्य होना है क्योंकि क्षपक श्रेणी चढ़ा है। इस दृष्टि से द्रव्यपुंवेद के साथ जो उसके भाववेद है उसके नाम से १४ गुणस्थान या मुक्ति कहते हैं, पर वास्तव मे क्षपक श्रेणी का आरोही उस द्रव्य पुरुष के तीनों भाववेद नवमे गुणस्थान के सवेदभाग मे ही नष्ट हो जाते है केवल द्रव्यपुंवेद की सत्ता ही रहती है। इस से यह स्पष्ट होता है कि श्रेण्यारोहणकाल मे द्रव्यपुं-वेदी के जो भाववेद (पुं–स्त्री–नपुं०) होते है, भावि-नय की अपेक्षा उन्ही वेदी के १४ गुणस्थान कहे जाते हैं और जब वह वेदों का नाश करता हुवा १४ वे गुणस्थान में पहुंचता है तब उस भाववेदी के भूतनय की अपेक्षा १४ गुणस्थान या मुक्ति कही जाती है, साक्षात भाववेदी के मुक्ति नहीं होनी। यदि प्रोफे० सा० श्रेण्यारोहणकाल मे भाववेद की दृष्टि से द्रव्यस्त्री के मुक्ति मानते हैं तो द्रव्यनपुंसक के भी मुक्ति का प्रसंग आ जायगा। इसमें जो हेतु दिये जांयगे वे स्त्रीपक्ष में भी प्रवृत्त होते जांयगे। इसलिये मानना पड़ेगा कि भाववेद का नवमें गुण में नाश हो जाताहै और द्रव्यपुंवेदका १४वें गुणस्थान तक सद्भाव रहता है। भूत और भाविनय की अपेक्षा तीनो भाववेदों मे १४ गुणस्थान का वर्णन अयुक्तिपूर्ण नहीं है। इस विषय को सर्वार्थसिद्धि मे कहा है—"अवेदत्वेन, त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव" अर्थात् निश्चयनय से अवेद से मुक्ति। व्यवहार से भूतनयापेक्षया तीन भाववेदों से और वर्तमाननयेन द्रव्यपु वेद से मुक्ति होती है (सर्वार्थ० अ० १० सूत्र ६ पृ० ३२०)

श्री विद्यानन्दि स्वामी ने श्लोक वार्तिक में इस विषय पर कहा है—

सिद्धिः सिद्धिगतौ पुंसां, स्यान्मनुष्यगतावपि।
अवेदत्वेन सा वेदत्रितयाद्वास्ति भावतः ॥७॥
पुंल्लिंगेनैव तु साक्षात् द्रव्यतोन्या तथागम—
व्याघाताद्युक्तिवाधाच्च स्त्र्यादिनिर्वाणवादिनाम्

आठवीं कारिका के अन्त में स्पष्ट कह दिया है कि स्त्री आदि के निर्वाण मानने वालो के (श्वेताम्बर आदि) आगम का व्याघात तथा युक्तियो से बाधा आने के कारण मुक्ति की अन्य व्यवस्था नहीं बन सकती, किन्तु उक्त प्रकार व्यवस्था हो सकती है आदि। [देखो श्लोकवार्तिक अ० १० सू० ६ की

कारिका ७-८ । पृ० ५११] ।

इसी विषय पर श्री अकलंकदेव ने राजवार्तिकमें कहा है—लिगं-त्रिविधो वेदः । अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः । वर्तमान-विषय-विवक्षायामवेदत्वेन सिद्धिः । अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिः—भावं प्रति, नतु द्रव्यं प्रति । द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिंगेनैव सिद्धिः (रा० वा० अ० १० सू० ६ व्याख्या पृ० ३६६) ।

१-प्रोफे० सा० ने योनिनी या मनुष्यणी शब्दसे द्रव्य स्त्रीवेद का ही ग्रहण किया है. यह युक्त नहीं है, इन शब्दों से भावस्त्री का भी ग्रहण होता है । यदि ऐसा नहीं है तो हम पूछते हैं कि भावस्त्री के लिये कौन सा शब्द प्रयुक्त है । स्त्री-नारी-मनुष्यणी आदि जो भी शब्द कहे जावेंगे, वे सब द्रव्य स्त्री में भी प्रयुक्त हो सकते हैं इस लिये कोई न कोई सामान्य शब्द अवश्य प्रयुक्त करना होगा । यहां योनिनी मनुष्यनी आदि सब सामान्य स्त्री बोधक शब्द हैं उनसे उभय ग्रहण होगा । प्रकरण में हर जगह भावयोनिनी वा द्रव्ययोनिनी आदि विशेष शब्द प्रयोग पुनः २ नहीं हो सकता—किन्तु सामान्य शब्द प्रयोग भी लाघवादि केलिये किये जातेहैं प्रकरणवश उनका अर्थ समझना चाहिये । जैसे—'स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि' यहां पर स्पर्शनादि शब्दों से भाव-द्रव्य दोनो इन्द्रियों का ग्रहण होता है । क्षेत्रकाल गतिलिग......इत्यादि सूत्र में सामान्य शब्द विशेप के बोधक हैं इत्यादि सैंकड़ो उदाहरण श्वेता० दि० शास्त्रो में भरे पड़े हैं । अतः योनिनी-मनुष्यनी आदि शब्द उभयार्थक है प्रकरणवश अर्थ समझना चाहिये ।

२-सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में नवमें गुणस्थान के सवेद भाग तक वेदों का वर्णन आता है; और अपगतवेद की अपेक्षा नवमें से १४ गुणस्थान तक कहे गये हैं, ऐसी हालत में यह शंका हो जाती है कि तीनों वेदों से १४ गुणस्थान की प्राप्ति वा मुक्ति क्यों दर्शायी गई है ! इसका उत्तर पूर्व में लिखा गया है कि भाववेद की अपेक्षा यह कथन है । श्रेण्यारोहण-काल में द्रव्यपुंवेदी किसी भी भाववेद के साथ जब गुणस्थान चढ़ता है तब उसके उसी भाववेद की अपेक्षा १४ गुण० भाविनय की अपेक्षा और जब वह वेद नाश करता हुआ १४ गुण० मे जाता है तब भूत नय की अपेक्षा उसी वेद के नाम से १४ गुण० कहे जाते हैं इस कारण क्षपक श्रेणी को आरोहण करने वाला नियम से १४ गुण० प्राप्त करता है, गिरता नही है अतः उभयनय की अपेक्षा कथन किया गया है । वास्तव में नवमे से ऊपर वेद नहीं होते । जैसे—क्षेत्रकाल गतिलिंग तीर्थ चारित्र..... इत्यादि सूत्र में क्षेत्रादिकी अपेक्षा जो सिद्धोमे भेद (अन्तर) दर्शाया है वह व्यवहार नयांतर्गत भूतनय की अपेक्षा से है अर्थात् श्रेण्यारोहणकाल में विद्यमान ज्ञान चारित्र-लिंगादि की अपेक्षा से वर्तमान सिद्धों मे भेद सिद्ध किया गया है । इसी तरह ३ भाववेदों से मुक्ति का वर्णन किया गया है वर्तमाननय या निश्चय की अपेक्षा किसी भाववेद से मुक्ति नहीं है ।

३-गत्यादि तथा वीर्यान्तराय क्षयोपशम के अनुकूल जिस वेद का बन्ध होगा, उसी के अनुसार नामकर्म द्वारा पुद्गल रचना होगी तथा तदनुकूल उपांग भी प्राप्त होगा । पर्याप्त दशा में द्रव्यवेद की पूर्ण रचना हो जायगी । कर्मानुसार प्राप्त हुई शरीर रचना मरण पर्यन्त वैसी रहेगी, द्रव्यवेद वैसा ही रहेगा, परिवर्तन न होगा । पर भाववेद मोहोदय की

अपेक्षा रखता है, उसमें निमित्त मिलने पर परिवर्तन होना सम्भव है। प्रत्यक्ष में शरीर में परिवर्तन देखा नहीं जाता, पर भावों में परिवर्तन देखा जाता है। पर विरुद्ध भाववेद का उदय होनेपर द्रव्यवेद से कार्य न होगा। जैसे कोई पुरुष द्रव्यवेदी है उसके यदि भाव स्त्रीवेदके हो जावें तो वह द्रव्यपुंवेद से उसका फल न भोग सकेगा, किन्तु भावस्त्री वेदोदय से स्त्री वत् रमने के भाव करता रहेगा, इसी तरह स्त्रीवेद-नपुंसकवेदमें जानना चाहिये। मोहोदयसे पुंसादि रूप भाव होना ही वेद कहा जाता है। द्रव्यवेद नामकर्म जनित है। जैसे द्रव्यलेश्या जीवनपर्यंत रहती है और भावलेश्या अन्तर्मुहूर्तमें परिवर्तित होती है उसी तरह वेदकी दशा भी है ये दोनों औदयिक हैं। जिस प्रकार द्रव्यलेश्या एक रहते भी अनेक भावलेश्या होती हैं। उसी तरह द्रव्यवेद एक रहते भी अनेक भाववेद हो सकते हैं। स्वायुषः प्रमाणावधृताः द्रव्यलेश्या, अतर्मुहूर्त परिवर्तिन्यः भावलेश्याः इति कथनात्।

वेद की विषमता होने से वेद को अभिन्न नहीं कहा जा सकता किन्तु वह दो भेद रूप है द्रव्यवेद, भाववेद। वेदोदय से बाह्यरचना वा उपांग का सम्बन्ध नहीं है किन्तु रमणरूप भावो से है अर्थात् वेदोदय से यथायोग्य स्त्री-पुरुष और नपुंसक रूप भाव होते हैं। बाह्यरचना या तदनुकूल उपांग तो नामकर्म-वीर्यान्तराय आदि के निमित्त से होते है। वेद का उदय रूप बाह्योपांग रचना मानना गलत है, इसी विषय को सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट किया है—लिंगं द्विविधं—द्रव्यलिंगं, भावलिंगं चेति। द्रव्यलिंगं योनिमेहनादि नामकर्मोदयनिर्वर्तितं। नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिंगम् इति। (सर्वा० अ० २ सूत्र ५२-पृ० ११६)।

वेदोदय का कार्य तदनुकूल प्राप्त उपांग रचना से सफल होता है अतः तदनुसार आकार विशेष को पुरुष-स्त्री-नपुंसक कहते हैं। प्रोफे० सा० ने द्रव्यवेद २ माने है द्रव्यनपुंसकवेद नहीं माना, क्योंकि होता ही नहीं। यह धारणा गलत है—लोक में साक्षात नपुंसकवेदी प्राणी देखे जाते हैं। भावनपुंसक-वेदोदय से तदनुकूल प्राप्त नामकर्मजनित बाह्योपांग रचना विशेष को द्रव्यनपुंसक कहते है इसकी बाह्य-रचना स्त्री पुरुष के चिन्हो से भिन्न कुछ विशेषता युक्त होती है, जब भावनपुंसकवेद होता है (जिस को प्रोफे० सा० ने माना है) तो तदनुकूल नामकर्म-जनित द्रव्य रचना अपर्याप्तकाल मे अवश्य होगी, अन्यथा स्त्री-पुरुष की द्रव्यरचना भी नहीं हो सकती है, ऐसे होने पर द्रव्ययोगकी व्यवस्था लुप्त हो जायगी। द्रव्यनपुंसकवेद श्री उमास्वातिकृत इस सूत्र से सिद्ध होता है—'नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि' इस की व्याख्या में लिखा है कि "चारित्रमोहविकल्पनोकषाय-भेदस्य नपुंसक—वेदस्याशुभनाम्नश्चोदयान्न स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि भवन्ति" (सर्वार्थ० अ० २ सूत्र ५० की व्याख्या, पृ० ११८)।

दूसरी बात—जब द्रव्यनपुंसक वेद के बिना भी भावनपुंसकवेद का कार्य या विपाक हो जाता है तो जो द्रव्यवेदी पुरुष है उसके भी द्रव्य स्त्री वेद के बिना भावस्त्रीवेद का विपाक हो सकता है, इससे तो वेदो की विषमता ही सिद्ध हो जाती है द्रव्य-नपुंसकवेद भी इससे सिद्ध होता है—

यानि स्त्रीपुंसलिंगानि पूर्वाणीनि चतुर्दश।
उक्तानि तानि मिश्राणि षड्भावनिवेदने ॥१॥

(सर्वा० सोलापुर सं० पृ० २५८ की टिप्पणी)

जब द्रव्यनपुंसकवेद नहीं होता है तो स्त्री-पुरुष से भिन्न नारकी और सम्मूर्च्छन जीवों के कौन सा द्रव्यवेद कहा जा जायगा। ऐसी दशा में कोई तीसरे वेद की कल्पना अवश्य करना पड़ेगी, अन्यथा व्यवहार न चल सकेगा, उभयवेद का अभाव उक्त जीवों में होने से। इससे तो यही अच्छा है कि उभय से भिन्न तृतीय द्रव्यनपुंसकवेद माना जाय द्रव्यस्त्रीपुरुष की तरह। इससे सिद्ध होता है कि वेदों के ९ भेद (३ द्रव्यवेद से गुणित ३ भाववेद) होते हैं। वेदों की विषमता सिद्ध होती है। द्रव्यनपुंसकवेद भी सिद्ध है।

द्रव्येन्द्रिय—भावेन्द्रिय का उदाहरण विरुद्ध है क्योंकि इंद्रियज्ञान क्षयोपशमजन्य है और वेद उदयजन्य है। एक जीव के एक साथ पांच इन्द्रियावरण कर्म क्षयोपशम तथा तदनुकूल ५ द्रव्येन्द्रियों की रचना देखी जाती है पर एक जीव के एक साथ ३ भाववेद का उदय तथा तदनुकूल ३ द्रव्यवेदों की रचना नहीं देखी जाती है। किसी भी द्रव्यवेद के रहते कोई एक भाववेद का उदय हो सकता है। पर प्राप्त प्रथमादि इन्द्रियों के रहते अप्राप्त इन्द्रियों का क्षयोपशम कभी नहीं होता, जैसे चतुरिन्द्रिय जीव के ४ इन्द्रियों का क्षयोपशम है पर कर्णेन्द्रिय का क्षयोपशम नहीं है। वेद का हाल इन्द्रियों से विलक्षण है। इसलिये वेद वैषम्य को निषिद्ध करने के लिये इन्द्रिय का दृष्टांत अयुक्त (दृष्टांताभास) है।

वज्रवृषभनाराच संहनन वाले के ही मोक्ष प्राप्त करने की सामर्थ्य है—अन्य संहनन मुक्ति प्राप्ति का कारण नहीं है और कर्मभूमि की स्त्री के अन्त के ३ संहनन आगम में बतलाये हैं आदि के ३ संहनन नहीं होते। इसलिये स्त्री में साक्षात् मोक्ष प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं है संहनन के विषय में श्रीनेमिचन्द्र जी सि० ने कर्मकांड में कहा है—

अन्तिमतियसंहडणस्सुदओ पुणकम्मभूमिमहिलाणं
आदिमतिगसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।३२।

अर्थ—कर्मभूमि की स्त्रियों के अन्त के ३ संहनन (अर्द्धनाराचादि) होते हैं आदि के ३ संहनन नहीं होते हैं ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

(कर्मकाण्ड गाथा ३२ पृ० १४)

इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष का कारण प्रथम संहनन न होने से स्त्री के मोक्ष नहीं हो सकती।

स्त्रीमुक्ति निषेध के विषय में श्री प्रभाचन्द्राचार्य जी ने प्रमेय कमल मार्तंड में दर्शाया है—

मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परमप्रकर्षत्वात् सप्तमपृथिवीगमन—कारणापुण्यपरम—प्रकर्षवत्। यदि नाम तत्रतत्कारणा पुण्यपरम प्रकर्षाभावा, मोक्षहेतोः परमप्रकर्षाभावे किमायातम्।

अर्थात्—जिस प्रकार स्त्री में सप्तमनरकगमन का कारण पापप्रकर्ष नहीं है उसी प्रकार मोक्ष का कारण ज्ञानादि का परमप्रकर्ष भी नहीं है क्योंकि ज्ञानादि परमप्रकर्ष हैं। यदि स्त्री के पापप्रकर्ष नहीं है तो ज्ञानादिप्रकर्ष भी नहीं है आदि।

स्त्रीणां संयमो न मोक्षहेतुः नियमेनर्द्धिविशेषाहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः। यत्र हि संयमः सांसारिकलब्धीनामप्यहेतुस्तत्रासौ कथं निःशेषकर्मविप्रमोक्ष—लक्षणमोक्षहेतुः स्यात्। सचेलसंयमत्वाच्च नासौतद्धेतुः गृहस्थसंयमवत्। अर्थात् स्त्रियों में मोक्ष का कारण रूप संयम नहीं है, यदि माना जाय तो उससे ऋद्धि विशेष क्यों नहीं होती। जो सयम सांसारिक ऋद्धियों का कारण नहीं है वह मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है। स्त्रियों के सवस्त्र सयम भी मोक्ष का कारण नहीं है गृहस्थसंयम की तरह। उक्तं च—

वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू
अभिगमणवंदणणमंसणविणएण सो पुज्जो ॥१॥
ह्रीशीतार्तिनिवृत्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते ।
कामिन्यादिस्तथा किन्न कामपीडादिशांतये ॥२॥
वस्त्रखण्डे गृहीतेपि विरक्तो यदि तत्त्वतः ।
स्त्रीमात्रेपि तथा किन्न तुल्याक्षेपसमाधितः ॥३॥
पुंवेद वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति १
स्त्रीपरीषह भग्नैश्च वद्धरागैश्च विग्रहे ।
वस्त्रमादीयते यस्मात् सिद्धं ग्रन्थद्वय ततः ॥१॥

१–तथो नास्ति स्त्रीणां मोक्षः पुरुषादन्यत्वान्नपुंसकवत् । तथा—

२–स्त्रीणां मोक्षो नास्ति, उत्कृष्टध्यान–फलत्वात् सप्तपृथ्वीगमनवत् ।

१–इस लिये स्त्री के मुक्ति नहीं, पुरुष से भिन्न होने से, नपुंसक की तरह ।

२–स्त्रीवर्ग के मोक्ष नहीं होता, उत्कृष्ट ध्यान का फल होने से, सप्तमनरक में गमन की तरह ।

(देखो प्रमेयकमल मार्तंड पृ० ६४से६६ तक)

इसलिये युक्ति और आगम से सिद्ध है कि स्त्री के मोक्ष नहीं । स्त्रीमुक्ति निषेध से यह न समझ लेना चाहिये कि महिला-राजनैतिक राष्ट्रीय-नैतिक-धार्मिक सामाजिक कार्यों में भाग नहीं ले सकतीं या उन्नति नहीं कर सकतीं । नहीं—सब कार्यों में उन्नति कर सकती हैं, आदर्श रख सकती हैं और परंपरया मोक्ष भी मनुष्यभव धारण करके जा सकती है ।

सवस्त्र मुक्ति

प्रो० सा० ने सवस्त्रमुक्ति के विषय पर भी विचारार्थ प्रश्न उपस्थित किया है‥‥‥कहा है‥‥‥ "श्वेताम्बर मतानुसार मनुष्य वस्त्रत्याग करके और सर्वथा वस्त्रत्याग न करके भी मोक्ष जा सकता है पर दि० मतानुसार वस्त्रके संपूर्णत्याग से ही सयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है इसका प्रमाण–भगवती आराधना में किया गया–मुनि का उत्सर्ग और अपवादविधान दर्शाया है आदि" जब श्वे० मत में वस्त्र के बिनात्याग से भी मोक्ष हो सकता है तो ऐसा कौन साधु होगा जो मोक्षार्थ वस्त्रत्याग करके कष्ट उठावेगा, सवस्त्र सहर्ष मोक्षप्राप्ति क्यो न करेगा! ऐसीदशा–मे तो श्वे० मत मे वस्त्रत्यागपूर्वक मोक्ष का विधान करना व्यर्थ है अन्यथा श्वे० साधु दि० दीक्षा क्यो नहीं लेते, सब ही सवस्त्र साधु क्यो हो जाते। हैं असमर्थतामें अपवादमार्ग अपनाया जाताहै क्या सब ही श्वे० साधु असमर्थ हैं और होगे–जिस से कि–उत्सर्गमार्ग (दि० दीक्षा) को छोड़कर अपवादमार्ग (श्वे० दीक्षा)- अपना रहे हैं। धन्य है श्वे० मत की कृपा दृष्टि को, जो कि साधुओ को बिना कष्ट दिये मोक्षमार्ग वतला रहा है। यदि श्वे० सं० में निर्ग्रन्थदीक्षासे भी मुक्ति–साधना मानी गई है तो समर्थ साधुओं को सर्वप्रथम वैधानिकरूप से निर्ग्रन्थ-दीक्षा को ही धारण करना चाहिये। पर यह नहीं देखा जाता है यहां तो धारणा बन चुकी है कि जब सवस्त्रमुक्ति का द्वार खुला है तो वस्त्रत्याग करके कष्ट कौन उठावे। यह अपवाद का अनर्थ किया गया है इसको दूसरे शब्दों में शिथिलमार्ग कहना चाहिये।

तथा च प्रो० सा० ने भी सवस्त्रमुक्ति को सिद्ध करने के लिये भगवती आराधना का प्रमाण देकर, मुनिपद के उत्सर्ग वा अपवादमार्ग का अनर्थ कर डाला है जिससे कि सवस्त्रमुक्ति को सिद्ध करनेका प्रयास किया है। यह धारणा गलत है। भगवती

आराधनाकार का-सवस्त्रमुक्ति सिद्ध करने का या मुनि के सर्वथा वस्त्रविधान करने का अभिप्राय नहीं है। उनका तो अभिप्राय यही है कि निर्ग्रन्थलिङ्ग ही साक्षात् मुक्ति का कारण है सग्रन्थ लिङ्ग नहीं। इस विषय में जो अपवाद मार्ग प्रगट किया है वह मोक्ष के लिये वैधानिक रूप से मानना-अपवाद का दुरुपयोग करना है।

प्रो० सा० ने राजवार्तिक-सर्वार्थ सिद्धि के अ० ६ सूत्र ४६-४७ का प्रमाण दिया है कि""भावलिगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्थाः लिगिनो भवन्ति। द्रव्य-लिंगं प्रतीत्य भाज्याः। इस प्रमाण से सिद्ध किया है कि मुनि को वस्त्रत्याग का कोई नियम नहीं देखा जाता। पर हम इसी प्रमाण से वस्त्रत्याग का नियम बतलाते हैं""तथा भगवती आराधना के अपवाद का भी खुलासा करते हैं उक्तप्रमाण (भावलिंगंप्रतीत्यादि) का टिप्पणी में खुलासा किया है कि—

केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषात् लज्जितत्वात्तथा कुर्वन्ति इति व्याख्यानमाराधना – भगवती-प्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यं। उत्सर्गापवादयोरपवादो विधिः वलवानिति उत्सर्गेण- तावद्यथोक्तमाचेलक्यं प्रोक्तमस्ति। आर्यासमर्थदोषवच्छरीराद्य-पेक्षया अपवाद-व्याख्याने न दोषः। अमुमेवाधारं गृहीत्वा जैनाभासाः केचित्सचेलत्वं मुनीनां स्थापयन्ति। तन्मिथ्या-

साक्षान्मोक्ष कारणं निर्ग्रन्थलिङ्गमेवेति वचनात्। अपवादव्याख्यानं उपकरणकुशीलापेक्षया कर्तव्यम् इति। (शरीरोपकरणप्रभावस्वच्छतापेक्षया – इति भाव:) (देखो–सर्वा० अ० ६ सू० ४७ पृ० ३१३ की टिप्पणी, सो० सं०)

इस प्रमाणसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती आराधना का-अपवाद सवस्त्रमुक्ति का विरोधी है और साक्षात् मोक्ष का-कारण निर्ग्रन्थलिंग (दिगम्बर दीक्षा) ही है। इससे अपवाद की सदोषता सिद्ध होती और सवस्त्रमुक्ति का संदेह दूर हो जाता है॥

"निर्ग्रन्थलिङ्गेन सग्रन्थलिगेन वा सिद्धिः भूतपूर्वनयापेक्षया" इस-पंक्ति का खुलासा भी टिप्पणी में देखिये –

लिंगशब्देन निर्ग्रन्थलिगेन सिद्धिर्भवति। भूतनयापेक्षया सग्रन्थलिगेन वा सिद्धिर्भवति। कथं! – साहरणासाहरणे इति वचनात्। पूर्वं निर्ग्रन्थः पश्चात् उपसर्गादाभरणादिकं केनचित्कृतं-यथा त्रयः पाण्डवाः साभरणाः मोक्षंगताः। उपसर्गवशात् –ग्रन्थत्वं पाण्डवादिवत् (सर्वा० अ० १० सू० ६ पृ० ३२० की टिप्पणी)

इस प्रमाण से यह सिद्ध हुवा कि मुक्ति निर्ग्रन्थलिंग से ही होती है। उपसर्गादिक की अपेक्षा सग्रन्थलिंग से कही गई है पर वैधानिक रूप से नहीं। भूतनय की अपेक्षा अर्थात् परंपरा से सग्रन्थलिंग कहा गया है। साक्षात् निर्ग्रन्थलिंग ही मोक्ष का कारण है। इससे वस्त्रत्याग की अनिवार्यता भी सिद्ध हो जाती है। इस विषय पर अन्यप्रमाण—

पुलाकादि मुनियों के ५ भेद होने पर भी वस्त्रत्याग का विरोध सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पुलाकादि भेद चारित्र की हीनाधिकता की अपेक्षा से हुए हैं, निर्ग्रन्थता तो सब में है और श्रद्धा से सर्वप्रथम दि० दीक्षा ही धारण की जाती है। दीक्षा रूप में श्रद्धा से वस्त्रधारण नहीं किये जाते हैं अतः निर्ग्रन्थता ही सिद्ध होती है।

शंका – यथा गृहस्थश्चारित्रभेदान्निर्ग्रन्थव्यपदेश-

भाक् न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्टमध्यम-चारित्रभेदान्निर्ग्रन्थत्वं नोपपद्यते ।

उत्तर — न वैष दोषः कुतो दृष्टत्वात् ब्राह्मण-शब्दवत्। यथा जात्या चारित्राध्ययनादिभेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दो वर्तते तथा निर्ग्रन्थशब्दोपि, संग्रहव्यव-हारापेक्षत्वात्। सम्यग्दर्शन निर्ग्रन्थरूपं च भूषावे-शायुधविरहितं तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाका-दिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः।

यदि भग्नव्रतेपि निर्ग्रन्थशब्दो वर्तते श्रावकेपि स्यादिति-अतिप्रसंगो, नैष दोषः कुतो रूपाभावात्। निर्ग्रन्थरूपमत्र नः प्रमाणं नच श्रावके तदस्तीति नाति-प्रसंगः। स्यादेतद्यदि रूपं प्रमाणमन्यस्मिन्नपि सरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेशः प्राप्नोतीति तन्न-किं कारणं दृष्ट्य-भावात्। दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशः। न रूपमात्र इति।

अथ किमर्थः पुलाकादिव्यपदेशः। चारित्रगुण-स्योत्तरप्रकर्षे वृत्तिविशेषख्यापनार्थः पुलाकाद्युपदेशः क्रियते (देखो राजवा० अ० ९ सू० ४६ पृ० ३५८ सभाष्यव्याख्या) तथा लिंगं द्विविधं निर्ग्रन्थलिंगं सग्रंथलिंगं चेति तत्र प्रत्युत्पन्ननयाश्रयेण निर्ग्रंथ-लिंगेन सिद्ध्यति। भूतविषयनयादेशेन तु भजनीयं। भूतनयः द्वेधः अनन्तरव्यवहितभेदात्, अत्र व्यवहित-पूर्वनयः विवक्षितः।

(राजवा० पृ० ३६६ अ० १० सूत्र ९ व्याख्या)

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मोक्षार्थ मुनि को वस्त्रादित्याग अनिवार्य है, निर्ग्रंथलिंग ही उपादेय है, सग्रन्थ नहीं।

प्रोफे० सा० ने कहा है कि वस्त्रत्याग अनिवार्य-रूप से कहीं देखने में नहीं आता आदि। यह धारणा भी ठीक नहीं। आगे देखिये—

श्री विद्यानन्दि स्वामी ने निर्ग्रंथता को युक्ति वा प्रमाणों से सिद्ध किया है स्पष्टतया वस्त्रत्याग दर्शाया है—

पुलाकाद्याः मता पंच निर्ग्रंथाः व्यवहारतः।
निश्चयाच्चापि नैर्ग्रंथ्यसामान्यस्याविरोधतः ॥१॥
वस्त्रादिग्रन्थसम्पन्नास्ततोऽन्ये नेति गम्यते।
बाह्यग्रन्थस्य सद्भावे ह्यन्तर्ग्रंथो न नश्यति ॥२॥
ये वस्त्रादिग्रहेप्याहुः निर्ग्रंथत्वं यथोदितम्।
मूर्च्छानुद्भूतितस्तेषां स्त्र्याद्यादानेऽपि किं न ततः
(श्लो० वा० अ० ९ सूत्र ४६ पृ० ५०७ का० १से० तक) किं च— अन्य प्रमाण

साक्षान्निर्ग्रंथलिंगेन, पारंपर्यात्ततोन्यतः।
साक्षात्सग्रन्थलिंगेन सिद्धौ निर्ग्रंथता वृथा ॥८॥
(श्लो० वा० अ० १० सूत्र ९ पृ० ५११ श्लो० नं ९)

इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मोक्षार्थ वस्त्रत्याग करना अनिवार्य है, निर्ग्रंथलिंग से ही साक्षात् मुक्ति प्राप्त होती है। यदि सग्रन्थलिंग से साक्षात् मुक्ति मानी जाय तो निर्ग्रंथमार्ग का विधान करना व्यर्थ है। उत्सर्ग और अपवादमार्ग दर्शाना भी व्यर्थ है। संसार में साधुओं का त्यागव्रत भी व्यर्थ सिद्ध होता है क्योंकि बिना त्याग के भी मुक्ति सुभलता से प्राप्य है।

३-धवलाकार ने संयम की परिभाषा में जो यह सूत्र कहा है कि — "संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिः" तथा तत्त्वार्थ सूत्रकार ने कहा है कि—"हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" इन सूत्रों से "सवस्त्रमुक्ति तथा वस्त्र के रहते हुए उत्तम-संयमी होना" यह सिद्ध करना, बालू से तेल निका-लना है इन सूत्रोंसे उक्त विषय सिद्ध नहीं हो सकते।

कारण यह कि मनुष्य बाहिरी वस्तुओं का त्याग कर त्यागी-महात्मा-परोपकारी बन जाता है, साधु होने से जगत्पूज्य हो जाता है। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सवस्त्रमुक्ति नहीं हो सकती अत: बाह्य धनवस्त्रादि को धारण करते हुये उत्तम संयम का पालन नहीं हो सकता। परिग्रह, असंयम का अविनाभावी है इस लिये उसके रहते हुए संयम कैसे हो सकता है। श्लोकवार्तिक में कहा है—"बाह्यग्रंथस्य-सद्भावे, ह्यन्तर्ग्रंथो न नश्यति" इसलिये संयम या व्रत की परिभाषा में वस्त्रादि बाह्य वस्तु का त्याग अवश्य सिद्ध होता है।

इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रानुसार केवली-मुक्ति स्त्रीमुक्ति-सवस्त्रमुक्ति सिद्ध नही होती। इन विषयों पर वीरसेन-कुन्दकुन्द-उमास्वाति-प्रभाचन्द्र अकलंक आदि दिगम्बर आचार्यों ने जो प्रतिपादन किया है वह युक्तिपूर्ण विरोधरहित है, तदनुसार हमने यहां संक्षेप से वर्णन किया है लेख विस्तार के भय से स्पष्ट विवेचन तथा प्रमाणों का स्पष्टीकरण विशेष न कर सके। —पाठकों को "श्वेताम्बरमत समीक्षा और दिगम्बरत्व वा दिगम्बरमुनि" ये दो पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिये।
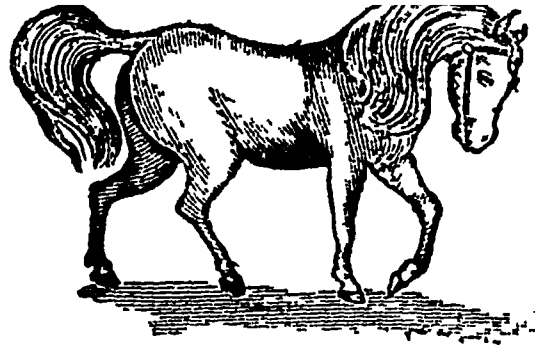
श्रीमान तर्करत्न, जैनसिद्धान्त महोदधि,

पं० माणिकचन्द्र जी, न्यायाचार्य ।

सहारनपुर

का

अभिमत

❀ श्री समन्तभद्राय नमः। ❀
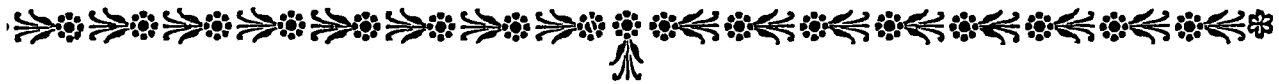
दिगम्बर मत अनादि सिद्ध है—

वीतरागता के भरपूर उपासक जैनों में कारण-वश राग द्वेष-मय चर्चायें प्रगट हो जाती हैं। श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय के वज्रभेदक स्त्री मुक्ति, केवली कवलाहार, सवस्त्र मुनिपना इन विषयोंको ले कर कुछ पर्यालोचना चल पड़ी है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें उक्त तीनों ही विषयों का प्रत्याख्यान बलवत्तर प्रमाणों द्वारा किया जा चुका है। श्रीमान प्रोफेसर बाबू हीरालाल जी अमरावती निवासी ने आचार्य पुंगव श्री कुन्दकुन्दसूरि तथा उनके पश्चाद्वर्ती समंतभद्र, नेमिचन्द्र, पूज्यपाद आदि महान आचार्यवर्यों के ग्रन्थोंमें भी अप्रामाण्यजनक आक्षेप किये हैं—जो कि उनको अभीष्ट हो रहे श्वेताम्बर मत की प्राचीनता को पुष्ट करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं।

दो हजार वर्ष के पूर्व में उत्कीर्ण किये गये वैदिक दर्शन को कुछ सामग्री मिल जाने के कारण अनादि—सिद्ध दिगम्बरत्व को कोई ठेस नही पहुंच पाती है, झूंठ, चोरी आदि के या वैदिक सम्प्रदाय की कतिपय मिथ्यात्व वर्द्धक क्रियायें अनादि कालीन हैं। सभी सम्प्रदाय इस बात को स्वीकार करते हैं कि कभी२ ऐसे अन्तराय पड़ गये हैं कि झूंठ बोलने आदि का खंडन नहीं लिखा जा सका है—फिर भी सत्यार्थ सिद्धान्त आगे पीछे कभी भी लिखा जाय या न भी लिखा जाय वह त्रिलोक त्रिकाल अबाधित ही समझा जायगा।

जैसे मोक्ष के अनादित्व से संसार का अनादित्व उम्र में आठ, नौ वर्ष बड़ा है, सम्यग्दर्शनसे मिथ्या-दर्शन की आयु कुछ अन्तर्मुहूर्त अधिक है भूतकालमें अनन्तेवार ऐसे प्रकरण आ चुके हैं— जबकि इनका खंडन मंडन नहीं हो सका है, अथवा व्युत्क्रमसे आगे पीछे प्रति-विधान किया गया है— फिर भी आगम प्रमाण और युक्तियों से सत्य सिद्धान्त का निर्णय किया जाता है।

भारतवर्ष में हिन्दु, यवन, वेदानुयायी, शाक्त, वैष्णव, मीमांसक बौद्ध, सिक्ख, ईसाई आदि अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। सहस्रद्वय वर्ष पूर्व इनका उल्लेख मिलने न मिलने के साथ सत्यार्थ निर्णय का कोई अन्वय व्यतिरक नहीं है। सुवर्ण, चाहे जब शुद्ध प्रकट कर लिया जाय प्रवाह रूपसे इनका शुचित्व सर्वदा आदरणीय है वस्तुतः विचारा जाय तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय से स्वाभाविक दिगम्बरत्व सिद्धान्त ही निरवधि प्राचीन है।

यद्यपि वर्तमान कतिपय उपलब्ध आचारांग आदि को द्वादशांग मान बैठना, मुख्यकाल द्रव्य को स्वीकार न करना, तेजः काय, वायु काय जीवों को त्रस जीव कहना, वीरगर्भ परिवर्तन, ऊर्णवस्त्र शख

शुक्ति को पवित्र कहना, प्रतिमाके नेत्र मुकुट लगाना आदि श्वेताम्बरीय सिद्धान्तों से दिगम्बर सम्प्रदायमें महान् अन्तर है तथापि स्त्री मुक्ति, केवलि — कवलाहार, और सवस्त्र सयम ये मत-पार्थक्य के प्रबल गढ़ हैं।

श्री महावीर निर्वाण के कई सौ वर्ष पीछे शास्त्र लिखने की सर्वज्ञाम्नाय—प्राप्त पद्धति चली तब तक सभी विषय आचार्यों के कण्ठस्थ थे। बहुभाग विषयों को कण्ठस्थ रक्खे विना तो इस दफ्तरी युग में भी काम नहीं चल सकता है। शास्त्र लिपि का प्रारम्भ हो जाने पर भी कतिपय विषय नहीं लिखे जा सके थे और अनेक व्यावहारिक क्रियायें तो अद्यापि प्राचीन ग्रन्थो मे लिपिबद्ध नहीं मिलती है जैसे कि भिन्न २ ऋतुओं मे आटे की मर्यादा क्या है? मगद, मावा, रवड़ी, दूध, पूड़ी, कचोड़ी, मेवा, घृत आदि की कितनी २ स्थिति है, कितने दिनो मे ये जीवो के योनि—स्थान बन जाते है। केवल आचार्यों के उपदेश की आम्नाय चली आ रही है। अत: कुछ दिनो मे विद्वानों ने श्रावकाचारों या क्रिया कोष में स्वल्प कण्ठोक्त निरूपण कर दिया है, फिर भी बहुभाग अप्राप्य है। सामायिक विधि प्रायश्चित्त व्यवस्था, आसन, सूतक, पातक निर्णय, दायभाग, आदि कितनी ही सूक्ष्म चर्चायें गुप्त लुप्त-प्राय हो रही हैं फिर भी आचार्यों, विद्वानो की आम्नाय अनुसार चली आ रही प्रवृत्ति से उक्त वि-धियां निरवद्य पाली जा रही है। अतः यदि श्री कुन्दकुन्द आचार्य के प्रथम इन तीनों विषयों का खडन नहीं मिलता है जैसा कि प्रोफे० हीरालाल जी कह रहे हैं तो इसमें आश्चर्य नहीं है, लिपि प्रारम्भ काल में हजारों बातें शास्त्रों में ग्रन्थित नहीं की जा सकीं थीं। विवाह, यज्ञोपवीत संस्कार, पूजन विधान बिम्ब प्रतिष्ठा, ग्रह शांति, मंत्र साधना, आदि विषय श्री कुन्दकुन्द आचार्य के बहुत पीछे शास्त्र लिखित हुये थे।

पहिले राजाओं की अपेक्षा वर्तमान अंग्रेजी राज्यमे आफिस, क्लर्क, कार्य सैकड़ों गुणा बढ़ गया है पहिले युग में इतना सूक्ष्म हिसाब, पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष लिखना, लम्बीर मिस्लें, सैकड़ों विशाल रजिस्टर पुराने कागजात आदि का इतना विशाल आयोजन कहां था? किन्तु सभी कार्य सुसम्पन्न होथे थे अब भी लेख्य विषय से अलेख्य विषय हजारो गुणा स्मर्यमाण हो रहा है। प्रातः किस करवट से उठना, किस दिशा में शौच जाना, दन्तधावन स्नान करने बैठना? आदि नित्य क्रियाओ को कहां तक लिखा जावे, आम्नाय या सम्प्रदायका धारा प्रवाह भी कुछ तत्व रखता है।

सभी भली बुरी बातो मे प्राचीन लेख का ही ढूंढते ही बैठना यह टेव अच्छी नहीं है। तिस पर तो कुन्दकुन्दस्वामी ने उक्त तीनों विषयो का कण्ठोक्त खण्डन किया है, ऐसा बाबू जी स्वयं स्वीकार करते हैं फिर और आगम प्रमाण क्या चाहिये?।

श्री वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण हुए पश्चात् और कुन्दकुन्दाचार्यके पूर्व अनेक विशालमति आचार्य हो गये हैं। पीछे भी अनेक उद्भट दिगम्बर आचार्य और विद्वान इस वसुधा को पवित्र कर चुके हैं। सभी आचार्यों की प्रमाणता एक सी है। आगे पीछे होनेसे किसी को न्यूनाधिक कहना अनधिकार चेष्टा है। गुणधर, नाग हस्ती, यति वृषभ, श्रीधरषेण, पुष्पदन्त, भूतबलि, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, वट्टकेर,

शिव कोटि, अकलंकदेव, जिनसेन, नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती, प्रभाचन्द्र, विद्यानंद इनके प्रामाण्य में कोई परमाणु मात्र अंतर नहीं है, जैसे कि तीर्थंकरों की अवगाहता समय, क्षेत्र, का भेद होते हुए भी पूज्यता समान है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने निर्ग्रंथता का बड़े जोर से प्रतिपादन किया है देखिये स्वयंभू स्तोत्र।

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने अनेक स्थानों पर द्रव्यस्त्री के पांच ही गुणस्थान माने हैं। सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक में भी यही निरूपण है, सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्री पर्याय नहीं लेता है। स्त्री के कोई ऋद्धि सिद्ध नहीं हो पाती है, सप्तम पृथवीगमन, सर्वार्थसिद्धिकी प्राप्ति भी निषिद्ध है, मनः पर्यय ज्ञान भी नहीं उपजता है, क्षायिक सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता है। ऐसी निन्द्य स्त्री पर्याय में केवलज्ञान का उपजना तो असम्भव ही है। प्रमेयकमलमत्तिण्ड में स्त्रीमुक्ति और केवली कवलाहार का प्रबल युक्तियों और आगम प्रमाण से खण्डन किया गया है। आगम की प्रमाणता सम्प्रदायके अविच्छेद पर निर्भर है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में अनेक प्रथमानुयोग के ग्रन्थ हैं जिनमें असंख्य वर्षों के जीवों के कथानक लिखे गये हैं। किसी भी द्रव्यस्त्री को मोक्ष हुई होय ऐसा एक भी दृष्टांत सुनने में नहीं आया है।

अठ्ठाईस मूलगुणों में ही वस्त्ररहितपना कण्ठोक्त किया है। तृण मात्र परिग्रह या डोरा मात्र ग्रन्थ से छठा गुणस्थान रक्षित नहीं रह पाता है तीर्थङ्करों का वैराग्य सर्वोत्कृष्ट है। राजगद्दी पर बैठें २ द्वादशांग वेत्ता देवर्षि लौकांतिक देवों द्वारा प्रशंसा प्राप्त हो रहे भी तीर्थङ्कर महाराज को तब तक सातवां गुणस्थान नहीं हो पाया था जब तक कि उन्हों ने वन में जाकर वस्त्राभरणत्याग, केशलोंच, ध्याननिमग्नता धारण नहीं की थी। अतः सर्वथा परिग्रह रहितपना संयमी केलिये अत्यावश्यक है। वस्त्रधारी भले ही देशसंयम को पाल ले, आर्य, आर्यिका हो जाय, किन्तु वसन संयम या साधुपन का विघातक ही है। जूयें, लीख, आदि अनेक सम्मूर्छन जन्तुओं का अधिकरण होने से वस्त्र रखते हुए साधु के इन्द्रिय संयम और प्राणि संयम नहीं पल सकते हैं। संयम तो वाह्य और अभ्यंतर परिग्रह का परित्याग करता है। मांगना, सीवना, धोवना, सुखाना, चोरी हो जाने पर क्षोभ उपजना, ऐसे राग द्वेष सम्पादक वस्त्रों के धारी साधु के संयम का घात हो जाता है।

अष्टादश दोष रहित केवली महाराजों के अनन्त सुख होते हुवे कवल-आहार करना कथमपि सम्भावित नहीं है। "एकादशजिने" इस सूत्र को निषेध परक लगाया गया है। भूख लगने पर केवली के अनन्त सुख कहां रहा? दोष और अन्तरायों का प्रत्यक्ष करते हुवे सामान्य मुनि भी भोजन छोड़ देते हैं तो केवली भगवान भला सभी मेध्य अमेध्य का प्रत्यक्ष करते हुवे निरवद्य आहार कैसे कर सकते हैं?

केवल वेदनीय कर्म का उदय होने से क्या हो सकता है?। मोहनीय कर्म भोजन करने में सहायक है और मोहनीय का क्षय दशवें गुणस्थान के अन्त में ही हो जाता है, वेदनीय कर्म की उदीरणा भी छठे तक मानी है। अतः सहायक-मोहनीय के और असाता कर्म की उदीरणा के अभाव में केवली भगवानके कवलाहार की सम्भावना कथमपि नहीं है।

यदि असाता वेदनीय का उदय मात्र ही कार्यकारी हो जाय तब तो भगवान के पुण्य प्रकृति में मानेगये परघात नामकर्म का उदय भी है ऐसी अवस्था में लकड़ी, डंडा आदि द्वारा भगवान दूसरों का ताड़न, पीड़न भी करें। अनन्त सुखी भगवान के जब लाभान्तराय का क्षय हो गया है, शरीरोपयोगी अनन्तानन्त दिव्य वर्गणायें प्रतिक्षण आतीं रहतीं हैं ऐसी दशा में भोजन की आवश्यकता ही नहीं रहती है।

केवली भगवान के अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग घात दिया गया है। अतः एक आध पड़ी हुई पाप प्रकृति अपना फल नहीं दे पाती है। अर्हंत भगवान समवसरण में बैठे हुए ही भोजन करेंगे? अथवा चर्या मार्ग से गृहस्थो के घर २ जाकर? इत्यादि विकल्पों के उठा देने पर केवली के कवला ार का नितांत खण्डन हो जाता है। न्याय शास्त्रों में इसका विशद निरूपण किया गया है।

प्राचीन आचार्ये और आरातीय गुरुपरिपाटी अनुसार ये तीनो बातें सिद्धान्त—विरुद्ध हैं। श्री धरषेण, यतिवृषभ, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलक-देव, पूज्यपाद, नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती, जिनसेन, प्रभाचन्द्र, प्रभृति सिद्धांत-वेदी महान आचार्यों के वाङ्मय स्तम्भों पर यह दिगम्बर धर्म प्रासाद डट रहा है। इनमें से किसी भी आचार्य को गौण या मुख्य समझ बैठने का अधिकार नहीं है। द्वादशांग के किसी विवक्षित विषय का न्यारे २ आचार्यों ने प्रधान रूपेण वर्णन किया है श्री विद्यानंदी, प्रभाचंद्र, महोदय ने युक्तिवाद को अपनाया है। दार्शनिक पद्धति से इतना खण्डन मण्डन कुन्दकुन्द स्वामी के प्रथम नहीं था। कोई लेखक आचार्य निर्णीत-सिद्धांत विषय लेकर बैठे हैं। कतिपय आचार्य चारित्र, कथानक, करणानुयोग साहित्य विषयों का प्रतिपादन करते हैं 'उनके प्रथम ये विषय नहीं थे' ऐसा आविष्कार निकाल बैठना उचित नहीं है। श्वेताम्बरो के यहां भी कितनी ही चर्चायें पीछे लिखीं गईं हैं। पहिले पीछे लिखे जाने से अनाद्यनन्त—कालीन सिद्धांतो में अन्तर नहीं पड़ता है। दायभाग, गणित, सुवर्ण निर्मापण, चतुश्शष्टि-कला—निरूपण, तन्त्र विद्याये अभी तक भी नहीं लिखी जा सकीं हैं। या उपलब्ध नहीं हैं।

अतः मिथ्यात्व वर्द्धक सिद्धान्तो का प्रचार रोक-कर हमे अपनी प्राचीन सर्वज्ञोक्त आम्नाय पर दृढ़ रहना चाहिये।

केवली का कवलाहार, स्त्रीमुक्ति ये केवली के अवर्णवाद हैं। संयमी के वस्त्र सिद्ध करना सघ का अवर्णवाद है। इससे दर्शन मोहनीयकर्म का आस्रव होता है। अतः युक्तियो और आगम प्रमाणो स उक्त तीनो बातें सिद्ध नहीं हो पातीं हैं।

प्राचीन दिगम्बर आम्नाय के श्रद्धालुओ को अपने प्राचीन आर्ष मन्तव्य पर ही श्रद्धा रखना आवश्यक है। मिथ्यात्ववर्द्धक केवलीकवलाहार, स्त्री-मुक्ति, और सचेल संयम ऐसी सिद्धांत विरुद्ध नि-स्सार बातो का श्रवण करना भी उचित नहीं।
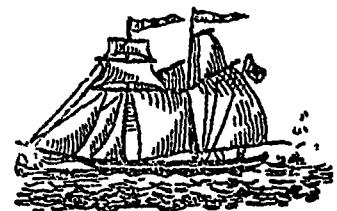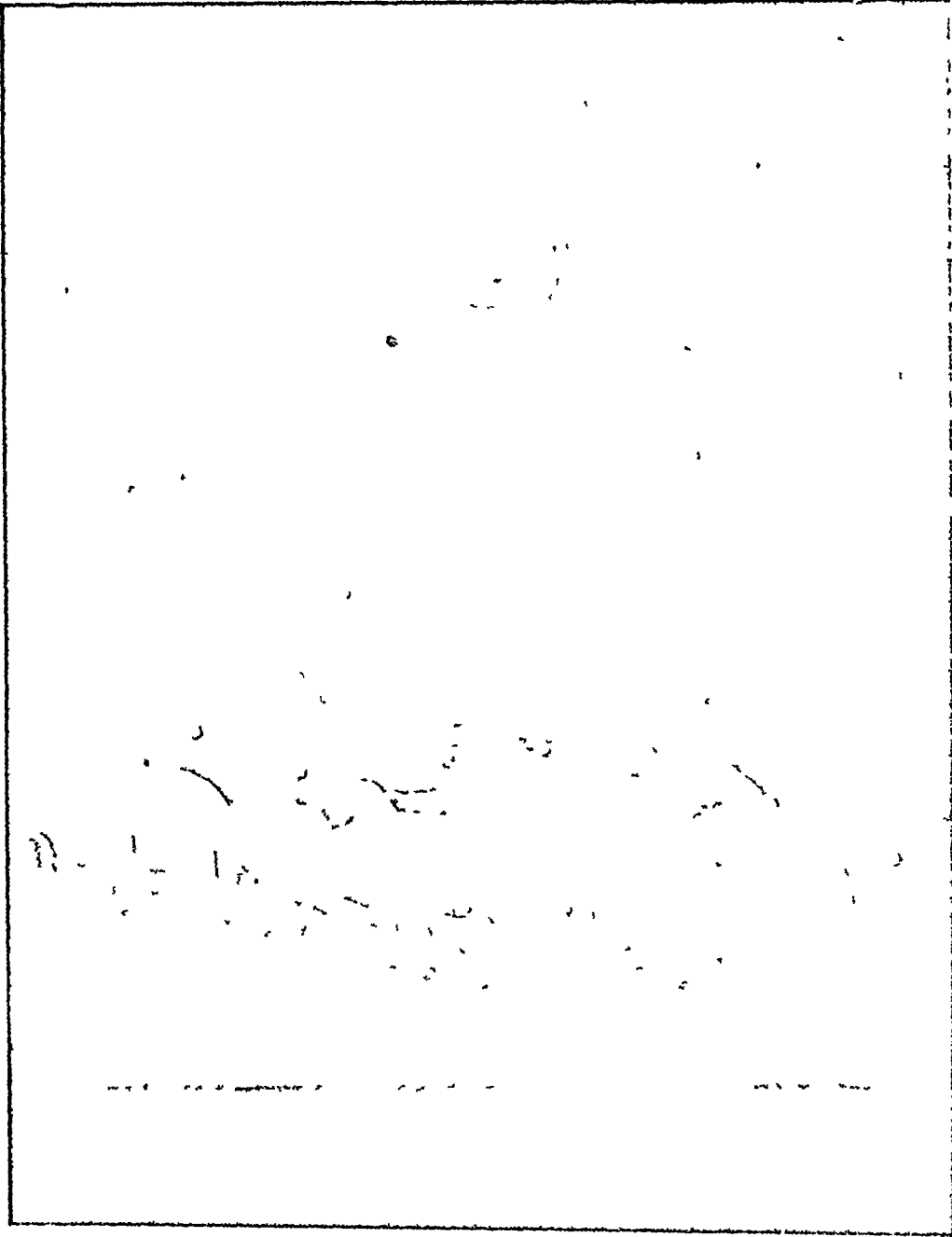
श्रीपरमपूज्यसिद्धान्तशास्त्रप्रवीणतत्वोपदेष्टा

मुनिराज श्री १०८ अभिनन्दनसागरजी महाराज.

१०

साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिषतीर्थ,

श्रीमान पं० नेमिचन्द्र जी शास्त्री,

जैनसिद्धान्त भवन,

आरा।

* श्री अकलंकदेवाय नमः। *

मान्य प्रोफेसर हीरालालजी जैन एम० ए० एल० एल० बी० नागपुरने दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज को एक सूत्र में बांधने केलिये स्त्री-मुक्ति, सचेल-मुक्ति और केवलि-भुक्ति सिद्ध करने की जो चेष्टा की है वह नितान्त अशोभनीय है। प्रथम तो सैद्धांतिक बातो के छोड़ देने पर भी दोनों एक हो सकेंगे यह सन्देहास्पद है, क्योंकि आजकल एक सिद्धांत के मानने वालों में भी परस्पर मनमुटाव देखा जाता है। मेरी समझ से सहृदयता और वात्सल्य के कारण उपर्युक्त बातों में सैद्धांतिक मत-भेद रहने पर भी दोनों सम्प्रदाय एक हो सकते हैं, दोनों में प्रेम का प्रचार किया जा सकता है, फिर क्या कारण है कि प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित युक्तिसगत सिद्धांतों को छोड़ देने के लिये जोर दिया जा रहा है। इस छोटे से निबंध में प्रोफेसर सा० द्वारा उक्त तीनों विषयो के सम्बन्ध में दी गई युक्तियो पर विचार किया जायगा।

प्रोफेसर साहब ने स्त्री-मुक्ति को सिद्ध करने के लिये लिखा है कि—

'कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्पष्टतः स्त्री-मुक्ति का निषेध किया है। किन्तु उन्हों ने व्यवस्था से न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्मसिद्धान्त का विवेचन किया है, जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय चिंतन शेष रह जाता है।"

इससे यह स्पष्ट है कि आपको भगवान कुन्दकुन्द-आचार्य के शास्त्रीय ज्ञान पर सन्देह है, पर आपने यह दिखलाने की कृपा नहीं की कि कुन्दकुन्दाचार्य की गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धान्तके विवेचन मे क्या त्रुटि रह गई है? कुन्दकुन्द जैसे दिगम्बर आम्नाय के सर्वोत्कृष्ट आचार्य को अप्रामाणिक कहना बड़ी भूल है। इसके बाद आपने सर्वार्थसिद्धि के रचयिता पूज्यपाद, गोम्मटसार के निर्माता नेमिचन्द्राचार्य और अमिगत्याचार्य आदि प्रसिद्ध दिगम्बराचार्यों को अप्रामाणिक बतलाया है, यह भी आप जैसे बहुश्रुत विद्वान के लिये अनुचित है।

आपने स्त्रीमुक्ति को सिद्ध करने के लिये जो दलीलें पेश की हैं, वे निस्सार जचती हैं। क्योंकि अष्टकर्म विनाशस्वरूप, आत्माके अचिंत्य, अविनाशी और स्वाभाविक गुण, अनन्त चतुष्टय की प्राप्तिरूप मोक्ष तत्त्व में स्त्री को नहीं हो सकती। इसका प्रधान कारण स्त्री में मोक्ष प्राप्ति योग्य शक्ति और संहनन का अभाव ही है। मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक अतुल बल स्त्री-जातिमें कदापि नहीं हो सकता है।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पुरुष जाति की अपेक्षा स्त्री-जातिमें बल की न्यूनता है। जिस कठिन परिश्रम के कार्य को पुरुष कर सकता है, उस श्रम साध्य कार्य को स्त्री कदापि नहीं कर सकती है, क्योंकि प्राकृतिक

नियमसे उनका शरीर संगठन ऐसा ही है। शक्ति तो तर्कागोचर होती है। सर्वार्थसिद्धिकार ने स्पष्ट लिखा है कि—

"अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो, न द्रव्यतः, द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव"।

इससे स्पष्ट है कि द्रव्यपुंलिंग से ही तद्भवमें मोक्ष की प्राप्ति होती है, द्रव्य स्त्रीवेद से नहीं।

आपने अपने पक्षको पुष्ट करने केलिये 'योनिनी' शब्द का अर्थ द्रव्यस्त्री ही बताया है, सो भी अनुचित है। क्योकि योनिनी शब्द का प्रयोग तिर्यंच स्त्रियों के लिये भी आया है। षट्खण्डागम और तत्वार्थ सूत्र के सूत्रों से भी 'योनिनी' शब्द का प्रयोग तिर्यंच स्त्रियों के अर्थ में ही सिद्ध होता है। 'तिर्यग्योनिजानां च' इस सूत्र से यही सिद्ध होता है कि तिर्यग् योनि शब्द का ही आगे जाकर संक्षिप्त रूप योनिनी हो गया है। षट्खण्डागम के 'मणुस्सातिवेदा मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अणियट्टित्ति' और 'तेण परम-वगदवेदा चेदि' इन दो सूत्रों से वेद के रहते हुए भी नौवें गुणस्थान से आगे वाले जीवों को अवेदी कहा है, अतः यह स्पष्ट है कि योनिनी शब्द का अर्थ भाव स्त्री से ही लिया गया है।

आपने इस प्रकरण को सिद्ध करने के लिये एक दलील यह भी पेश की है कि वेद-वैषम्य सिद्ध नहीं हो सकता है, वेद-वैषम्य मानने में अनेक दोष आते हैं, यह ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों वेदों के कारण भिन्न २ हैं—भाववेद वेदनोकषायके उदयसे परिणाम रूप और द्रव्यवेद नामकर्म के उदय से पुद्गल रचना विशेष उपांगरूप होता है। परिणाम कर्त्ता (स्त्री या पुरुष) की क्रिया के विपरीत भी हो सकते हैं। क्रिया से विपरीत दिशा में ज्ञान की धारा (परिणाम) का होना अनुभव सिद्ध है। अतः यह स्पष्ट है कि कर्म भूमि में वेद-वैषम्य रहता है, जहां वेद वैषम्य नहीं रहता है वहां वेद सम्बन्धी विरुद्ध विचार भी नहीं होते। उदाहरणार्थ देव गति और नरकगति को ले सकते हैं, वहां द्रव्य और भाववेद समान हैं, इसी से वहां विचार-विषमता सम्भव नहीं है।

आपकी इस सम्बन्ध में एक खास आपत्ति यह भी है कि द्रव्यवेद और भाववेद की अपेक्षा से ६ भंग नहीं बन सकते हैं, क्योंकि जो द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्री है, वह अभिलाषा न होने से जीवनभर सम्भोग रूप कार्य से वंचित रहेगा। इस संबंध में भी मेरा यही निवेदन है कि अनेक पुरुष ऐसे देखे जाते हैं जो आजीवन ब्रह्मचारी रहते हैं तथा ऐसी स्त्रियां भी मिलती हैं जो आजन्म ब्रह्मचारिणी रही हैं। वर्तमान में अनेक स्त्री-पुरुष कृत्रिम उपायों से भी संभोग करते हुए सुने जाते हैं। अतः द्रव्य और भाववेद को पृथक २ मानना ही पड़ेगा, इनके मानने पर ६ भंग बताने में कोई भी आपत्ति नहीं आवेगी। शास्त्रकारों ने—

"पुरुगुणभोगे सेदे करोदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं। पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो"।

अर्थात् जो उत्कृष्ट गुण युक्त कार्य करे वह पुरुषवेद।

'छादयदि सयं दोसेण सा इत्थी'।

अर्थात् जो अपने और पर को दोषों से आच्छादित करे वह स्त्रीवेद। और—

'णे वित्थी णेव पुमं णउंसओ'।

यानी-जो न स्त्री हो और न पुरुष वह नपुंसक

वेद होता है। इन लक्षणों के अनुसार नौ भंगवाली व्यवस्था सुगमता से घटित हो जाती है।

इसी सम्बन्ध में प्रोफे० सा० ने आगे जाकर यह प्रश्न भी उपस्थित किया है कि वेद के नौ भंगों के समान इंद्रियो के भी पच्चीस भंग क्यो नहीं स्वीकार किये जाते ? इसका उत्तर यही है कि जाति नामकर्म के अनुसार ही इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। इसी कारण द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय एक जीव के एक ही प्रकार की मानी गई है।

"वीर्यान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरण क्षयोपशमे सति शेषेन्द्रिय सर्वघातिस्पर्धकोदये च शरीरनामलाभावष्टम्भे एकेन्द्रियजातिनामोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति।"

इससे स्पष्ट है कि जाति नामकर्म के माध्यम होने से जो भावेन्द्रिय होती है वही द्रव्येन्द्रिय भी। अत एव वेद के नौ भंगो के समान इन्द्रियो के पच्चीस भंगो का प्रसग नहीं आ सकता है। उपर्युक्त आक्षेप समाधानों से यह स्पष्ट है कि प्रोफे० सा० के द्वारा स्वयं दिये गये प्रमाणों से ही स्त्रीमुक्ति का निषेध हो जाता है।

दिगम्बर जैन मान्यता के अनुसार सचेल मुक्ति सिद्ध करने के लिये प्रोफेसर साहब ने आगम के दो प्रमाण उपस्थित किये हैं। पहिला श्री शिवकोटि आचार्यकृत भगवती आराधना का और दूसरा सर्वार्थसिद्धि एवं राजवार्तिक का। आपने भगवती आराधना के—

'उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिगस्स विपसत्थमुवसग्गियं लिंगं' ७६
इत्थी वि य जं लिंगं दिट्ठं ऊस्सग्गियं च इदरं वा।
त तह होदिहु लिंगं परियक्तंमुवधिं करंतीए ॥८३॥

इन दो गाथाओं से सवस्त्र मुक्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है, परन्तु इन गाथाओ के प्रकरणानुसार अर्थ से यही अवगत होता है कि इनमे भक्त प्रत्याख्यान करने वाले श्रावक के चिन्ह बतलाये हैं। भक्त प्रत्याख्यान करने वाले मुनि का वही औत्सर्गिकलिंग रहेगा, पर जब कोई अपवादलिंग धारक गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान करेगा, तब वह निर्दोष पुरुषाकार के होने पर औत्सर्गिकलिंग धारण कर सकता है।

इसलिये उक्त गाथाओ का तात्पर्य अर्थ यही है कि गृहस्थ को किस परिस्थिति में नग्नता धारण कर भक्त प्रत्याख्यान और किस अवस्था मे सवस्त्र होकर भक्त प्रत्याख्यान करना चाहिये। स्त्री एक वस्त्र के अतिरिक्त समस्त परिग्रह का त्याग करके अणुव्रती होती हुई महाव्रती के समान बताई गई है, पर उसके साक्षात् महाव्रतों का अभाव है। बिना वस्त्र त्याग के साक्षात् महाव्रत नहीं हो सकते हैं। अपवादलिंग भी ऐलक एवं क्षुल्लक आदि के लिये बताया गया है। ये भी अपने मन मे यही भावना भाते रहते हैं कि हमें कब मुक्ति पद प्राप्त होगा ? हमने पापोदय से वस्त्र का परिग्रह कर रक्खा है, इस प्रकार हमेशा पश्चात्ताप करते रहते हैं।

राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि से सवस्त्रमुक्ति का स्पष्टतः निषेध सिद्ध होता है क्योंकि—

'नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः अखण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः' इस पंक्ति मे 'शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः'

इस वाक्य का सवस्त्रत्व अर्थ कदापि नहीं हो सकता है क्योंकि 'नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः' और 'अखंडितव्रताः' इन विशेषणों को 'शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः' इस विशेषण के साथ समन्वित करना है।

इससे सवस्त्र अर्थ सिद्ध न होकर जो मुनि नग्न दिगम्बर रहते हैं मूल गुणों को खण्डित नहीं होने देते हैं किन्तु उपकरण—पिच्छिका कमण्डलु और शरीर की स्वच्छता पसन्द करते हैं वे वकुश मुनि कहलाते हैं। राजवार्तिक के निम्न वार्तिकों से तो निर्ग्रंथपना स्पष्ट सिद्ध होता है।

दृष्टिरूपसामान्यात्—

सम्यग्दर्शनं निर्ग्रंथरूपं च भूषावेशायुधविरहितं तत्सामान्यायोगात् सर्वेपु हि पुलाकादिषु निर्ग्रंथशब्दो युक्तः।

भग्नव्रते वृत्तावतिप्रसंग इतिचेन्न रूपाभावात्—

यदि भग्नव्रतेऽपि निर्ग्रंथशब्दो वर्तते श्रावकेऽपि स्यादिति—अति प्रसंगः, नैष दोषः, कुतो रूपाभावात् निर्ग्रंथरूपमत्र नः प्रमाणं न च श्रावके तदस्तीति नातिप्रसंगः।

इन पंक्तियों में भगवान अकलंकदेव ने पांचों ही प्रकार के मुनियों को वस्त्र, आयुध और वाहनादि समस्त परिग्रह रहित सम्यग्दृष्टि सिद्ध किया है। सूत्रकार ने भी 'निर्ग्रंथाः' इस शब्दसे समस्त मुनियों को निर्ग्रंथ दिगम्बर ही बतलाया है।

आपने 'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः' इस पंक्ति का अर्थ यह लिया है कि 'द्रव्यलिंगसे पांचों ही निर्ग्रंथों में विकल्प स्वीकार किया गया है। तथा टीकाकारोंने ने यह अर्थ किया है कि मुनि कभीर वस्त्र भी धारण कर सकते हैं, मुक्ति भी सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ दोनों लिंगों से कही गई है' यह गलत है। क्योंकि किसी भी टीकाकार ने सवस्त्र मुक्ति नहीं लिखी है, यह तो केवल आपकी मन कल्पित बात है। भावलिंग की अपेक्षा नाना शरीराकृतिवाले होते हैं।

"निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूत पूर्वनयापेक्षया"

यहां पर भूतपूर्वनय का अर्थ प्रागवस्था है अर्थात प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा से निर्ग्रन्थलिंग से ही मोक्ष-पद मिलता है, पर भूतपूर्वनय की अपेक्षा से सग्रन्थ-लिंग से भी। सग्रन्थलिंग से साक्षात् मोक्ष प्राप्ति का अभाव है। परम्परा से सग्रथलिंग से मोक्ष प्राप्ति कही जा सकती है।

आपने अपने पक्ष को साबित करने केलिये एक प्रमाण यह भी दिया है कि धवलाकार ने पांचों व्रतों के पालने का नाम ही संयम बताया है, वस्त्रत्याग की संयमीके लिये कोई आवश्यकता नहीं है, सो इस आक्षेप का भी यही उत्तर है कि पांचों महाव्रतों के अन्तर्गत ही सभी मूल गुण आ जाते हैं। जिसके परिग्रह त्याग महाव्रत होगा, उसके वस्त्रत्याग रहेगा ही। एक वस्त्र के रखने पर भी परिग्रहवान् ही कह-लायगा। समस्त परिग्रह का त्याग तो तभी कहलाय गा, जब वस्त्रादि सभी वस्तुओं का त्याग करेगा। अतः संयम की उक्त परिभाषा मान लेने पर भी, वस्त्रत्याग संयमी के आ ही जाता है।

युक्ति से भी निर्ग्रंथमुक्ति ही सिद्ध होती है, क्योंकि दिगम्बरत्व प्रकृति का रूप है, वह प्रकृति का दिया हुआ मनुष्य का वेश है। तथा 'धम्मो वत्थु सहावो' इस लक्षण के अनुसार दिगम्बरत्व मनुष्य का निजीधर्म सिद्ध होता है और धर्म, धर्मी से पृथक नहीं रह सकता है फिर सवस्त्रमुक्ति कैसे सिद्ध हो सकती है। अन्य मतमतांतरों से भी दिगम्बरत्व आत्मा का वास्तविक धर्म ही सिद्ध होता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी स्थविरकल्प और जिन कल्प मार्ग में जिन कल्प मार्ग ही प्रशस्त बतलाया गया है।

आचरांगसूत्र में लिखा है कि—

'आउरणवज्जियाणं विसुद्धजिणकप्पियाणन्तु'

अर्थात् वस्त्रादि आवरणयुक्त साधु से आवरण रहित जिनकल्पि साधु विशुद्ध है। और भी कई जगह इस प्रकार के प्रमाण मिलते हैं जिनसे निर्ग्रंथ मुक्ति की ही सिद्धि होती है।

श्रद्धेय प्रोफेसर साहब ने तीसरी बात केवली को कवलाहार की बतलाई है। आपने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये बतलाया है कि "तत्वार्थ सूत्रकार और कर्म सिद्धान्तानुसार वेदनीयोदय जन्य क्षुधा, तृषादि ग्यारह परीषह केवली के भी होते हैं। यद्यपि सर्वार्थ सिद्धिकार और राजवार्तिककार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मोहनीय कर्मोदय के अभाव में वेदनीय का अभाव जर्जरित हो जाता है जिससे वेदनायें केवली के नहीं होतीं, पर कर्म-सिद्धांतानुसार यह बात सिद्ध नहीं होती।" परन्तु मेरी दृष्टिसे प्रोफे० सा० का यह कथन गलत है क्योंकि कर्मसिद्धांतानुसार ही वेदनीयकर्म मोहनीयकर्म के उदय से ही फल देता है, यह सिद्ध है। मोहनीयके अभाव में वेदनीयोदय जर्जरित हो जाता है। कर्मसिद्धांत में बतलाया है कि—

घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु॥

अर्थ—वेदनीयकर्म मोहनीयकर्म के उदय के बल से ही घातिया कर्मों के समान जीवों का घात करता है। मोहनीयोदय के अभाव में वेदनीयोदय अपना फल देने में असमर्थ है। इसीलिये कर्मों के क्रमपाठ में आचार्यों ने उसे घातिया कर्मों के मध्य में रक्खा है। तत्वार्थसूत्र के—

"आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयायुर्नामगोत्रान्त-रायाः"

इस सूत्र के कर्म-क्रम निर्देश से भी यही सिद्ध होता है कि मोहनीयोदय के कारण ही वेदनीयोदय अपना फल देता है, अन्यथा अघातीय वेदनीयकर्म को अघातिया कर्मों के साथ रखते, पर आचार्य ने ऐसा नहीं किया है। इससे स्पष्ट है कि बिना मोहनीयोदय के वेदनीयोदय जन्य वेदनायें नहीं हो सकती हैं।

आपने केवलि—भुक्ति को सिद्ध करने के लिये दूसरा प्रमाण देवागमस्तोत्र की ९३वीं कारिका का उपस्थित किया है, उसमें आपने बतलाया है कि केवलीके सुख दुःख रहते हैं। पर यह आपका कहना निराधार है, क्योंकि इस कारिका में—

'वीतरागो मुनिर्विद्वान्'

इस पद का अर्थ केवली नहीं है, छठे गुणस्थान-वर्ती मुनि है। अष्ट सहस्री एवं आप्तमीमांसा आदि टीका ग्रन्थों से भी यह सिद्ध होता है कि यह शब्द प्रमत्तसंयत मुनिके लिये प्रयुक्त हुआ है इसका प्रधान कारण यह है कि विद्वान् शब्द का प्रयोग छद्मस्थों के लिये होता है, केवलियों केलिये नहीं। अतः आगम और युक्तियों से स्त्री-मुक्ति सचेल-मुक्ति और केवलि-भुक्ति कदापि सिद्ध नहीं होती हैं।

श्रीमान् पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी,

—के तत्वावधान में—

श्रीमान् ब्र० मनोहरलाल जी,

श्रीमान् पं० दयाचन्द्र जी शास्त्री,

,, श्रुतसागर जी तीर्थत्रय,

,, पन्नालाल जी साहित्याचार्य,

,, माणिकचन्द्र जी न्यायतीर्थ,

—द्वारा निबद्ध—

श्री कुन्दकुन्दभगवते नमः

स्त्रीमुक्ति खण्डन—

१— स्त्रीमुक्ति सिद्ध करने केलिये प्रोफे० हीरालाल जी जैन एम० ए०, नें जो षट्खण्डागम के सूत्रों का प्रमाण दिया है उन्हीं सूत्रों से प्रोफे० सा० के अभिप्राय के विरुद्ध बात सिद्ध होती है अर्थात् स्त्री मुक्ति नहीं होती यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। जैसे सत्प्र० सूत्र ९३वे—

'सम्मामिच्छाइट्ठी असंजद सम्माइट्ठी संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ'

अर्थ—मानुषी सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत गुणस्थानों में पर्याप्त ही होती है। इससे पहिले के सूत्र में बताया है।

माणुसीसु मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठीट्ठाणे सिय पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ।

मानुषियों में मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे पर्याप्त भी हैं अपर्याप्त भी है। इस तरह मानुषी में सम्भव होने वाले गुणस्थान में पर्याप्त अपर्याप्त का विधान बताया है। उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि द्रव्यस्त्रीवेदी मानुषी के ५ गुणस्थान होते हैं। जब मानुषी के छटवां गुणस्थान तक नहीं होता तो कैसे स्त्री मुक्ति सिद्ध हो। आगे इसी ९३ नं० सूत्र की टीका मे लिखा है।

अस्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्धयेदिति चेन्न।

शंका—इस आगम से द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्ति सिद्ध होगी। समाधान नहीं सिद्ध होगी क्यों?

सवासस्त्वात् अप्रत्याख्यान गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।

सवस्त्र होनेसे अप्रत्याख्यान (संयतासंयत) गुणस्थान होता है अतएव उनके संयम की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

शंका—कथं पुनस्तासां चतुर्दश गुणस्थानानि।

फिर कैसे उनके चौदह गुणस्थान हो सकते हैं! समाधान—

इति चेन्न यह शंका ठीक नहीं "भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्"

भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगति में उनेक सद्भाव का विरोध नहीं। फिर शंका—

'भाववेदोबादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दश गुणस्थानानां सम्भवः'

भाववेद बादर कषाय (९वां गुणस्थान) से ऊपर नहीं होता इसलिये चौदह गुणस्थान कैसे सम्भव हैं। समाधान—

'इति चेन्न'

यह शंका ठीक नहीं

अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात् गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति।

यहां पर वेद की प्रधानता नहीं किन्तु गति प्रधान है और वह पहिले नष्ट नहीं होती है। शंका—

'वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्ति'

वेद विशेषण से युक्त मनुष्य गति में १४ गुणस्थान सम्भव नहीं। समाधान—

'इति चेन्न'।

यह शंका ठीक नहीं।

विनष्टेपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधान मनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्।

विशेषण के नष्ट होने पर भी उपचार से उस संज्ञा को धारण करने वाली मनुष्यगति में १४ गुणस्थान के सत्व का विरोध नहीं।

इत्यादि शंका समाधानों द्वारा जिस सूत्र का प्रमाण प्रोफे० सा० ने दिया उसी सूत्र से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि द्रव्यस्त्री-वेदी मानुषी के ५ ही गुणस्थान तक हो सकते हैं उनके सयम नहीं हो सकता अतः मुक्ति भी नहीं होती और जो यह कथन है कि मानुषी के १४ गुणस्थान हैं यह उपचार से है यह अन्तिम शका समाधान से सिद्ध है अर्थात् भावस्त्रीवेदी मनुष्य ९वें गुणस्थान के सवेदभाग तक रहा पश्चात् अवेद हुआ और आगे के गुणस्थानों में प्रवेश हुआ तब यह वह मनुष्य है जो पहिले भावस्त्रीवेदी था ऐसा बोध होने के हेतु उपचार से यह कथन कर दिया जाता है।

आश्चर्य तो यह है कि जब धवलाकार ने स्पष्ट शब्द में विवेचन कर दिया तब शंका का स्थान ही क्या रह जाता है इसी समाधान से, जो प्रोफे० सा० ने और द्रव्य प्र० ९६,१२४,१२६, क्षेत्र प्र० ४३ स्पर्शन प्र० ३४-३८, १०२-११०, काल प्र० ६८-८२, २२७-२३५ अन्तर प्र० ५७-७७, आदि जो जो प्रमाण पेश किये हैं वे उनके अभिप्राय को सिद्ध करने में असाधक हैं।

२- श्री पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि तथा श्री नेमिचन्द्राचार्य कृत गोम्मटसार ग्रन्थ के कुछ सार का प्रोफे० सा० ने उल्लेख किया है सो पहिले तो ठीक किया फिर 'किन्तु' लिखकर असंतोष प्रगट किया सो उन्हें असंतोष दूर करना चाहिये या पूर्ण करना चाहिए क्योंकि ये सब ग्रन्थ स्त्री मुक्ति के असाधक हैं।

प्रोफेसर सा० ने जो 'योनिनी' का प्रयोग द्रव्य-स्त्री में ही बताया है वह ठीक नहीं क्योंकि अनेक ग्रन्थों में योनिनी शब्द से भावस्त्री वेदी का भी ग्रहण किया है। कई जगह भूत प्रज्ञापननय की अपेक्षा वर्णन किया है इस नयसे उस क्षण के पूर्व की पर्याय ही नहीं लेना किन्तु उस भव से यह नय सम्बन्ध रखता है, केवल उस भव से ही सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु उसके पूर्वभव से भी सम्बन्ध रखता है जैसे कि — क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनांतरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः इस सूत्र की टीका में लिखा है।

'एकांतरगतौ चतसृषु गतिषु जातः सिद्ध्यति'

एकांतरगतिकी अपेक्षा भूतप्रज्ञापननय से चारों गति में सिद्ध होते हैं जैसे कोई नारक मनुष्य भव पाकर सिद्ध हो जाय या तिर्यंचदेव मनुष्यभव पाकर सिद्ध हो जाय यही भाव यहां इस नय का है। लिंग की अपेक्षा तो सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट लिखा है।

लिंगेन केन सिद्धिः अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुंलिंगेनैव,

किस लिंग से सिद्धि होती है अवेदत्व से सिद्धि होती है अथवा भाव से तीनों वेदों से सिद्धि होती है

किन्तु द्रव्य से नही, द्रव्यसे पुल्लिंगसे ही सिद्धि होती है जब ऐसा स्पष्ट नियम भी पूज्यपाद स्वामी ने तथा अकलंकदेव ने राजवार्तिक में—

लिंगेन केनचित्सिद्धः। लिंगं त्रिविधो वेदः अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः वर्तमानविषयविवक्षायामवेदत्वेन सिद्धिर्भवति। अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति भावं प्रति, न तु द्रव्य प्रति द्रव्यापेक्षया पुल्लिंगेनैव सिद्धिः

इत्यादि स्पष्ट विवेचन कर दिया है फिर इस विषय में शंका का कोई स्थान नहीं रह जाता।

श्री विद्यानंदि स्वामी ने भी लिखा है—

'पुंल्लिंगेनैव तु साक्षाद् द्रव्यतोन्या तथागम—
व्याघाताद्युक्तिबाधाच्च स्त्र्यादिनिर्वाणवादिनां'॥

इस तरह सिद्ध होता है कि सभी, दिगम्बर आम्नाय के आचार्यों ने स्त्री की मुक्ति का अभाव माना है।

३- वेदवैषम्य की सिद्धि के अभाव का प्रयास भी व्यर्थ है गोम्मटसार में लिखा है।

पुरुसिच्छिषंड वेदोदयेण पुरिसिच्छिसंडओभावे
नामोदयेण दव्वे पायेण समा कहिं विसमा।
॥ गाथा २७० ॥

पुरुष स्त्री नपुंसकवेद कर्म के उदय से भावपुरुष भावस्त्री भावनपुंसक होता है और नामकर्म के उदय से द्रव्य पुरुष द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुंसक होते हैं। सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्रायः करके समान होता है और कहं २ विषम भी होते हैं।

अथवा जैसे कोई पुरुष मिथ्यादृष्टि था तब तीनो वेदों का बंध करता था। जब वह चतुर्थ गुणस्थान में पहुंचा तब से केवल पुंवेद का बंध किया फिर मुनि हो गया और क्षपकश्रेणि भी प्रारंभ करने लगा तब उसके जो पहिले स्त्रीवेद नपुंसकवेद का बंध था वह उदय में आया यहां उदय का अर्थ यह नहीं कि उसका काम भी हो किन्तु प्रकृति उदयावस्था को प्राप्त हुई पीछे और ऊपर के गुणस्थानों में चढ़कर मुक्त हो जाय तो यह नहीं माना जा सकता कि स्त्री मुक्त हुई इसी विवक्षा से शास्त्रों में वर्णन है अन्यथा नपुंसक की भी मुक्ति होना चाहिये। वेदवैषम्य के विषय में वर्तमान में भी देखा जाता है कि कोई पुरुष है उसका स्त्री जैसी भाषा, काय संचलन है अथवा पुरुषोसे भी रमने लगता है।

४- गोम्मटसार मे बताया है कि क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ मनुष्यही कर सकता है। और सम्यग्दृष्टि मर कर स्त्री आदि मे उत्पन्न नहीं होता और क्षायिकसम्यक्त्वसे ही मुक्ति होती है तब तो यह स्पष्ट हो गया कि स्त्री की मुक्ति नहीं होती।

दसण मोहक्खवणा पट्ठवगो कम्मभूमि जादोहु।
मणुसो केवलि मूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ॥
॥ गो० जी० ६४७ ॥

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि,
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजंति नाप्यव्रतिका
॥ रत्नकरंड ३५ ॥

कर्मभूमि की महिलाओं के अंतिम ३ संहनन होते हैं और मुक्ति केवल वज्रर्षभ नाराच संहनन से ही होती है इससे भी यह निर्विवाद है कि स्त्री की मुक्ति नहीं होती।

अन्तिमतियसंहणणस्सुदओ पुण कम्म भूमिमहिलाणं। आदिमतिगसंहणण णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं॥ गो० क० ३२॥

अपमत्ते संमत्तं अन्तिम तिय संहदीय पुव्वह्मि।
छच्चेव णोकसाया अणियट्टि भाग भागेसु।

वेदतिय कोहमाणं मायासंजलणमेव सुहुमंते ।
सुहमो लोहोसते वज्जणारायणारायं ।
गो० क० २६८-२६६

इन गाथाओं में बताया है अंतके ३ संहननों की उदय व्युच्छित्ति सातवें गुणस्थान में होती है और वज्रवृषभ नाराच व नाराच संहनन की उदय व्युच्छित्ति ११वें गुणस्थान में होती है इससे सिद्ध होता है कि केवल वज्रवृषभनाराच संहनन वाला ही ऊपर जाता है प्रथम संहनन की व्युच्छित्ति १३वें गुणस्थान में होती है इससे सिद्ध है कि अर्हंत प्रथम संहननवाला ही हो सकता है अतः मुक्ति का पात्र वज्रवृषभनाराच संहनन वाला ही है।

तदियेक्कवज्जणिमिणं थिरसुहसरगतिउराल तेजदुगं
संठाणं वण्णा गुरु चउक्क पत्तेय जोगिम्हि ।
॥ गो० क० २७१ ॥

५- सत्प्ररूपणा सूत्र ६३ की टीकामें स्पष्ट कियाहै-

भावसंयमस्तासां सवाससामर्थ्यविरुद्ध इति चेन्न न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभावि-वस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।

अर्थ— वस्त्र सहित होते हुए भी स्त्रियों के भावसंयम नहीं क्योंकि यदि भावसंयम होता तो भाव-असंयम का अविनाभावी वस्त्रादि ग्रहण भी न होता। इससे सिद्ध होता है कि स्त्री सवस्त्र है और सवस्त्र के भावसंयम नहीं होता। और भावसंयमके बिना मुक्ति कैसी ?

केवली कवलाहार निवारण—

प्रोफेसर हीरालालजी ने श्री उमास्वामी कृत सूत्र का प्रमाण देते हुए केवली को क्षुधा पिपासादि जन्य वेदना का सद्भाव सिद्ध किया है, श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उसका निषेध किया इन दोनों आचार्यों के विरोध को दूर करने के लिये निम्न लिखित वक्तव्य पाठकों के समक्ष पेश करता हूं। पहिले तत्वार्थ सूत्र से ही उक्त वेदना का अभाव सिद्ध करते हैं। सूत्र में "एकादश जिने" इसके अनुसार वेदनीय कर्म के उदय से ग्यारह परिषह का सद्भाव माना गया है। सूत्रके टीकाकारों ने केवल असाता के उदय को लेकर परिषह सिद्ध की है, न कि केवली के क्षुधादि वेदना की, वेदना होने में मोह का होना आवश्यक है केवल एक ही कारण से वेदना नहीं हो सकती उसके कारण अनेक माने गये हैं जैसा कि श्री मन्नेमिचन्द्राचार्य जी ने जीव कांड में उल्लेख किया है।

माया लोहे रदि पुव्वाहारं कोह माणम्हि भयं ।
वेदे मेहुण सण्णा लोहम्मि परिग्गहे सण्णा ॥१॥

तथा—

आहारदंसणेण य, तस्सुवजोगेण ओमकोठाए ।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णाय ॥२॥

अर्थ—माया लोभ के उदय में, तथा रति नो—कषाय के उदय आनेपर इनके अतिरिक्त बाह्य कारण जैसे आहार के दर्शन से या उसमें उपयोग लगाने तथा उदर रिक्तता से और असाता की उदारणा से क्षुधा वेदना होती है इससे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि केवली के क्षुत्पिपासादि नहीं हैं। कई एक कार्य अनेक कारणों से होते हैं। सूत्रकार ने केवल असाता का उदय मात्र लेकर क्षुधादि का उपचार किया है, उपचार भी निमित्त मात्र बतलाने के लिये है। मोहादि के उदय बिना असाता वेदनीय वेदना में निमित्त नहीं हो सकता।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य अध्यात्म-प्रधानी हैं उन्हों ने युक्तियों तथा अनुभव में वेदना का अभाव बताया है। केवल ज्ञानियों के सिर्फ ज्ञान चेतना ही है,

कर्म चेतना नहीं, इसमें रति भी नहीं है और कर्म फल चेतना नहीं है इससे दुःख (वेदना) नहीं फिर क्षुधादि वेदना कैसे बीचमें आ सकती है। कर्म सिद्धांतका यह तात्पर्य नहीं है कि जो कर्म उदय में आवे वह जीव को नियम से फल देवे, बिना फल दिये भी कर्म उदय में आ सकता है। यह नियम नहीं कि कोई विष खा ले तो उसे मरना ही चाहिये।

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि वेदना का अभाव दोनों ही आचार्यों को इष्ट है जब वेदना ही सिद्ध नहीं होती है तब कवलाहार मान्यता का प्रवेश नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि जो अनन्त बलशाली हैं और अनन्त सुखी हैं उनको वेदना पीड़ा का होना असम्भव है।

स्त्रीमुक्ति के खंडन से ही सवस्त्रमुक्ति का खंडन स्वयमेव हो जाता है धवला सत्प्ररूपणा सूत्र नं० ९३ की टीका से इस विषय का स्पष्ट विवेचन हो जाता है भगवती आराधना में जो उत्सर्ग, अपवाद मार्ग का कथन है उसका अभिप्राय समाधिमरण करने वाले गृहस्थ से है।

तत्वार्थसूत्रमें जो शरीर संस्कारका वकुश नामक मुनि के विषय में कथन है उसका वस्त्र आभूषण से प्रयोजन नहीं किन्तु शरीर की सुन्दरता निरीक्षण, हस्तादि से स्वच्छता करना आदि से प्रयोजन है।

'भाव लिंग प्रतीत्य निर्ग्रंथा लिंगिनो भवंति द्रव्य-लिंगं प्रतीत्य भाज्या' इसका अर्थ वस्त्र धारण मे नहीं किन्तु यह अर्थ है भावलिंग से सब निर्ग्रंथ अर्थात अपरिग्रही और वस्त्र रहित होते है और वाह्य चिन्ह या कार्य से उनके अनेक भेद हो सकते है जैसे आ-हार करने वाले, मुनि विहार करने वाले, अध्ययन करने वाले मुनि इत्यादि—

सर्वार्थसिद्धि में सग्रन्थलिग से परम्परा से भूत प्रज्ञापन नय की विवक्षा मे वर्णन है साक्षात् मुक्ति निर्ग्रंथलिगमें होती है ऐसा स्पष्ट विवेचन है। तत्वार्थ सूत्र मे व्रत का लक्षण 'हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्' कहा है और मुनि व्रत के लिये 'देश-सर्वतोऽणुमहती' कहा है सर्वथा पांच पापों का त्याग महाव्रत है वस्त्र रखने मे सर्वथा परिग्रह त्याग कैसे हो सकता है। इस प्रकार दिगम्बर आम्नायमे सवस्त्र मुक्ति बिलकुल सिद्ध नहीं होती इस विषय मे प्रवचन सार आदि ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन है।

११
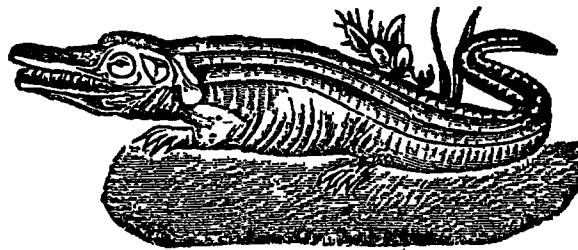
श्रीमान् पं० इन्द्रलाल जी शास्त्री,

जयपुर।

❀ श्री वीतरागाय नमः । ❀

श्री० प्रोफेसर हीरालाल जी जैन एम० ए० एल० एल० बी० अमरावती ने जो स्त्री मुक्ति, सग्रन्थ मोक्षत्व और केवलि आहार इन तीनों विषयों को दिगम्बर जैनागम द्वारा विहित बतला कर श्वेताम्बर दिगम्बर धर्म में कोई मौलिक भेद न होना सिद्ध करना चाहा है सो दिगम्बर जैनागम के सर्वथा विपरीत है। दिगम्बर जैन धर्म में श्री कुन्दकुन्दाचार्य का सर्वोच्च स्थान है उन्हीं की परम्परा, पद्धति और आम्नाय पर सब अवस्थित हैं ऐसे भगवत्कल्प आचार्य वर्य के लिये यह कहना और लिखना कि 'कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने ग्रन्थों में स्त्रीमुक्ति का स्पष्टतः निषेध किया है किन्तु उन्होंने व्यवस्था से न तो गुणस्थान चर्चा की है और न कर्म सिद्धांत का विवेचन किया है जिससे उक्त मान्यता का शास्त्रीय चिंतन शेष रह जाता है।'

शास्त्रीय व्यवस्था से इस विषय की परीक्षा गुणस्थान और कर्मसिद्धांत के आधार पर ही की जा सकती है तदनुसार जब हम विचार करते हैं तो निम्न परिस्थिति उपस्थित होती है, प्रोफेसर साहब के इस प्रकार लिखने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य सिद्धांत से अपरिचित और पक्षपाती थे, वे न व्यवस्था से गुणस्थान चर्चा जानते थे और न कर्मसिद्धांत का विवेचन ही कर जानते थे एवं गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धांतकी विवेचना का विवेक प्रोफेसर साहब के अतिरिक्त आज तक किसी को भी दि० जैन संघ मे नहीं हो सका। कितने आश्चर्य की बात है कि परम वीतरागी और गुणस्थानो का अनुभव भी अपनी आत्मा मे करने वाले भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की अपेक्षा गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धांत का बोध प्रोफेसर सा० मे विशेष है।

भगवान कुंदकुंदाचार्य के बाद सर्वार्थसिद्धि के रचयिता पूज्यपाद स्वामी, नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्ती अमितगति आचार्य तथा गोम्मटसार के टीकाकार भी प्रोफेसर साहब की दृष्टि मे सिद्धातस अपरिचित ही हैं। स्त्रीमुक्ति आदि इन तीनो विषयो की पुष्टि मे अर्जुनलाल जी सेठी, भगवानदीन जी आदि कुछ लोगो ने शास्त्रीय उद्धरणों का अपने अनुकूल अर्थ करक अनेक लेख सत्योदय आदि तत्कालीन पत्रो मे प्रकाशित किये हैं जिन के उत्तर भी तत्कालीन दूसरे पत्रो मे बराबर प्रकाशित होते रहे हैं जिसी का यह फल है कि वे शास्त्र विरुद्ध मान्यतायें दिगम्बर जैन समाज मे प्रचलित न हो सकीं। अब प्रोफे० हीरालाल जी ने वही कार्य आरम्भ किया है। अर्जुनलाल जी सेठी आदि तो शास्त्रीय उद्धारणो का अर्थ ही अपने

अभिप्राय के अनुकूल करते थे परन्तु जब उन शास्त्रीय वचनों का अर्थ स्वाभिप्रायानुकूल सिद्ध न होने लगा तो प्रोफेसर साहब ने कुंदकुंदाचार्य तक को अपने मुकाबिले में अविचारी कहने का साहस किया है।

अष्टकर्म निर्मूलनस्वरूप मुक्ति कोई साधारण वस्तु नहीं है। स्त्री में उतना बल-पौरुष सहनन आदि नहीं है जितना मोक्ष केलिये अपेक्षित है। स्त्री न इतना पाप ही कर सकती जो सप्तम नरक तक किसी भी काल में जा सके और न इतना चारित्र ही पाल सकती जिससे कि वह स्त्री पर्याय से मुक्ति-लाभ कर सके इसका वर्णन अनेक पहलुओं द्वारा अकाट्य युक्ति प्रमाणों से कई बार प्रकाशित हो चुका है। पंचमकाल में उत्पन्न पुरुषों केलिये भी चाहे वह ऊंचे से ऊंचा चारित्र-पालन क्यों न करे मुक्ति का द्वार बंद है क्योंकि काल दोष से मुक्ति के योग्य सर्वांगपूर्ण साधनों का समागम नहीं हो सकता ऐसी अवस्था में स्त्रीमुक्ति की चर्चा उठाकर स्त्री पुरुष की समानता बतलाना अयुक्त है।

गुणस्थानों का वर्णन भावों की अपेक्षा से है। उत्पन्न आत्म-भाव का अवस्थान द्रव्यतः सर्वांगता पर ही हो सकता है और तद्गुणस्थानरूप भावों के अवस्थान के बिना मोक्षलाभ नहीं हो सकता। भावों की उत्पत्ति और अवस्था-विशेषता को भगवान सर्वज्ञ अथवा उनकी परम्परा से अवबुद्ध आचार्य वर्य ही जान सकते हैं। सातवें नरक से निकला हुआ प्राणी नरक में ही जाता है। छठे नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य पर्याय धारण करने पर भी तद्भव में संयमी नहीं हो सकता। पांचवे नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य होने पर भी तद्भव में मोक्ष नहीं हो सकता। चौथे नरक से आया हुआ प्राणी मनुष्य होने पर भी तद्भव में तीर्थंकर नहीं हो सकता। यह सब नियम भावों की जाति पर है और इस भाव-वैचित्र्य को सर्वज्ञ भगवान ही जान सकते हैं इसी प्रकार स्त्री भी मोक्ष नहीं पा सकती। द्रव्यवेद की सत्ता से उसमें किसी समय ऊंचे गुणस्थानरूप भावों के किसी प्रकार सत्व होने पर भी उन भावों का अवस्थान नहीं रह सकता। इस बात को सर्वज्ञ भगवान या उनके उपदेशानुसार वक्ता आचार्य ही जान सकते हैं। भावों की गति का सूक्ष्म विवेचन अस्मादृश कषाय विषयासक्त लोग भगवान कुन्दकुन्दाचार्यादि से अधिक कर सकें यह सर्वथा अनुचित आम्नाय और हास्यप्रद भी है।

प्रोफेसर साहब से मेरा यह प्रश्न है कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्त्रीमुक्ति के सम्बन्ध में ही गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धांत से अनभिज्ञ रहे अथवा और किसी बात में भी ? यदि और बात में भी वे अनभिज्ञ थे तो लगे हाथ उनको भी प्रकट कर देना चाहिये और यदि स्त्रीमुक्ति के सम्बन्ध में ही वे अनभिज्ञ रहे तो इसका क्या कारण है ? क्या स्त्री के मुक्ति में चले जाने से उनकी कोई हानि हो जाती ?

मुक्ति लाभ के लिये अतुलबल की आवश्यकता होती है वह अतुलबल स्त्री जाति में नहीं हो सकता। अतुलबल को तो जाने दीजिये आज कल जो पुरुष जाति में साधारण बल दीखता है वह भी इनमें नहीं है। आजकल महायुद्ध चल रहा है आपही बतलाइये कि सेना में कितनी स्त्रियां भर्ती की गईं ? स्त्रियें बच्चे तो सर्वत्रही रक्षणीय समझे जाते हैं। एकाध स्त्री ने कोई वीरता का काम दिखला कर किसी परिस्थिति

वश कुछ क्रिया हो या कोई शत्रु आक्रांत हो गया हो यह दृष्टांत लागू नहीं हो सकता। इस पर भी कर्मयुद्ध की असाधारणता बड़ी प्रबल है।

किसी भी दि० जैनागम से स्त्री मुक्ति का समर्थन नहीं होता। जिन गाथाओं को आपने अपने अनुकूलार्थ बतलाया है उनका यह अर्थ नहीं है। उनका वही अर्थ है जो भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रतिपादन किया है। आप उन गाथाओं से स्त्रीमुक्ति सिद्ध करते हैं यह केवल अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये। आपने जिन गाथाओं का उल्लेख दिया है उनमें कौन सी गाथा के कौन से शब्द से स्त्रीमुक्ति सिद्ध होती है यह भी तो आपको लिखना चाहिये था केवल गाथाओं का नंबर दे देने से यह विषय सिद्ध नहीं होता है। यदि आप कोई पूर्वापर प्रकरण को प्रकट कर उद्धरण देते और उसका अर्थ करते तो उस बात पर लिखा जाता?

आपने पूर्वाचार्यों के व्याख्यान के संतोषजनक न होने में जो चार बातें लिखी हैं वे सब सार हीन हैं। इस पर भी इन बातों पर सूक्ष्म विवेचन केलिये लिखा पढ़ी से काम नहीं चलेगा। समाज के विद्वानों के समक्ष में किसी समय और स्थान पर बैठने की कृपा कीजिये और प्रत्येक विषय पर विचार कीजिये।

दिगम्बर जैन सिद्धांत के अनुसार अपने सवस्त्र को संयमी सिद्ध करने के लिये दो प्रमाण दिये हैं। एक श्री शिवकोटि आचार्य कृत भगवती आराधना का और दूसरा सर्वार्थसिद्धि- राजवार्तिक का।

भगवती आराधना की आपने ७९ ८३ गाथायें अपने प्रमाण में बतलाई हैं। यहां प्रकरण यह है कि जब कोई श्रावकभक्तप्रत्याख्यान करताहै तो उसे कैसा चिन्ह धारण करना चाहिये। यदि मुनि है और उस ने भक्त प्रत्याख्यान किया है तो उसका वही औत्सर्गिकलिंग रहेगा और यदि अपवादलिंग धारक गृहस्थ जब भक्त प्रत्याख्यान के लिये उद्यत होता है तब उस के पुरुषाकार में यदि कोई दोष न हो तो वह औत्सर्गिकलिंग धारण कर सकता है। पुरुषाकार मे चर्म न होना अत्यंत दीर्घता, बारंबार चेतना होकर ऊपर उठना, अंड बड़े होना ये लिंगदोष हैं। ऐसे लिंग अर्थात् पुरुषाकारका धारण करने वाला गृहस्थ नग्नता (दिगम्बरत्व) केलिये अयोग्य है। यदि दोष विशिष्ट लिंग (पुरुषाकार) का धारक गृहस्थ भक्त प्रत्याख्यान मरण के निमित्त नग्न होना चाहे तो वह भक्त प्रत्याख्यान के समय एकांतादिक में सर्व परिग्रह का त्याग करके नग्न रह सकता है। जिसके उपर्युक्त दोष औषधादि से भी नष्ट होने लायक नहीं होते वह जब वसतिका में संस्तरारूढ़ होता है तब पूर्ण नग्न रह सकता है, अन्यत्र नहीं। जो गृहस्थ लज्जावान् तथा समृद्ध है तथा जिसके बन्धुगण मिथ्यादृष्टि है एवं वैसे निर्जन स्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती पुरुषाकार दोष विशिष्ट न हो, तो भी एकांत रहित वसतिका में सवस्त्र रहते हुए ही भक्तप्रत्याख्यान करना चाहिये।

'गृहस्थ को किस परिस्थिति में नग्नता धारण कर भक्त प्रत्याख्यान मरण करना चाहिये और किस परिस्थिति में सवस्त्र होकर भक्त प्रत्याख्यान मरण करना चाहिये' इस बात का इन गाथाओं और श्लोकों में यह वर्णनहै। सवस्त्र भी संयमी होता है ऐसा भगवती आराधना की इन गाथाओ तथा श्लोको से किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता। सवस्त्रको अपवाद मार्गी मुनि बतलाया हो यह बात किसी अक्षर से भी सिद्ध नहीं हो सकती।

अपवादलिंग इस प्रकरण में ऐलक आदि का

बतलाया गया है जैसा कि निम्न लिखित गाथा की टीका से स्पष्ट है।

अववादियलिंगगदो विसयासत्ति अगूहमाणो य।
णिंदण गरहणजुत्तो सुज्झदि उपधिं परिहरंतो ॥७॥

अर्थ—अपवादलिंग धारी ऐलकादिक भी अपनी चारित्र धारण शक्ति को न छिपाता हुआ कर्ममल निकल जाने से शुद्ध होता है क्योंकि वह अपनी निंदा करता है कि 'मन वचन शरीर ऐसे तीन योग पूर्वक परिग्रह का त्याग है सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना ही मुक्ति का मार्ग है परन्तु मुझे परिषहों का डर होने से पापोदयसे मैंने वस्त्रादिक परिग्रह को ग्रहण किया है' ऐसा मन में पश्चात्तापपूर्वक वह निन्दा करता है, आदि।

इस प्रकार भगवती आराधना की उक्त गाथाओं से सवस्त्र मुनित्व की कल्पना करना सर्वथा आगम विरुद्ध और अमान्य है।

ख–राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थों में भी सवस्त्र मुनित्व की सिद्धि कदापि नहीं होती प्रत्युत स्पष्ट निषेध होता है। जिन वकुश मुनियों को शरीर सस्कार के विशेप अनुवर्ती बतला कर सवस्त्रत्व सिद्ध किया जाता है उनके विषयमें इन ही ४६-४७ वें सूत्रों में स्पष्ट लिखा है कि—

'नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिता: अखंडितव्रता: शरीरोपकरण-विभूपानुवर्त्तिनः'

यहां 'शरीरोपकरणविभूपानुवर्त्तिनः' इस शब्द का अर्थ आप जो सवस्त्रत्व करते हैं वह यों सर्वथा अशुद्ध है कि पहले के 'नैर्ग्रन्थ्य प्रस्थिता: और अखंडितव्रताः' इन विशेषणों से ही शरीरोपकरणभूपानुवर्त्तिनः इस विशेषण को समन्वित करना है। इस विशेपण का सवस्त्रत्व अर्थ नहीं है इसी लिये भगवान् अकलंक स्वामी ने नैर्ग्रन्थ्यं प्रस्थिताः और अखंडितव्रताः यह विशेषण लगाये हैं जिनका स्पष्ट अर्थ है कि वकुश मुनि सर्वथा निर्ग्रंथ (वस्त्र भूषादि रहित) और अखंडितव्रत ही होते हैं।

शरीरोपकरणविभूपानुवर्त्तिनः

इस पद का यह अर्थ है, कि जो नग्न दिगम्बर अवस्था को धारण करते हैं, मूलगुणोंको खंडित नही होने देते हैं अर्थात मूलगुण जिनके पूरे होते हैं परन्तु शरीर और उपकरणो की सफाई को पसन्द करते हैं। भावार्थ-शरीर भी मलिन न रहे, कमंडलु पिच्छिका भी नई हो इस प्रकार की अनुराग बुद्धि उनकी बनी रहती है, ऋद्धि और यशकी चाहना भी उनके रहती है आदि। शरीरस्य उपकरणानां च विभूषा सुंदरत्वं तस्या: अनुवर्त्तिनः अर्थात् शरीर और उपकरणों की सुंदरता को स्वच्छताको पसंद करने वाले वकुश मुनि होते हैं।

इस विशेषण का अर्थ सवस्त्रत्व निकालना अनुचित है भगवान अकलंकदेव ने इसी विषय को खुलासा करनेके लिये आगे जाकर और भी स्पष्ट कर दिया है और कहा है कि 'दृष्टिरूपसामान्यात्' अर्थात् इन पांचों ही प्रकार के मुनियों में सम्यग्दर्शन और आभूपण वस्त्रायुधादि रहित (नग्नत्व निर्ग्रंथत्व) रूप की समानता है अर्थात पांचों ही निर्ग्रथ हैं। इतना स्पष्टार्थ होने पर भी प्रोफेसर साहब सरीखे व्यक्ति इस प्रकारका अर्थ करें यह कितने खेद और आश्चर्य की बात है?

द्रव्यलिंगसे पांचोंही निर्ग्रथों में विकल्प स्वीकार किया गया है यह जो अर्थ आप 'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्या:' इस वाक्य का करते हैं और इसका वाच्यार्थ जो यह निकाला जाता है "टीकाकारों ने यही अर्थ

किया है कि कभी कभी मुनि वस्त्र भी धारण कर सकते हैं। मुक्ति भी सग्रन्थ और निर्ग्रंथ दोनों लिंगों से कही गई है"। सर्वथा गलत है। मेरा आपसे प्रश्न है कि कौन से टीकाकारों ने यह अर्थ किया है कि मुनि वस्त्र भी धारण करते हैं, प्रकट किया जाय। किसी टीकाकार ने ऐसा लिखा है यह देखने में नहीं आया। 'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्या:' का यह अर्थ है कि भावलिंगकी अपेक्षा तो सभी निर्ग्रंथ प्रमत्त संयत हैं। द्रव्यलिंग की दृष्टि से किसी का शरीर दुबला है किसीका मोटा है, कोई लम्बा है कोई छोटाहै अर्थात भिन्न २ शरीराकृति के धारक हैं।

'निर्ग्रंथलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्व—नया पेक्षया'

जिसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा तो निर्ग्रंथलिंग से ही सिद्ध पद प्राप्त होता है बाकी भूतपूर्व नय की अपेक्षा से सग्रन्थलिंग भी कहा जा सकता है भूतपूर्वनयका यही अर्थ है कि निर्ग्रंथावस्था से पहले वह जो था? अर्थात् सग्रन्थलिंगसे परम्परा से मुक्ति होती है साक्षात नहीं। साक्षात् निर्ग्रंथलिंग से ही होती है। खेद और आश्चर्य है कि जो वर्णन स्पष्ट नय विवक्षा से है उसे एकांत से समझा जाता है। स्वयं प्रोफेसर साहब भूतपूर्वनय की अपेक्षा से सग्रन्थलिंग से मुक्ति बतलाते हैं तो भी यह अर्थ करते हैं, यह कितना आश्चर्य है। भूतपूर्व का अर्थ प्रागवस्था है जिसे सर्व साधारण समझते हैं जैसे भूतपूर्व जज, भूतपूर्व सभापति आदि।

ग—धवलाकारने सयम की परिभाषामें पंच व्रतो का पालन लिखा है सो ठीक ही है। वास्तवमे मुख्य तो पांच व्रतो का पालन ही है उन ही के पालन के लिये आगे के २३ मूलगुण और हैं। संक्षेप से सूत्र रूप कथन किया जाय तो पंचव्रतों का पालन ही है, विस्तार से २८ मूलगुणों का। अतिविस्तार से उनका भी स्पष्टीकरण होता है। यह तो व्याख्यान का संक्षेप विस्तार है। इससे यह बात सिद्ध करना कि २३ मूलगुण धवलाकार के सिद्धांत से अधिक हैं और इसी लिये निर्ग्रंथत्व भी अनावश्यक है भ्रम-पूर्ण है।

स्थूल बुद्धिसे विचार करने पर भी दिगम्बर जैन शास्त्र से सवस्त्र संयमित्व सिद्ध नहीं होता।

केवलि आहार—

क—भगवान के मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने से वेदनीय कर्म अकार्यकारी रहता है क्योंकि असाता वेदनीय कर्म की उत्पत्ति का कोई कारण नही है। इस विषय पर अनेक बार अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाल दिया है और दिगम्बर जैन आगममे स्पष्ट रीति से यह कहा गया व सिद्ध किया गया है कि केवली भगवान के भूख प्यास नहीं होती। वेदनीय कर्म के सत्ता मे होते हुये वेदनाओं का केवली के अभाव मानना सर्वथा शास्त्र सम्मत है। राजवार्तिक आदि ग्रन्थो मे इस विषय को पर्याप्त रीति से स्पष्ट कर दिया है। यदि प्रोफेसर साहब निष्पक्ष दृष्टिसे देखने की कृपा करेंगे तो कोई संशय बाकी नहीं रहेगा। केवली भगवान् को भूख प्यास न लगने का विषय कई बार विवेचन मे आकर निर्णीत हो चुका है।

ख—आप्तमीमांसा के ९३वे श्लोक से जो प्रोफेसर साहब केवली भगवान के सुख और दुःख का सद्भाव स्वीकार करते हैं यह भूल है इस श्लोक में केवली पद कहीं नही है "वीतरागो मुनिर्विद्वान्" वीतराग विद्वान मुनि यह शब्द है। वीतराग का अर्थ यहां 'केवली भगवान' करना आश्चर्य कारक है। प्रमत्त संयत षष्ठ गुणवर्ती मुनि भी वीतराग कहलाते हैं।

दूसरे यह बात भी है कि केवलीके साथ विद्वान मुनि विशेषण नहीं आते। विद्वान तो मामूली शास्त्रवेत्ता को कहते हैं। केवली को मुनि भी नहीं कहा करते किन्तु भगवान् कहते हैं इस लिये 'मुनि विद्वान' इन शब्दों के होते हुये वीतराग का अर्थ केवली करना बिलकुल गलत है। इस श्लोक की जो संस्कृत टीका है उसमें भी 'वीतरागो मुनिः' का अर्थ केवली नहीं हैं। न आगे पीछे के श्लोकों से ही केवली शब्द की आवृत्ति होती है।

इस प्रकार स्त्री मुक्ति, सवस्त्र संयमित्व और केवलि-आहार ये तीनों मन्तव्य आगम, युक्ति और प्रमाण किसी से भी सिद्ध नहीं होते यदि प्रोफेसर साहब को अपने मंतव्यों के पक्ष में विश्वास है तो उन्हें चाहिये कि दिगम्बर जैन समाज के विद्वानों व नेताओं की समक्षता में इन विषयों पर और समाधान करालें। इस तरह किसी सम्मेलन के अधिवेशन पर आगम विरुद्ध विषय का प्रतिपादन कर देना अपने को एक उत्तरदायी समझने वाले व्यक्ति के लिये उचित नही कहा जा सकता। प्रोफेसर साहब को विचार करना चाहिये।
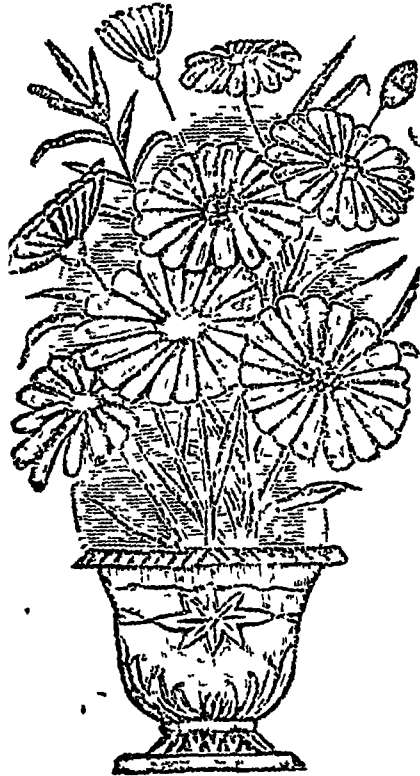
१३

श्रीमान् पं० जीवन्धर जी न्यायतीर्थ,

इन्दौर।

❀ श्री अकलंकदेवाय नमः ❀

—स्त्री-मुक्ति—

स्त्री-मुक्ति के सम्बन्ध में प्रो० हीरालाल जी ने आगम प्रमाण की समीक्षा करते समय आचार्य पूज्य पाद, नेमिचन्द्र, अमितगति तथा गोम्मटसार के टीकाकारों के सम्बन्धमें अपने तर्क से उनकी व्याख्याओं को असंगत बनाने की चेष्टा की है, हम नीचे उनके तर्कों पर विचार करते हैं—

१–प्रथम तर्क के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि जब षट्खण्डागम के अनुसार नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार की रचना की तब इतनी मोटी शब्द रचना उनकी बुद्धि से अगम्य नहीं मानी जा सकती। प्रत्येक समझदार यह मान सकता है कि नेमिचन्द्राचार्य 'योनिनी' शब्द का अभिप्राय समझ सके होंगे इसके बाद ही उन्होंने भाववेद स्त्री को श्रेणि मांडने का अधिकार बतलाया और द्रव्यस्त्रीको निषेध किया।

२–जहां वेदमात्र की विवक्षा से कथन किया गया वहां आपके लिखे माफिक ८वें (९वां चाहिये) गुणस्थान तक है, परन्तु द्रव्यस्त्री को छठा गुणस्थान भी दिगम्बर जैन सिद्धांत में नही माना जो कि मूल षट्खण्डागम में, नेमिचन्द्राचार्य कृत प्राकृतिक ग्रन्थों में व उनकी व्याख्याओं में प्रसिद्ध है, तब क्षपक श्रेणी व उपशम श्रेणी की योग्यता का प्रश्न ही नहीं हो सकता, मुक्ति की बात तो दूर है।

३–कर्मसिद्धांत के अनुसार वेद वैषम्य सिद्ध नहीं होता यह तर्क विचारणीय है गो० जीवकांड वेद—मार्गणानिरूपण गाथा नं० ७० पुरिसिच्छि संढवेदोदयेण पुरिसिच्छि संढओ भावे। नामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा॥ के आधार पर विचार करने से यह मालूम पड़ता है कि वेद जो कि मोहनीय कर्म (घातिया) है उसके उदय से वेद परिणाम उत्पन्न होते हैं और नामकर्म के उदय से शरीर में चिन्ह रचना होती है जो कि भिन्न कर्मों का कार्य है इसमें वैषम्य होने में कोई बाधा नहीं होती। जैसे द्रव्य-लेश्या व भाव लेश्या में यह बात स्पष्ट है कि भाव-शुक्ल लेश्या वाले के द्रव्य कृष्ण लेश्या आदि अनेक वैषम्य होने में कोई बाधा नहीं है उसी प्रकार वेद-वैषम्य को यथार्थ संभव समझ कर विद्वान आचार्यों ने वर्णन किया। प्रोफेसर सा० ने यह बात लक्ष्य में नहीं दी क्योंकि द्रव्य स्त्रियों को मुक्ति किस तरह प्राप्त हो सके यह उनका मुख्य उद्देश्य था उसीमें उन की दृष्टि लगी हुई है। आपने यह बतलाया कि "चक्षुरिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से कर्ण की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी।" उसके सम्बन्ध में यह आपको ध्यान दिलाना है कि चक्षुरिन्द्रियावरण के क्षयोपशम से चक्षुद्रव्येन्द्रिय भी नहीं उत्पन्न होती,

जन्मांध मनुष्य इस बात का खासा प्रमाणहै। शरीर चिन्ह आंगोपांग नामा पुद्गल विपाकी कर्म का काम है और जीव के भाव जीव विपाकी कर्म के उदय के कार्य हैं जो कि भिन्न ही हैं आपके स्थूल तर्क द्रव्यस्त्री को मोक्ष न पहुचा सकेंगे शरीर में चिन्ह भिन्न होते हुये भी वेद के उदय से भिन्न भाव होते है। यदि एक भी प्राणी में वेद-वैषम्य पाया गया, तो जीवन भर वेद नहीं बदल सकता यह बात अयुक्त है। वेद वैषम्य तो वेद मार्गणा के गाथा नं० २७० में श्री नेमिचन्द्र जी ने बतलाया ही है।

४-चौथी तर्क के बाबत यह कहना है कि शरीर स्त्री व पुरुष के चिन्हों के साथ नपुंसक के चिन्ह भी स्पष्ट दिखलाई देते है। आपने चलते फिरते नपुंसकों को नहीं देखा जिन्हें लोग नपुंसक कहते हैं। उनके पुरुषों के समान दाढ़ी मूंछ नहीं होती तथा स्त्रियों सरीखे स्तनादि उपांग भी नही होते तब आप 'दो ही चिन्ह द्रव्यमें पाये जाते हैं' यह बात असंगत ही लिखते हैं। आपने वेद वैपम्य मानने में अनेक प्रश्न खड़े होते बतलाये इसमें यह विचारणीय है कि प्रश्न खड़े होने पर ही समाधान होता है। वेदकर्म जनित जीव के परिणामों को भाववेद कहते हैं वे परोक्ष है उनके आधार पर लोक व्यवहार नहीं होता और जिसे द्रव्यवेद कहते हैं वह नामकर्म के उदय-जनित शरीर के चिन्ह है, उसी के आधार पर लोक-व्यवहार में स्त्री पुरुष कहा जाता है। यद्यपि वेद शब्द समान है परन्तु आप तो आगम के अनुसार उसका विभाजन कर सकते हैं मिश्रण कर लिखना मामूली ज्ञानी को भ्रम मे डालना है। आपने यह बतलाया कि उपांग के विना वेद उदय में कैसे आयगा यह बात भी विचारणीय है। यदि द्रव्य के विना भाव उदय में न आये तब जन्मान्धको द्रव्य चक्षुओं के बिना क्षयोपशम क्यों मानना चाहिये अथवा महल मकान धन आदि द्रव्य साधनों के अभाव में दरिद्री को मोह उदय क्यों माना जाय ?

आगे आपने पांचों इन्द्रियों के परस्पर संयोग से पचीस प्रकार के ज्ञान बतलाये सो भी विचारणीयहै, प्रोफेसर सा० जानते हैं कि ज्ञानी तो पंचेन्द्रिय संपन्न एक ही आत्मा जैनाचार्यों ने माना है, एक शरीर मे पांच आत्मा पृथक नहीं हैं जिससे आपको इस बात का भय हुआ कि पचीस प्रकार के ज्ञान हो जाने से' पांच आत्मा एक शरीर मे पृथक न रह सकेंगे। ज्ञानो के भेद असंख्यात प्रकार के संयोगी व भिन्न होते ही हैं। आप एक सेव फल को जब जुखाम हो रहा हो तो खाइये तब आप देखेंगे कि रसके मिठास का ज्ञान तो जरूर होवेगा परन्तु उस स्वाद मे स्वस्थ अवस्था के से स्वाद से भिन्नता अवश्य पाई जायगी। इसी प्रकार नाक दबाकर जल पीओ तब जल का रस ज्ञान होगा परन्तु नाक खोल कर पीने से जो ज्ञान होता है वह न होगा। इससे यह तो स्पष्ट है कि संयोगी ज्ञान अनेक होना स्वाभाविक है, जबकि एक शरीर मे एक ही पंचेन्द्रिय सम्पन्न आत्मा है। यह कल्पना आपकी द्रव्य स्त्री को मोक्ष अधिकार नहीं दिला सकती।

मैं एक बात और भी इस सम्बन्ध में लिखना चाहता हूं कि प्रोफेसर साहब ने केवल आगम वाक्य ही बताकर स्त्री मुक्ति का समर्थन किया हो यह बात नहीं है उन्होंने काफी युक्तिवाद का संग्रह किया है जो कि उनकी खुद की कल्पनाये हैं जिनका निराकरण ऊपर किया जा चुका है। अब मैं उन तर्कों का उल्लेख किये विना नहीं रह सकता जो आचार्यप्रवर तार्किक-

सूर्य प्रभाचन्द्र जी ने अपने लिखे हुए प्रमेय कमल मार्तंडमें दिये हैं (१) आगम प्रमाण उन्होंने यह दिया है देखिये 'पुस्तकाकार प्रकाशित मार्तंड का ३३३वां पेज 'नाप्यागमात तन्मुक्तिप्रतिपादकस्यास्याभावात्' अर्थ—आगम से भी द्रव्य स्त्री को मोक्ष नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि स्त्री को मोक्ष बतलाने वाले आगम का अभाव है।

गाथा—'पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढि-मारूढा। सेसोदयेण वि तहा झाणुव जुत्ताय ते दु सिज्झंति ॥१॥

उपरोक्त प्राचीन गाथा स्फुटरूप से द्रव्यस्त्री मुक्ति की निषेधक है। (१) पुंवेदं ही मोक्ष का प्रयोजक है। (२) स्त्री वेद नाम कर्म अशुभ कर्म है जिसे मोक्ष जाने वाला जीव पूर्वभव में ही निर्जीर्ण कर देता है, इससे वह स्त्री पर्याय को प्राप्त नहीं करता ऐसी दशा में द्रव्यस्त्री मुक्ति नहीं पा सकती। वह वेद नामकर्म अशुभ है इसका प्रमाण यह है कि सम्यक्दृष्टि जीव स्त्री पर्याय नहीं पाता स्वयं समन्तभद्राचार्य ने स्वर-चित रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है। 'सम्यग्—दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि' इसे प्रो० साहब ने नहीं विचारा। प्रभाचन्द्र जी ने खुलासा लिखा है कि तद्भव मोक्षगामी भी वही जीव है जिस ने पूर्व भव में स्त्री वेद को (अशुभ कर्मो में) निर्जीर्ण कर दिया हो।

३—एक बात यह भी है कि उत्कृष्ट ध्यान वाला ही मोक्ष प्राप्त करता है उत्कृष्ट ध्यान का संबंध वज्र—वृषभनाराच संहननसे है, वही जीव उत्कृष्ट दुर्ध्यान से सप्तम नरक जाता है। यह बात स्त्री वेद में नहीं है। उसी प्रकार उत्कृष्ट सद्ध्यान उसी संहनन वाले को मोक्ष प्रापक है। यह संहनन स्त्रियों में पाया नहीं जाता। तब किस कर्म सिद्धांत के आधार पर आप स्त्री को मोक्ष कहते हैं।

४—दिगम्बर सिद्धांत निश्चेल संयम से मोक्ष मानता है। सचेल संयम मोक्ष का प्रापक नहीं, क्योंकि स्त्रियां कभी वस्त्र नहीं छोड़ सकतीं, इसलिये भी उन्हें मोक्ष की व्यवस्था का समर्थन नहीं बनता।

श्री प्रभाचन्द्र जी ने लिखा है देखिये प्र० क० मार्तंड पेज नं० ३३१ (नया एडीशन) 'किंच बाह्या—भ्यंतर परिग्रह परित्याग: संयमः सच याचन सीवन प्रक्षालन—शोषण—निक्षेपादान-चौरहरणादि-मनः—सक्षोभकारिणि वस्त्रे गृहीते कथं स्यात् प्रत्युत संयमोप घातकमेवस्यात् बाह्याभ्यंतरनग्रंथ्यप्रतिपथित्वात्।'

इत्यादि बहुत से प्रमाण व युक्तियां यह सिद्ध करती हैं कि दिगम्बर जैन सिद्धांतानुसार द्रव्यस्त्री को पंच महाव्रत नहीं हो सकते, अतएव मोक्ष का विचार संतोषजनक रीति से निबट जाता है। यह विचार तत्व दृष्टिसे प्रभावित था, किसी लौकिकश्रेय की प्राप्ति से नही। केवली कवलाहार के संम्बन्ध में आगे लिखा जाता है।

क्या केवली भगवान के भूख-प्यास की वेदना होती है ?

उपर्युक्त विषय के संबंध में कर्मसिद्धांतानुसार वेदना का अस्तित्व प्रोफेसर हीरालालजी ने बताया है परन्तु उसका विचार करने पर यह बात श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने बतलाई कि असाता की उदीरणा ६ठे गुणस्थान तक रहती है, आगे के गुणस्थानों में उदीरणा नहीं होती है और भूख का कारण असाता वेदनीय की उदीरणा है, उदय नहीं। देखिये—

आहार दंसरोण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाये ।
सादिदरुदीरणाये हवदि आहारसण्णा हु ॥१३४॥
णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा ।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारे णत्थि णहि कज्जे ॥१३८॥

ये गाथायें श्री नेमिचन्द्र जी ने दी हैं जिनसे यह स्फुट है कि सब संज्ञाओ मे उदीरणा संभव कर्मो की उदीरणा कारण है, उदय नही । यदि ऐसा न हो तो मोक्ष की कथा ही विडम्बना ठहरती है क्योंकि सब प्रवृत्तियां मैथुनादि भी सातवे आठवें नवमें गुणस्थान तक होना अनिवार्य हो जावेंगी । कर्म सिद्धातानुसार कर्म की बंध, उदय उदीरणादि भेद से दश दशायें बतलाई हैं जिन का कार्य भी पृथक २ बतलाया है । कर्मकांड की व्यवस्था से बहुत से कर्म प्रदेशोदय द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं चूंकि असाता वेदनीय अघाति कर्म है उसकी सत्ता व उदय तेरहवें गुणस्थान तक बतलाई है या रहती है तब प्रदेशोदय से निर्जीर्ण होते रहने से वह बाधाओं का जनक नहीं ठहरता फिर आपके कर्म सिद्धांतानुसार ही वेदना होती रहती होगी । वहां अनुभागोदय न होने से दि० जैन सिद्धांतानुसार वेदना नहीं हो सकती ।

२–आपने अपनी तर्क पद्धति से यह प्रस्तुत किया कि राजवार्तिककार की विश्लेपण प्रणाली दुःख जनक भूख प्यास के अभाव को कर्म-सम्मत नहीं सिद्ध करती, इस विपय में यह विचारणीय है कि वेदनीय कर्म किस तरह जीव को सुख व दुःख का अनुभव कराता है ? एक मनुष्य को खाने के वास्ते मिठाई मिली उसे खाकर वह बहुत सुखी हुआ इसमें यह देखना है कि मिठाई का मिलना किस कर्म के उदय से हुआ ? लाभ का प्रतिबन्धक कर्म 'लाभांतराय' है उसके क्षयोपशम ने वह सामग्री (मिठाई) उपस्थित करा दी । खाना रूप क्रिया औदारिक काययोग से की, वह मीठी है यह अनुभवन रखना इन्द्रियजन्य ज्ञान का कार्य है, जिसे ज्ञानावरण के क्षयोपशम का कार्य मानना होगा । उससे सुखी होना मोहनीय कर्म का कार्य है फिर वेदनीय का कार्य सिर्फ धर्मद्रव्य व अधर्म व काल द्रव्य के समान सहायक रूप से वेदना करा देने के अतिरिक्त क्या रहता है यह आप विश्लेषण करेंगे तो आपकी दृष्टि अवश्य ही उस गहराई तक पहुचेगी जो कि श्री राजवार्तिककार प्रभाचन्द्राचार्य व कुन्दकुन्द स्वामी जैसे परम वीतरागी तत्व प्ररूपक पक्षपातहीन विद्वानों की सूझ से सम्बन्ध रखती है । वेदनीय की व्याख्या गोम्मटसार कर्मकांड मे 'तवेदयतीति वेदणियम्' इस रूप से णिजर्थ मे की है जैसे कि काल द्रव्य की वर्तना की व्याख्या की जाती है उसी प्रकार वेदनीय कर्म की 'वेदना' की भी व्याख्या है जो कि ग्रन्थकारों को अभीष्ट थी । अब आप स्वयं सोचे कि अघाति कर्म जो कि साधारण सहायक है वह मुख्य कर्म मोहनीय के अभाव मे क्या निर्जीर्ण प्रभाव नहीं रह जाता है, वह ऐसी दशा में केवली को दुःखानुभवन किस प्रकार करा सकता है ? इसीके समर्थनमें देखिये कर्मकांड गाथा नं: १६

घादिवं वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं ।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु ॥

अर्थात् वेदनीयकर्म, मोहनीयकर्मके उदय के बल से ही जीवों का घात करता है इसी लिये मोहकर्म के पहले इसका पाठ किया गया है । कर्म सिद्धांत के वेत्ता नेमिचन्द्राचार्य के इस कथन पर से और क्या शेष रह जाता है ।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी तर्क से यह स्पष्ट कर दिया कि बुभुक्षा एक कर्म का कार्य नहीं । सामग्री

(अनेक कर्म) का कार्य भूख जन्य बाधा पैदा करना है, देखिये प्रमेयकमलमार्तंड ३०३ पेज (न्यू एडीशन)

'तथा असातादिवेदनीयविद्यमानोदयमपि असति मोहनीये निःसामर्थ्यत्वान्न क्षुद्दुःखकरणे प्रभुः सामग्रीतः कार्योत्पत्ति सिद्धेः।

४--आपने इस सम्बन्ध में परमागम की कोई प्ररूपणा का प्रमाण नहीं दिया जिससे यह सिद्ध हो जाता कि किस दिगम्बर सिद्धान्त के आगम ने केवली को वेदना रूप में भूख प्यास का अस्तित्व स्वीकार किया है।

५--यदि वेदनीय के उदय से दुःख वेदन और उसी समय शेष सातावेदनीय के उदयसे सुखानुभवन है तो सुख दुःख एक ही साथ अनुभवन में आना चाहिये? इस प्रकार परस्पर-विरोधी अनुभवन की सम्भावना रूप आपत्ति का क्या सामाधान होगा?

आपने केवली को दुःख अस्तित्व प्ररूपण करने में एक देवागम स्तोत्र की कारिका अ० ६ नं० १ प्रमाण रूप में दी है उसमें वीतराग शब्द से तेरहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग का अर्थ लेना विद्यानन्दी आचार्य के अभिप्राय से नहीं सिद्ध होता। उन्हों ने उसी श्लोक की टीका में लिखा है 'वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेः' इससे यह सिद्ध होता है कि दुःख की कारणभूत बाह्य सामग्री को दुःख लौकिक दृष्टि में माना जाता है जो योगानुष्ठानतत्पर मुनियों के पाया जाता है परन्तु वहां प्रमाद न होने से वह सामग्री बन्ध-जनक नही होती क्योंकि उनके संक्लेश नही है यह लक्ष्यार्थ प्रकट न लेकर आपने वीतराग 'सर्वज्ञ तेरहवें गुणस्थानवर्ती को लेकर दुःख का अस्तित्व बतलाया' यह वाक्छल (वीतराग शब्द के आधार पर) प्रयोग किया सो ठीक नहीं।

६-इसके आगे विचारणीय विषय यह है कि केवली का शरीर परमौदारिक माना गया है जिसमें कवलाहार की आवश्यकता ही नहीं रह जाती वह शरीर दि० जैन आगम से सप्त धातु मल रहित माना गया है तथा वह निगोद जीवों से रहित माना गया है

'पुढवीआदि चउण्हं केवलआहारदेवणिरयंगा।
अपदिट्ठिदा निगोदेहिं पदिट्ठिदंगा हवे सेसा॥

(जीवकांड गाथा नं० १६६)

इसलिये वह ऐसे शरीरों में है जिन्हें कवलाहार नहीं करना पड़ता और उनकी स्थिति बहुत बड़े लम्बे समय तक बनी रहती है उनके शरीर को जो पोषक तत्वों की जरूरत रहती है वह भिन्न प्रकार से मिला करते हैं केवली के शरीर को लाभांतराय के क्षय से अनन्त शुभ परमाणु शरीर स्थिति बनाये रखने को प्रति समय आया करते हैं यह सब आगम व कर्मसिद्धांत के विचारकों ने स्फुट लिखा है।

७-क्षुधा की वेदना वाले केवल ज्ञानी के अनन्त चतुष्टय नहीं रह सकते कुछ क्षण भी दुःखी आत्मा अनन्त सुख वाला, अनन्त वीर्य वाला, अनन्त ज्ञानी नहीं माना जा सकता दि० जैन सिद्धान्त में केवली को अनन्त चतुष्टयवाला माना है।

८-केवल ज्ञानी को शरीर के पोषण की स्पृहा न होने, आहार की वांछा न होने और चर्या मार्ग निरंतराय न हो सकने से कवलाहार की विडम्बना रूप सम्भावना नही की जा सकती।

१४

—आस्थान विद्वान, न्यायतीर्थ—

श्रीमान् पं० शान्तिराज जी शास्त्री,

मैसूर ।

* श्री वीतरागाय नमः *

अमरावती के प्रोफेसर हीरालाल जी जैन ने 'अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन १२ वां अधिवेशन, हिन्दु विश्व विद्यालय, बनारस' के अध्यक्ष स्थान से १-स्त्रीमुक्ति २-संयमी और वस्त्रत्याग, ३-केवली को भूख-प्यासादि की वेदना इन विषयों पर 'क्या दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है ?' इस शीर्षक से अपना विचार प्रकट किया है अर्थात् स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र संयम मुक्ति, केवलि कवलाहार को सिद्ध करने का साहस करके श्वेताम्बरों को प्रसन्न करने करने की कोशिश की है।

यदि ऐसा नहीं है तो दिगम्बर जैन मान्य ग्रन्थों के वाक्योंको यद्वा तद्वा अर्थ करके भ्रमोत्पादन करने का और भगवत्कुंदकुंदादि आचार्यों के ऊपर अवर्णवाद करने का प्रयास न करते। मैं पहिले जानता था कि षट्खण्डागम के प्रधान सम्पादक कहलाने वाले प्रो० जंन जैनदर्शनके विषयोंमें तलस्पर्शी विद्वान होंगे मगर उनके इन अनर्थक वचनों से ज्ञात होता है कि बात ऐसी नहीं है सम्भवतः कोई अन्य विद्वान ही षट्खण्डागम की भाषा टीका का काम करताहै।

जैनसिद्धांत में नयवाद एक ऐसी वस्तु है जिसको जानने में तथा प्रयोग करने में महती योग्यता की आवश्यकता है अन्यथा उसको प्रयोग करने वाला हास्यास्पद बन जाता है। इस अवसर पर श्रीमद्-अमृतचन्द्रसूरिका अधोलिखित श्लोक याद आताहै-

'अत्यंतनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयतिधार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥
॥५६॥ पुरु० सि०

अर्थात्—जैन मत के नयभेद को समझना बहुत कठिन है, जो कोई अज्ञ पुरुष बिना समझे नय चक्र में प्रवेश करताहै वह लाभके बदले हानि उठाता है।

कुछ भी हो भाव समझे या न समझे, जैसा कि भगवती आराधना की गाथाओं का अनर्थ किया गया है 'जिसको श्रीमान् इन्द्रलाल जी शास्त्री विद्यालंकार ने हितेच्छु में प्रकट किया है प्रो० जैनने षट्खण्डागम के कुछ सूत्रों की संख्या मात्र का अपने वक्तव्य में उल्लेख किया है इससे मालूम होता है कि प्रो० जैन ने षट्खण्डागम के सम्पादक कहलाने के अभिमान से ही भगवत्कुन्दकुन्दाद्याचार्यों के ऊपर आक्रमण करने को दुःसाहस किया है कि 'उन्हों ने व्यवस्था से न तो गुणस्थान चर्चा की है, न कर्मसिद्धांत का विवेचन ही किया है' समझ में नहीं आता है कि वह कौन सी गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धांत का विवेचन है जिसको प्रो० जैन ने ढूंढ

निकाला है जो कि भगवत्कुन्दकुन्दाद्याचार्यों को भी न सूझा ? प्रो० जैन ने लिखा है कि 'कुन्दकुन्दाचार्य ने संघ में कुछ विप्लवकारी सुधोर उपस्थित किये' 'कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने मतों के विरोध में आने वाली समस्त प्राचीन मान्यताओं को तथा तत्सबंधी साहित्य को भी सर्वथा दबा देने का प्रयत्न किया और अपने संघ को मूल संघ के नाम से प्रसिद्ध किया' यह है अपनी विद्धत्ता का प्रदर्शन !

प्रो० जैन ने पूज्यपादाचार्य, नेमिचन्द्राचार्य, अमितगत्याचार्य और गोम्मटसार के टीकाकार प्रभृतियो के वचनों को अप्रामाणिक बतलाया है। इसमें आश्चर्य नहीं है कि जो मनुष्य भगवत्कुदकुंदाचार्यपुंगवके वचनों को अप्रामाणिक कहता है उसके लिये पूज्यपादाचार्यादिको के वचनो की गणना ही क्या है ? ।

मै जानना चाहता हूं कि क्या प्रो० जैन भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपादाचार्य, अकलंकदेव, नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती, विद्यानन्दाचार्य, प्रभाचन्द्राचार्य, अमितगत्याचार्य प्रभृति आचार्य पुंगवों से भी जैन सिद्धांत मे, गुणस्थान चर्चा में, और कर्मसिद्धान्त विवेचन में अपने को अधिक बुद्धिमान समझते हैं ? मैं तो समझता हूं कि उन आचार्य-महर्षियोके सामने प्रो० सा० उन विषयों में गणनीय भी नहीं है।

अजमेर से प्रकाशित होने वाले 'ओसवाल' नामक श्वेताम्बर जैन पत्र वर्ष १० अंक २२ से मालूम होता है कि काशी विद्या पीठ के बौद्ध विद्वान धर्मानन्द जी कोसाम्बी ने 'भगवान् बुद्ध' नामक पुस्तक लिखी है और उसमें श्वेताम्बर जैन ग्रन्थ आचारांगसूत्र से कुछ पंक्तियां उद्धृत करके 'जैन श्रमणों का मांसाहार' शीर्षक से बताया है कि श्वे० जैन सम्प्रदायानुसार मांसभक्षण हेय-घृणित नहीं है। मगर दि० जैन सम्प्रदायानुसार मांसभक्षण बहुत ही घृणित है। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि दोनो सम्प्रदायोंमें इस अपेक्षा से भी महदंतर है, क्या प्रोफेसर जैन महाशय इस विषय को भी दिगम्बर जैन ग्रन्थों का प्रमाण देकर मांसभक्षण उपादेय सिद्ध करेंगे ? यदि नहीं तो दोनो सम्प्रदायो की भिन्नता स्वयं सिद्ध हो जायगी जो उनको अभीष्ट नहीं है।

अब मै १-केवलिकवलाहार निषेध, २-सवस्त्र संयमिमुक्ति निषेध, ३-स्त्रीमुक्ति निषेध इन तीन विषयों पर, जिनको प्रोफेसर जैन ने दिगम्बर जैन सिद्धांत मान्यताके विरुद्ध सिद्ध करने का साहस कियाहै, वैपरीत्यक्रय से कुछ विवेचन करना चाहता हूं। क्रमविपरिवर्तन का उद्देश्य विषय प्रतिपादन की सुगमता है।

—केवलि-कवलाहार निषेध—

'सूत्रं सूचनक विदुः' इस उक्ति के अनुसार सूत्र सामान्य रूप से सूचनात्मक होता है उसका विशेष विवरण 'व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिः' इस उक्ति के अनुसार होता है। तत्वार्थसूत्र के कर्ता श्री उमास्वाम्याचार्य ने सामान्यरूप 'एकादश जिने ॥११॥' ऐसा सूत्र रचा है तथा सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सुखबोध, आदि के व्याख्यानों से इसके विशेषार्थ का बोध होता है कि केवली में ११ परीषह वेदनीय कर्म के उदय से शक्ति रूप से हैं और मोहनीयकर्म के क्षय होने से व्यक्ति रूप से नहीं है केवली में अनन्त चतुष्टय का सद्भाव है अनन्त चतुष्टय में अनन्त सुख का समावेश है, यदि कवलाहार से केवली में सुख माना जाय तो अनन्त सुख का तथा अनन्त चतुष्टय का अभाव मानना पड़ेगा इस

बात को प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमेयकमल मार्तंड में स्पष्ट किया है कि— 'ये त्वात्मनो जीवन्मुक्तौ कवलाहारमिच्छंति तेषां तत्रास्याऽनंतचतुष्टयस्वभावाभावोऽनंत सुखविरहात् तद्विरहश्च बुभुक्षाप्रभवपीड़ाक्रांतत्वात्। तत्पीडाप्रतिकारार्थो हि निखिलजनानां कवलाहारग्रहणप्रयासः प्रसिद्धः। केवली न भुङ्क्ते रागद्वेषाभावानन्तवीर्यसद्भावान्यथानुपपत्तेः'।

गोम्मटसार कर्मकांड के कर्ता श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धांतचक्रवर्ती ने बताया है कि—

णट्ठा य रायदोसा इन्दियणाणं च केवलिम्हिजदो
तेण दु सादासादजसुहदुःखं णत्थि इंद्रियजम्॥

अर्थात्-केवलि भगवान में रागद्वेष इन्द्रियज्ञान नष्ट होने से साताअसाता वेदनीयजनित इन्द्रियजन्य सुखदुःख नहीं होता है। सारांश यह है कि केवलि भगवान में मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से दग्धरज्जुवत् शक्तिहीन वेदनीय कर्मजनित सुखदुःख नहीं होता है।

विद्यानंदाचार्यने श्लोकवार्तिकमें लिखा है कि—

एकादश जिने॥११॥

तत्र केचित् संतीति व्याचक्षते परे तु न संतीति।
तदुभय व्याख्यानाविरोधमुपदर्शयन्नाह—
एकादश जिने संति शक्तितस्ते परीषहाः।
व्यक्तितो नेतिसामर्थ्याद्व्याख्यानद्वयमिष्यते॥१।
नैकहेतुः क्षुदादीनां व्यक्तं चेद प्रतीयते।
तस्य मोहोदयाद्व्यक्तेरसद्वेद्योदयेऽपि च॥५॥
क्षुदित्यशेषसामग्रीजन्याभिव्यज्यते कथम्।
तद्वैकल्ये सयोगस्य पिपासादेरयोगतः॥८॥
क्षुदादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनंतशर्मता।
निराहारस्य चाशक्तौ स्थातुं नानंतशक्तिता॥६॥
नित्योपयुक्तबोधस्य न च संज्ञास्ति भोजने।
पाने चेति क्षुदादीनां नाभिव्यक्तिर्जिनाधिपे॥१०।

इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धिकार, राजवार्तिककार, सुखबोधवृत्तिकार आदि व्याख्याकार आचार्य प्रवरों के मतों का सार है कि—

"घातिकर्मोदयसहायाभावात् शक्तित एव केवलिन्येकादशपरीषहाः संति, न पुनर्व्यक्तितः, केवलाद्वेदनीयाद्व्यक्तक्षुदाद्यसंभवादित्युपचारतस्ते तत्र परिज्ञातव्याः।"

केवलि भगवान में मोहनीयकर्माभाव से शक्तिहीन वेदनीयोदय से जली हुई जेवड़ी के समान, सुखदुःखानुभव नहीं होता तथा छद्मस्थ वीतराग मुनि के कायक्लेशादि तप होनेपर भी अभिसंधि न होने से पुण्य पापों का बन्ध नहीं होता है इस अभिप्राय को बताने केलिये श्री समन्तभद्रस्वामी ने आप्तमीमांसामें

'पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः॥'

यह श्लोक दिया है, यह बात 'यदि' शब्द से स्पष्ट मालूम होती है किन्तु प्रोफेसर जैन महाशय तो इसका भाव उलटा ही समझ रहे हैं, धन्य!

—सवस्त्र संयमि मुक्तिनिषेध—

'ग्रन्थ' शब्द का अर्थ है 'परिग्रह' जो सकलपरिग्रहों से रहित है वह निर्ग्रंथ है। ऐसे निर्ग्रंथ अर्थात् सकलसंयमी पांच प्रकार के माने गये हैं यथा—

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रथस्नातका निर्ग्रंथाः ६-४६

इस सूत्र के अन्त में दिये हुये 'निर्ग्रंथ' शब्द से स्पष्ट मालूम होता है कि ये पांच प्रकार के संयमी भी निर्ग्रंथ ही हैं अर्थात नग्न संयमी ही हैं इस बात को विद्यानंद्याचार्यने श्रीश्लोकवार्तिकमें स्पष्ट कियाहै कि—

पुलाकाद्या मताः पंच निर्ग्रंथा व्यवहारतः।
निश्चयाच्चापि नैर्ग्रंथ्यसामान्यस्याविरोधतः॥१॥

वस्त्रादिग्रंथसंपन्नास्ततोऽन्ये नेति गम्यते ।
वाह्यग्रन्थस्य सद्भावे ह्यन्तर्ग्रन्थो न नश्यति ॥२॥
ये वस्त्रादिग्रहेऽप्याहुर्निर्ग्रंथत्वं यथोदितम् ।
मूर्छानुद्भूतितस्तेषां स्त्र्यादानेऽपि किं न तत् ३
विपयग्रहणं कार्यं मूर्छा स्यात्तस्य कारणम् ।
न च कारणविध्वंसे जातु कार्यस्य सम्भवः ॥४॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि सवस्त्र सयमी मुक्ति के पात्र नहीं हैं । राजवार्तिकादि ग्रन्थों मे उपर्युक्त पांच प्रकार के निर्ग्रंथों का विशेष स्वरूप निम्नलिखित प्रकार बताया गया है ।

१–अपरिपूर्णव्रता उत्तरगुणहीनाः पुलाकाः ।

२–अखण्डितव्रताः शरीरसंस्कारर्द्धिसुखयशोविभूतिप्रवणाः वकुशाः ।

३–क-अविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णोभयाः कथंचिदुत्तरगुणविराधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः ।

ख-ग्रीष्मे जंघाप्रक्षालनादिसेवनाद्वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्र तन्त्रत्वात् कषायकुशीलाः

४–उदकेदंडराजिवत् सन्निरस्तकर्माणोऽतर्मुहूर्तकेवलज्ञानदर्शन-प्रापिणोऽनभिव्यक्तोदयकर्माण ऊर्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानदर्शनकेवलज्ञानभाजो निर्ग्रंथाः ।

५–प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनः स्नातकाः ।

उपर्युक्त प्रकार तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि ग्रन्थों से पांचों संयमी निर्ग्रथ ही सिद्ध होने पर भी प्रोफे० जैन कहते हैं कि 'कहीं भी वस्त्र-त्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता ।' प्रथम तो आप सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक ग्रन्थोंके वचनोंको अप्रमाण कहते हैं और फिर उन ग्रन्थों की पंक्तियों का उचित अर्थ न समझ कर अपने अभिप्रायानुकूल अर्थ समझ कर कहते हैं कि 'इनका विशेप स्वरूप सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक टीका में समझाया गया है देखो—अध्याय ६ सूत्र ४६-४७ ।' मगर इन ग्रन्थों के उक्त सूत्रव्याख्यानों से आपके अभिप्राय के विरुद्ध ही अर्थ सिद्ध होता है देखिये—

४७वे सूत्रके संयमानुयोग में कहा गया है कि-'पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला द्वयोः संयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्भवति । कपायकुशीला द्वयोः संयमयो: परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययोः पूर्वयोश्च । निर्ग्रंथस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसयमे ।'

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि निर्ग्रंथस्नातको के सिवाय नीचे वालो को यथाख्यात चारित्र नहीं होता है और उसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती ।

उन संयमियों की उत्पत्ति के बारे मे कहा गया है कि—

'पुलाकस्योत्कृष्ट उपपाद उत्कृष्टस्थितिषु देवेपु सहस्रारे। वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयो:। कपायकुशीलनिर्ग्रंथयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ । सर्वेषामपि जघन्य उपपादः सौधम--कल्पे द्विसागरोपमस्थितिपु । स्नातकस्य निर्वाणमेवेति निश्चयः'। इस प्रकार पुलाकादि तीन संयमियों की सहस्रारकल्प से ऊपर उत्पत्ति ही नहीं है तो मुक्ति कहा स होगी ?

अब लिंगानुवाद से देखिये — 'लिंगं त्रिविधो वेदः । अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः । वर्तमानविपयविवक्षायामवेदत्वेन सिद्धिर्भवति । अतीतगोचरनयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति भाव प्रति, न तु द्रव्यं प्रति । द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिंगेनैव सिद्धिः ।'

यहां पर उदाहरण के लिये तीन अनुयोगों से विचार किया गया है इसी प्रकार सभी अनुयोगों से विचार करने पर भी सवस्त्र महा सयम की सिद्धि

तथा उस संयमी को मुक्ति होती ही नहीं यदि वकुश को सवस्त्र संयमी प्रोफेसर सा० मानें तो भी उसको मुक्ति तो नहीं होती।

—स्त्री-मुक्ति निषेध—

उपर्युक्त कथनानुसार जब सवस्त्रसंयमी पुरुष भी मुक्त नही हो सकता है तो स्त्री की बात ही क्या है? स्त्रियो में मोक्षहेतुभूत ज्ञानादिका परमप्रकर्ष होता ही नहीं है। स्त्रियों को वस्त्र रहित संयम का विधान नहीं देखा गया है तथा शास्त्रप्रतिपादित भी नही है। शास्त्रप्रतिपादित न होने पर भी स्त्रियां यदि वस्त्र को त्याग करेंगी तो अर्हदागमोल्लङ्घन से मिथ्यादृष्टि होंगी यदि स्त्रियों को सचेलमुक्ति और पुरुषों को अचेल-मुक्ति मानी जायगी तो स्वर्गकी भांति मुक्तिमें भी भेद सिद्ध होगा। तथा देशसंयमी और सवस्त्र गृहस्थ भी मुक्त हो सकेगा।

बाह्याभ्यंतरपरिग्रहत्याग को संयम कहते हैं। वह संयम चित्तविक्षेपकारी वस्त्रके ग्रहण में कैसे होगा? प्रत्युत वस्त्र ग्रहण संयम-घातक ही होगा। इस प्रकार प्रमेयकमल मार्तंड में उल्लेख किया गया है कि—

'मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परम-प्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवत्। न हि स्त्रीणां निर्वस्त्रःसंयमो दृष्टः प्रवचनप्रतिपादितो वा। न च प्रवचनाभावेपि मोक्षसुखाकांक्षया तासां वस्त्र त्यागो युक्तोऽर्हत्प्रणीतागमोल्लङ्घनेन मिथ्यात्वा-राधनाप्राप्तेः। यदि पुनर्नृणामचेलोऽसौ तद्धेतुः स्त्रीणां तु सचेलस्तर्हि कारणभेदान्मुक्तेरप्यनुषज्येत भेदः स्व-र्गादिवत्। देशसंयमिनश्चैवं मुक्तिः प्रसज्यते। तथा च सवस्त्रा गृहस्था अपि मुक्तिभाजो भवेयुः। बाह्या-भ्यंतरपरिग्रहत्यागः संयमः। स च याचनसीवन-प्रक्षालन-शोषण-निक्षेपादान-चोरहरणादिमनः-क्षोभ-कारिणि वस्त्रे गृहीते कथं स्यात् प्रत्युत संयमोपघातक-मेव तत्स्याद्बाह्याभ्यंतरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिपन्थित्वात्'।

वेदानुयोग की अपेक्षा से सुखबोध पृष्ठ २३० में लिखा है कि 'वर्तमाननयापेक्षायामवेदत्वेन सिद्धिः। अतीतगोचरनयापेक्षायामविशेषेण त्रिवेदेभ्यः सिद्धि-र्भावंप्रति न द्रव्यप्रति। द्रव्यापेक्षया पुल्लिंगेनैवसिद्धिः। अथवा प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया निर्ग्रंथलिंगेन सिद्धिः। भूतनयादेशेन तु भजनीयम्। राजवार्त्तिकका भी यही अभिप्राय है।

सर्वार्थसिद्धि में लिखा है कि 'अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुल्लिंगे-नैव। अथवा निर्ग्रंथलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धि-र्भूतपूर्वनयापेक्षया। यहां पर सग्रन्थलिंग से अर्थ यह है कि जो पुरुष वर्तमान काल में निर्ग्रंथ होकर ही मुक्त होता है वह भूतकाल में सग्रन्थ था।

इस प्रकार तीनों विषय जिन का प्रोफेसर जैन ने समर्थन किया है निस्सार तथा अविचारणीय हैं।
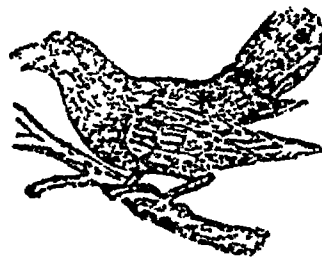
—श्रीमान् ब्रह्मचारी—

सुन्दरलाल जी, श्रावक।

* श्री वीरनाथाय नमः । *

—भ्रम विध्वंस—

चाह नहीं है मुझे तनिक भी बुद्धिमान कहलानेकी ।
चाह नहीं है यश फैलाकर पैसा रुपया कमानेकी ॥
चाह नहीं है कभी किसीके महिमा मान घटानेकी ।
हां निशि वासर चाह लगी दिलमें धर्म दिपानेकी ॥

'अग्रवाल हितैषी' सन् ४४ अंक १३ में प्रोफेसर हीरालाल जी ने लिखा है कि दिगम्बर धर्म भगवान महावीर के ६०० वर्ष बाद चला है इसके सिवाय यह भी लिखते हैं कि स्त्री को मोक्ष और अर्हंतकेवली के कवल (ग्रास का) आहार होता है, मुनि वस्त्र पहनें या नहीं और अन्त में यह भी लिखा है कि दिगम्बर धर्म असली नहीं असली श्वेताम्बर धर्म है। इन्हीं बातों पर सुना जाता है कि प्रोफे० सा० ने एक ट्रैक्ट भी प्रगट किया है ।

हम भी यही चाहते थे कि किसी सूरत से दिग० धर्म और श्वे० धर्म की असलियत खुलासा हो जाय और इसके लिये मैंने तथा स्वर्गीय पं० न्यामतसिंह जी जैन, टीकरी, ने श्वे० स्थानक वासियों के साथ चर्चा भी चलाई थी, दोनों तरफ से पैम्फलेट और ट्रैक्टबाजी भी हुईथी परन्तु वह अधूरी ही रह गई। अतः अब की वार प्रोफेसर सा० के प्रश्नों पर दि० जैन समाज बम्बई, खुलासा करना चाहती है तो मैं भी भावना करता हूं कि श्री जैनधर्म की कृपा से उस का यह मनोरथ सफल हो।

प्रोफेसर साहब का ट्रैक्ट तो हमको मिला नहीं किन्तु हितैषी में लिखी शंकाओं के अनुसार मैं उन का समाधान करना चाहता हूं। प्रोफेसर जी ने दिगम्बर जैन धर्म की उत्पत्ति भगवान महावीर के ३०० वर्ष बाद से बतलाई है अतः प्रथम प्रकाश इसी पर डाला जाता है क्योंकि जब दि० धर्म की प्राचीनता सिद्ध हो जायगी तो प्रोफे० सा० को फिर शंका नहीं रहेगी यदि दि० धर्म की प्राचीनता दि० शास्त्रों के आधार पर दिखलाई जाय तो शायद प्रोफे० सा० कहने लगें कि यह दिगम्बरों ने पीछे से लिख ली होगी इसलिये दिगम्बरधर्म की प्राचीनता यहां हिन्दु वैष्णव धर्म के वेद पुराणों और श्वेताम्बर शास्त्रों के आधार पर ही दिखलाई जाती है।*

हिन्दु 'पद्मपुराण' भूमिखंड अध्याय ३६में राजा वेणुकी कथा लिखी है उसमें बतलाया गया है कि एक दिगम्बर मुनि ने उस राजा को (वेणु को) दीक्षित किया था। मुनि का स्वरूप जिस प्रकार बतलाया गया है वह मूल मात्र यहां लिखा जाता है।

---

*नोट-प्रोफेसर सा० के किये प्रश्न श्वेताम्बर और श्वे० स्थानक वासी दोनो सम्प्रदायों में इसी प्रकार है अतः मैं जो भी प्रमाण दूंगा उनमें श्वे० स्थानक वासी या श्वेताम्बरों का भेद न माना जा सकेगा।

'नग्नरूपो महाकायः सितमुण्डो महाप्रभः ।
मार्ज्जनीशिखिपत्राणां कक्षायां स हि धारयन् ॥
गृहीत्वा पानपात्रञ्च नारिकेलमयं करे ।
पठमानोऽर्हच्छास्त्रं वेदशास्त्रविदूषकम् ॥
यत्र वेणो महाराजस्तत्रेयाय त्वरान्वितः ।
सभायां तस्य वेणस्य प्रविवेश स पापवान् ॥'

यह नग्न साधु महाराजा वेणु की सभा में पहुच गया और धर्मोपदेश देने लगा, उसने बताया कि मेरे मत में—

'अर्हतो देवता यत्र निर्ग्रन्थो गुरुरुच्यते ।
दया चैव परमो धर्मस्तत्र मोक्षः प्रदश्यते ॥'

यह सुनकर वेणु दिगम्बर हो गया ।

'एवं वेणस्य वैराज्ञः सृष्टिरस्य महात्मनः ।
धर्माचारं परित्यज्य कथं पापे मतिर्भवेत् ॥'

उपरोक्त प्रमाणसे प्रगटहै कि राजा वेणुकी सभा में नग्न दिगम्बर मुनि ने जाकर उपदेश दिया जिसे सुनकर राजा वेणु दिगम्बर मुनि होगये। यह राजा वेणु ब्रह्मा से छठी पीढ़ी में हुए बतलाये जाते हैं ।

यजुर्वेद अध्याय १६ मन्त्र १४ मे यो लिखा है ।

'आतिथ्यरूप मासारं महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुय सदां मेनत्ति स्रो रात्री सुरा सुता ॥

वेद भी प्राचीन ग्रन्थ है इसमें भी भगवान महावीर का नग्न स्वरूप बतलाया है अतः वेदों का निर्माण चाहे कभी भी हुआ हो किन्तु वेदो से पूर्व भगवान महावीर थे, अतः यह प्रमाण भी दिगम्बरों की अति प्राचीनता दिखलाता है कहिये प्रोफे० सा० इससे भी प्राचीनता का प्रबल प्रमाण क्या होगा। क्या श्वेताम्बरों की प्राचीनता वेद पुराणों मे है ?

एक और ताजा प्रमाण लीजिये। बड़ौदा शहर में बड़ौदा महाराज के दीवान साहब 'कृष्णरामाचार्य' नाइट सी० आई० ई० जो अजैन हैं उन्हीं के सभापतित्व में व्याख्यान देते हुए डा० केदारनाथजी शास्त्री जो अजैन हैं उन्होंने बतलाया है कि 'जैनियों में दो भेद हैं एक दिगम्बर दूसरे श्वेताम्बर। इन दोनों जातियों में दिगम्बर प्राचीन हैं । अशोक के लेख में दिगम्बर मत का वर्णन है। महावीर दिगम्बर थे, दिगम्बर जैन मुनि घोर तप करते हैं व उपसर्ग सहते हैं ।' जैनमित्र अ० ८ वर्ष ४१ ता० ४-१-४० । यह तो हुए अजैन शास्त्रों व ऐतिहासिक प्रमाण ; अब कुछ श्वेताम्बर शास्त्रों के प्रमाण भी देखिये कि वह दिगम्बर धर्म की प्राचीनता पर क्या कहते हैं ।

श्वे० सूत्र 'प्रवचन सारोद्धार' भाग ३ पृष्ठ १३में वस्त्र सहित साधु ही विशुद्ध बतलाये हैं । श्वे० स्था० अमोलकचन्द जी साधु 'जैन तत्त्व प्रकाश' मे कायक्लेश तप का वर्णन करते समय पृष्ठ १५६ पंक्ति ७ मे लिखते हैं कि 'साधु दिन को सूर्य का आतापन लेवें रात्रि को कपड़ेरहित रहैं ।' 'कल्पसूत्र' पृष्ठ २८५ वें पर भगवान ऋषभदेव को नग्न बतलाया है । 'ठाणासूत्र' पृष्ठ ८१३ वें पर लिखा है 'भगवान महावीर ने निर्ग्रन्थ श्रमण केलिये दिगम्बरत्व का प्रतिपादन किया था ।'

'भद्रबाहुसंहिता' (श्वे०) अध्याय ७ में लिखा है ।

'भरहे दूसमसमये सघक्कमं मेल्लिऊण जो मूढो ।
परिवट्टइ दिगंवरिओ सो सवणो सघबाहिरओ ।५।'
'पासत्थाणे सेवी पासत्थो पचचेल परिहीणो ।
विवरीयट्ठ पवादी अवदणिज्जो जई होई ॥१४॥'

अर्थ—'भरतक्षेत्र का जो कोई मुनि इस दुःपम पंचम काल में संघ के क्रम को मिलाकर दिगम्बर हुआ भ्रमण करता है अर्थात् यह समझ कर कि चतुर्थकाल में पूर्वजों की ऐसी ही दैगम्बरी वृत्ति रही

है, तदनुसार इस पंचमकाल में प्रवतता है वह मूढ़ है और उसे संघ से बाहिर तथा खारिज समझना चाहिये ॥४॥'

'वह यति भी अवन्दनीय है जो पांच प्रकार के वस्त्रों से रहित है। अर्थात् उस दिगम्बर मुनि को अपूज्य ठहराया है जो खाल, छाल, ऊन, रेशम और कपासके इन पांचों प्रकारके वस्त्रोंसे रहित है।

प्रोफेसर साहब! इस संहिता को जरा ध्यान से देखिये, जिस दिगम्बर धर्म को आप महावीर भगवान के ६०० वर्ष बाद का बतलाते हैं। उस दि० धर्म के विषय में संहिता क्या कह रही है अतः ६०० वर्ष वाला कथन संहिता से आपका असत्य हो चुका।

'आचारांग सूत्र' पृष्ठ १७० की टिप्पणी में परिग्रह होने पर ममत्व अवश्य होता है यह लिखा है। अत: कपड़े पहनने वाले चाहे केवली हों चाहे मुनि हों ममत्व अवश्य होता है। जहां ममत्व है वहां मोक्ष नहीं।

'दशवैकालिक सूत्र' पृ० १२ सू० ११ से आगे के सूत्र 'आयवयंति' वाले में साधुओं को नग्न रहना कहा है पृष्ठ ७३वें पर भी सर्वथा परिग्रह का निषेध किया है। अतः साधुओं को नग्न रहना चाहिये।

'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति' पृष्ठ ३६२ से आगे—

१२१ से १२५ तक की गाथाओंमें भरतचक्रवर्ती के वैराग्य समय की कथा पढ़िये, दिगम्बर धर्म की प्राचीनता एवं दिगम्बरत्व का भान हो जायगा। 'आचारांग सूत्र' पृ० १५१ पं० १२ इसका मूल सूत्र १५२ साधुओंको वस्त्र रखनेका निषेध करताहै। इस के सिवाय श्वेताम्बरों का अटल सिद्धांत है कि जिस समय तीर्थंकर दीक्षा लेते हैं उस समय अपने घर के वस्त्राभूषणों का सर्वथा त्याग कर देते हैं तब इन्द्र आकर उनके कन्धे पर एक कम्बल डाल देता है उसे तीर्थङ्कर कुछ दिन तक रख कर उसका त्याग कर देते हैं और निर्वाण समय तक नग्न रहते हैं। तीर्थङ्करों की इस नग्नता पर दि० धर्म की प्राचीनता का सिद्ध होना साबित है। अत: हिंदु वेद पुराण और श्वेता० शास्त्रों से दिग० धर्म की प्राचीनता और साथ में यह बात भी सिद्ध हुई कि जैन मुनियों को वस्त्र न रखना चाहिये।

श्वेताम्बर मत की अर्वाचीनता व उत्पत्ति

उपरोक्त लेखानुसार श्वेताम्बर शास्त्रों से ही श्वेताम्बरमत की अर्वाचीनता ठहरती है किन्तु फिर भी कहने को यह बात बाकी रह जाती है कि जब वह अर्वाचीनहै तो चला कब? अतः अब श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति दिखलाई जाती है। जैन समाज के दिगम्बर और श्वेताम्बर दो विभाग होने में साधु और आगम ये दो प्रधान कारण हैं सम्राट चन्द्रगुप्त के समय जो १२ वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ था उस समय अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहु आचार्य १२ हजार साधुओंको अपने साथ लेकर दक्षिण देश कर्नाटककी ओर चले गये। वहां पर सुकाल था। अतः उन जैन साधुओंका चारित्र ज्यों का त्यों बना रहा, किन्तु जो साधु मालवे मे रह गये, दुष्कालके प्रभाव से अपनी कठिन चर्या में दृढ़ न रह सके अत: उनने वस्त्र पहनना, दण्ड, पात्र झोला आदि रखना और गृहस्थों के घर से भोजन लाकर अपने स्थान पर भोजन करना प्रारम्भ कर दिया। १२ वर्ष का दुष्काल बीत जाने पर कुछ साधु तो उक्त शिथिल आचरण को छोड़ अपने पूर्व रूप में आगये, किन्तु शेष साधु उस शिथिलाचार को न छोड़ सके। दुर्भिक्ष के प्रभाव से

सुरक्षित दक्षिण देश में विहार करने वाले तथा शिथिलाचार को छोड़ कर पूर्व साधु वेष स्वीकार करने वाले साधु 'दिगम्बर' कहलाने लगे और शिथिलाचार न छोड़ कर वस्त्र, पात्र, दण्ड आदि धारक साधु 'श्वेताम्बर' कहलाये।

इस इतिहास की घटना को इतिहास-वेत्ताओं ने 'श्रवण वेल गोला' (मैसूर) के चन्द्रगिरि पर्वत के प्राचीन शिलालेख को देखकर सत्य स्वीकार किया है। सम्राट चन्द्रगुप्त जब हुआ तभी से श्वेताम्बरोंकी उत्पत्ति मानी जा सकती है। इन्हीं श्वेताम्बरों में से सं० १५३४ में स्थानक मत चला। जिसकी उत्पन्नता आदि का विवरण हमारे बनाये 'पटपन्थ प्रकाश' में है।

केवलियों के कवलाहार का निर्णय

प्रोफे० सा० केवल ज्ञानियों के कवल (ग्रास) आहार भी मानते हैं इसका समाधान किया जाताहै।

प्रोफेसर साहबने जिस सिद्धांतानुसार केवलियों के कवल आहार माना है वह श्वेताम्बर सिद्धान्त कहता है कि केवलज्ञानियों के आयु नाम, गोत्र और वेदनीय चार अघाती कर्म मौजूद हैं इसलिये वेदनीय कर्म के उदय से केवली कवल आहार करते हैं। परन्तु केवलियों के किसी प्रकार भी कवल आहार सिद्ध नहीं होता। क्योंकि केवलज्ञानियों ने ध्यान रूपी अग्नि मे चारो घातिया कर्म रूपी ईन्धन को जला दिया है जिनके अप्रतिहत अनन्त ज्ञानादिक चतुष्टय प्रगट हुआ है, अन्तराय कर्म के अभाव होने से जिनके निरन्तर शुभ पुद्गल कर्म वर्गणाओ का समुदाय बढ़ता जा रहाहै ऐसे अर्हत केवली भगवान के यद्यपि वेदनीयकर्म विद्यमान है तथापि उसके बल को सहायता देने वाले घातिया कर्मों का नाश हो जाने से उसमें अपना प्रयोजन उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रही है। जिस प्रकार मन्त्र औषधि आदि के बल से जिसकी मारण शक्ति (प्राण हरण करने की शक्ति) नष्ट कर दी गई है, ऐसा विष खा लेने पर भी वह किसी को मार नहीं सकता अथवा जिसकी जड़ काट डाली है ऐसा वृक्ष कुछ समय पर्यंत हरा दीखने पर भी फल फूल नहीं कर सकता। इसी तरह केवलियों के वेदनीयकर्म भी कुछ भी नहीं कर सकता है। अतः केवलियो के कवल आहार कहना निरर्थक है। प्रोफेसर साहब शायद हमारे इस लिखेको न मानें इसलिये दो चार प्रमाण यहां श्वेताम्बर शास्त्रों के ही देकर सिद्ध किया जाता है कि केवलियों के कवलाहार नहीं है।

श्वे० स्थानकवासी 'दशाश्रुत स्कध' पृष्ठ ३८वें पर भगवान महावीर स्वामी से गणधर जी पूछते हैं कि 'हे भगवन् ! केवलज्ञान कैसे होता है।' इस प्रश्न के जबाब में महावीर स्वामी यों कहते हैं—

'जिस साधु का सर्वथा ज्ञानावर्णी कर्म क्षय हो गया हो और बारह प्रकार की प्रतिज्ञा पालता हो, घन घातिया कर्मों का क्षय कर दिया होय उसे केवलज्ञान कहते हैं और मोहनीय कर्म का नाश ऐसे होता है जिस तरह ताल को वृक्ष का मस्तक छेदन करने से उसका नाश हो जाता है और सेनापति के नाश हो जाने से सेना इधर उधर को विखर जाती है, धूम रहित अग्नि ईंधन के अभाव से क्षय होती है और जिस वृक्ष की मूल कट जाती है उसका मूल पानी सींचने से हरा नहीं होता और भुंजकर दग्ध किया धान्य मट्टी पानी संयोग से उसमें अंकुर उत्पन्न नहीं होते हैं ऐसे ही मोहनीय कर्म के नाश होने से

बाकी सब कर्म भाग जाते हैं, कुछ असर नहीं कर सकते वैसेही भगवान केवलज्ञानी कर्मका अंत करके सिद्धलोक में जातेहैं। केवलज्ञान में नाम और गोत्र, आयु तथा वेदनीय कर्म कुछ जोर नहीं कर सकते हैं"।

एक प्रमाण, और लीजिये। श्वे० स्था० साधु चौथ मलजी जिनको वर्तमान में कलि काल-केवली की उपाधि दीगई है उन्होंने "भगवान महावीर स्वामी का जीवन आदर्श" नामका एक बड़ा लम्बा चौड़ा पोथा प्रगट किया है जिसके पृष्ठ ५३५ वें पर गुणस्थानों का कथन करते समय यह लिखा है।

"अतः सातवें गुणस्थान वर्ति मुनि जब निद्रा आहार आदि लेनेको तत्पर होते हैं तो छठे गुणस्थान में आ जाते हैं और छठे गुणस्थान-वर्ति जब विशिष्टध्यान में लीन होकर प्रमाद का परिहार करते हैं तो सातवें गुणस्थान में पहुंच जाते हैं"।

अतः चौथमलजी के कहे अनुसार भी कवलाहार छठे गुणस्थान तक है आगे के सातवें आठवें आदि गुणस्थानों में कवलाहार नहीं है। जबकि सातवें गुणस्थान में ही आहार नहीं है तो फिर यथाख्यात चारित्र वाले तेरहवें गुणस्थान में केवलियोंके आहार असम्भव है।

श्वेताम्बराचार्य 'हेमचन्द्र' जो कि बड़े स्याद्वादी विद्वान हुए हैं उन्होंने अपनी बनाई "स्याद्वादमंजरी" नाम के ग्रन्थमें पृष्ठ ३६२ वें पर केवलियों के कवल आहार का बिलकुल निषेध किया है। इस प्रकार जब श्वेताम्बर शास्त्र युक्तियो द्वारा केवलियों के आहार का निषेध करते हैं तो प्रोफेसर हीरालाल जी उसका समर्थन करके उलटी गंगा बहा रहे हैं।

यदि प्रोफेसर साहब यह कहें कि केवलियों का औदारिक शरीर बिना कवलाहार के कैसे रह सकता है तो इसका समाधान यह है कि-

आहार छह प्रकार का होता है। नो कर्म आहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप आहार, ओज आहार, और मानसिक आहार। इनमें से नोकर्मआहार केवलियों के होता है, कर्माहार नारकी जीवों के होता है और मानसिक आहार (कंठमेंसे अमृत का झड़ना) देवों के होता है, कवलाहार मनुष्य और तिर्यंचों के होता है, ओज आहार (माताके शरीर की गर्मी) अण्डेमें रहने वाले जीवोंके तथा लेप्य आहार (मिट्टी पानी आदिका) वृक्षादि एकेन्द्रिय जीवोंके होता है।

केवलज्ञानी का परम औदारिक शरीर क्षायिक लाभरूप लब्धिके कारण आने वाली प्रति समय शुभ असाधारण नो कर्म वर्गणाओं से पुष्ट पाता है, इस कारण उनका नोकर्म आहार ही उनके होता है। इसी प्रकार एक कवल आहार न होनेपर भी केवलीज्ञानी भगवान का परम औदारिक शरीर नो कर्म आहारसे ठहरा रहता है। अतः केवली के कवल आहार का किसी प्रकार भी कहना नहीं बनता है। भूखका लगना ए० प्रकार का रोग है परन्तु श्वे० हेमचन्द्राचार्य केवलियों ३४ अतिशयो के वर्णनमें कर्मके ११ अतिशयो के वर्णन करते हुये नं० ४ के अतिशयोंमें रोग का न होना लिखते हैं। श्वे० स्था० सूत्र "समवायांग में जहां केवली के अतिशयों का वर्णन आया है वहां लिखा है कि "इनका शरीर निरोग रहता है"। श्वे० स्था० साधु चौथमल जी आदर्श जीवन में ३४ अतिशयोंका वर्णन करते समय लिखतेहैं कि, "पहले रोग उपशान्त हो जाते हैं और नवीन रोग उत्पन्न नहीं होते। जब केवलियों के किसी प्रकार का रोग नहीं होता तब केवलियोंके भूखरोग कैसे सम्भव है।

मित्र ! आहार का त्याग निद्राके जीतनेको किया जाता है जो भोजन करता है उसे अवश्य निद्रा आकर घेरती है, सोनेपर प्रेत कैसे घुर्राटे लेता हुआ व्याकुल होने पर रत्नत्रय से गिरजाता है और कर्म वध को प्राप्त होता है । अतः केवली आहार करते हैं तो उनकी दशा भी यही होती होगी? केवलज्ञानियों को संसार के समस्त पदार्थ ज्यों के त्यो केवलज्ञान द्वारा दीखते हैं इसलिये आहार करते समय, कहीं जीवो का वध होना, कहीं मल, मूत्र, रुधिर, राधि, मांस, मदिरा, हाड़, चमड़ा, आदि पदार्थ भी ज्यों के त्यो दीखते होगे फिर केवलीआहार कैसे कर जाते हैं । इन चीजों को तो देखकर गृहस्थी भी भोजनका त्याग कर देता है । भोजन बनते व करते समय भी सूक्ष्म जीवों को उसमें पड़ते मरते देखकर फिर उस दोषी आहार को केवली क्यों लेते हैं? केवलियों के आहार करने पर अनंत चतुष्टय भी नहीं रहसकता तथा केवलज्ञानी उस कवलाहार को वहां समवशरण में ही करते हैं ? या किसी दातार के घर जाकर ? यदि समवशरण मेंही करतेहैं तो वहां कहां से आता है ? और उस आये हुए भोजन में आधाकर्मि दोषहै क्यों कि वह उनके निमित्त से बनकर आया, उस दोषी भोजन को क्यो करते हैं ? यदि दातार के घर जाकर करते हैं तो उतनी देर तक समवशरण कैसे ठहरा रहताहै ? क्योकि बिना केवली के समवशरण रहता नहीं ऐसा आगम वाक्य है । केवली कितने ग्रास खाते हैं और उस ग्रास का क्या प्रमाण है ? केवलियो के भावमन नहीं होता विना मनके भूख का लगना पेटका भरना कैसे जान पड़ता है ? इत्यादिक वातोपर जब विचार किया जावेगा तब स्वयं खुलासा हो जायगा कि केवलियो के कवलाहार नहीं है ।

श्री उमास्वामी जी आचार्य ने कहा है "केवलि-श्रुत-संघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य" । अर्थात केवली को कवल आहार कहना क्षुधा तृषा रोगादि-दोष कहना केवली का अवर्णवाद है । इससे दर्शन मोहनीय कर्मका आस्रव होता है (तत्वार्थसूत्र अध्याय ६ सूत्र १३) क्या प्रो० सा० को इस का भय नहीं है।

अब रही एक स्त्री मुक्ति वाली शंका जिसका समाधान, श्वेताम्बर शास्त्र, "प्रवचन सारोद्धार-प्रकरण रत्नाकर" भाग ३ छपा सं० १६६४ भीमसेन माणिकजी वंबई, पृष्ठ ५४४-५४५ अनुसार किया जाता है ।

"अरहन्त चक्की केसवबलसंभिन्नोय चारणे पुव्वा।
गणहर पुलाय आहारगं च नहु भवियमहिलाणं" ।५४०

भावार्थ—"अर्हत, चक्री, नारायण, बलदेव, संभिन्नश्रोता, तथा चारणादि, पूर्वकाज्ञान, गणधर, पुलाकपना, आहारक शरीर ये दश लब्धियें भव्य स्त्री के नहीं होती हैं ।"

प्रो० सा० स्त्री पर्याय में न तो अर्हत अवस्था है और केवलज्ञान तो बहुत दूर रहा जहां १४ पूर्वका भी ज्ञान नहीं होता, न मुनि अवस्था होती है न किसी प्रकार की ऋद्धि ही होती है वहां मोक्ष किस आधार पर आपने मानली ? क्या विना केवलज्ञान और मुनि पना धारण किये बिना मोक्ष होने का आपके पास कोई प्रमाण है ? अतः यह एक ठोस प्रमाण श्वेताम्बर शास्त्रका ही है इसलिये आपको मानना होगा। दूसरी वात मोक्षका नियम तेरहवे गुणस्थानसे चौदह में गुणस्थान में पहुचने पर है परन्तु स्त्री पर्याय मे पांचवें गुणस्थान से आगे छटवां गुणस्थान भी नहीं होता फिर मोक्ष कैसे होसकती है। और भी कितने ही कारण स्त्री पर्याय में मुक्ति में रोक लगाने वाले

हैं जो यहां विस्तार के भय से रहीं लिखे जाते।

पाठक गण! जैनागम वह ही कहे जाते हैं जो सर्वज्ञता, वीतरागता, हितोपदेशकता रूप तीनों गुणों से विभूषित अर्हन्त भगवान के उपदेश के अनुसार रचेगये हों। जिन में पूर्वापर-विरोध और अत्याचार न हो, जो युक्तियों से खंडित न हो सकें, सत्य हितकर बातोंका उपदेश जिनमें भरा हुआ हो। परन्तु हम देखतेहैं श्वेताम्बर मतके शास्त्रोंमें पूर्वापर विरोध तो है ही किन्तु अनुचित विधानों से भी भरे पड़े हैं क्या इन शास्त्रों से जैनधर्म की प्रभावना हो सकती है। नहीं उलटा जैनधर्म को कलङ्कित बनाते हैं। इसलिये श्वेताम्बर धर्म और उसके शास्त्र मानने योग्य नहीं। यह श्वेताम्बर मत हुण्डा अवसर्पिणी काल पाय कर प्रगट हुआ है इससे पहले कभी न था यह बात "सिद्धान्त प्रदीप" में लिखे अनुसार सिद्ध होती है। "सिद्धान्त प्रदीप" में लिखा है--

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्या संख्यातेषु गतेष्वयी।
हुण्डावसर्पिणीकाल इहाया नित चान्यथा ।७३।
तस्या हुण्डावसर्पिण्या पञ्चपाखण्डदर्शनाः
शलाकापुरुषा ऊना संघभेदा अनेकशः ।।४७।।
जिनशासनमध्येषु स्युर्विपरीताः मनांतराः।
चीवद्या वृत्तनिन्द्या सग्रन्था सन्ति लिङ्गिनः ।७५।।

भावार्थ-असंख्याते उत्सर्पिणी अपसर्पिणी कालोंके व्यतीत होने पर एक हुण्डा अवसर्पिणी नामका काल यहां आता है ।।७३।।

उस हुण्डासर्पिणी में अनेक तरह प्रपञ्च पाखण्ड मत होते हैं तथा शलाकापुरुषों की जीव-संख्या कम होतीहै और अनेक प्रकारके संघभेद होते रहतेहैं ।७४।

जैनधर्म मे भी अनेक तरह के मतान्तर जो विपरीत हैं जैसे कपड़े पहनने वाले परिग्रही साधु-भेषी होते हैं ।।७५।।

दिगम्बर और श्वेताम्बर मतभेद के कुछ अन्यकारण।

१

श्वेताम्बर आगम कहते हैं कि भगवान महावीर स्वामी का जीव स्वर्गसे चयकर प्रथम ऋषभदत्त ब्राह्मण की स्त्री देवानदा ब्राह्मणी के गर्भ में आया और ८२ दिन तक वहां रहा बाद ८२ दिनके हरि-णगवेसी देवने ब्राह्मणी के पेटसे भगवान के शरीर पिंडको निकालकर सिद्धार्थ राजाकी रानी त्रिशलादेवी के पेटमें पहुंचा दिया और नौ महिने बाद रानी त्रिशला के उदर स भगवान ने जन्म लिया।

२

प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान धर्मानन्द कौशाम्बी कृत 'महात्मा बुद्ध' नामक पुस्तकमें तथा 'विशाल भारत' पत्रिका में श्वेताम्बरीय आगम भगवती सूत्र के 'तं गच्छतनं सीहा' आदि सूत्रोंके अनुसार लिखा है कि भगवान महावीर स्वामी ने केवलज्ञान के भये बाद रोगनिवारणार्थ कबूतर खाया था।

प्रो० सा०! मैं आपसे पूछता हूं क्या भगवान महावीर स्वामी क्षत्रिय वर्ण के थे या ब्राह्मण क्षत्रिय दोनों वर्णोंके थे। तथा क्या भगवान महावीर केवली ने मांस खाया था?

३

श्वे० स्था० "ठाणासूत्र" पृष्ट ३२१वें पर "चत्तारि गोरस विगई०" गाथा में मुनियों को खुले शब्दों में लिखा है कि वे तेल, चर्बी, घृत, मक्खन, मधु, मांस, मदिरा, ग्रहण कर सकते हैं।

४

"आचारांग सूत्र" दशम अध्ययन अष्टम उद्देश पृष्ठ ३०६ वे पर "से भिक्खूवाजाव समणो०" वाले सूत्रमें साग, भाजी, सड़ाफल, पुराना मधु, पुरानी मदिरा, पुराना घृत खाना मना किया है इससे सिद्ध है कि पुराना छोड़ नया खाना चाहिये।

५

पृष्ठ १६८ चौथा उद्देश अध्ययन १० "संतिततो गतिणस्य भिक्खूस०" वाले सूत्रमें अन्न, पान, दूध, दही, मक्खन, गुड़, तेल, घी, मधु मदिरा, मांस, तिल, पापड़ी, गुड़ का पानी लेना लिखा है। पृष्ठ ३१५-२६३ आदिकों पर इसी प्रकार के कथन पाये जाते हैं।

६

"आचारांग सूत्र" अध्याय १० उद्देश १० पृष्ठ २०६ वें पर जो साधुओं को भोजन बतलाया गया है उसे भी देखलें—

से भिक्खू वा सेज्ज पुण जाणेज्जा, बहुअट्ठियं मंसंवा मच्छंवा बहुकंटक, अस्सिं खलु पडिगाहितंसि अप्पेसिया भोयअ जाऐ, बहु उज्झियधम्मिए – तह– प्पगारं बहुअट्ठियं मंसं मच्छं वा बहु—कंटगं लाभे सते जाव ण पडिगाणेज्जा"।

अर्थात्—"बहुत अस्थियों (हड्डियों) वाला मांस तथा बहुत कांटे वाली मछली को जिन के लेनेमें (हड्डियां कांटे आदि) बहुतसी चीज छोड़नो पड़े और थोड़ी चीज (मांस) खाने के लिये बने मुनिको वह न लेना चाहिये।

श्वेताम्बरी आगम "वृहत्कल्प सूत्र" में लिखा है कि साधु मनुष्य का मूत्र भी पीले। पृष्ठ ८१ गाथा नं० ४७-४८।

श्वेताम्बरी ग्रन्थोंमें केवलज्ञानकी सुलभता

१

एक बुढ़ियाको उपाश्रय में बुहारी लगाते लगाते केवलज्ञान हो गया।

२

एक शिष्य अपने गुरूको कंधेपर बिठा कर लेजा रहा था गुरू उसे ओघा मार रहा था इसतरह चलते चलते, मार खाते खाते उसे केवलज्ञान होगया।

३

ढढण ऋषि लाडू फोड़ते फोड़ते केवलज्ञानी हो गये।

४

मृगावती को चंदना के पैर दबाते २ केवलज्ञान हो गया।

५

एक नट को बांस पर चढ़े हुए केवलज्ञान होगया

६

एक शिष्यको अपने गुरूका थूक चाटते चाटते केवलज्ञान हो गया।

७

कपिल केवलज्ञानी ने चोरोंके सामने नाटक खेला

इत्यादि अनेक कथन श्वेताम्बरीय आगम ग्रन्थों में पाये जाते हैं। हम प्रोफेसर साहब से पूछते है कि ये बातें जैनसिद्धांत के अनुसार हैं? जो केवलज्ञान शुक्लध्यानकी कठिन तपस्या से होता है वह क्या यों ही चलते फिरते, खाते पीते, अन्य काम करते करते हो सकता है? क्या ये विधान दिगम्बर श्वेताम्बर सिद्धांतों में अन्तर नहीं डालते?

हम चाहते हैं कि दिगम्बर, श्वेताम्बर सिद्धान्तों में मत भेद न हो किन्तु प्रोफेसर हीरालाल जी सा० बतलावें कि इन विधानों के रहते हुऐ मत भेद मिट सकता है?

२४

* धर्मवीर श्री मान *

-पं० श्रीलाल जी पाटनी-

॥ अलीगढ़ ॥

धर्मधीर पं० मक्खनलाल जी शास्त्री मुरेना ने जो श्रेष्ट सम्मति प्रो० हीरालाल जी अमरावती को यह दीहै कि आप श्री पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज के चरणो में अपनी शङ्का का विद्वानो के समक्ष निर्णय करलें। परन्तु भा० दि० जैन महा-सभा के महा-मन्त्री ने जैन गजट में यह लिखा है कि प्रो० हीरालाल जी एक मान्य पंडित हैं तथा इनके इतिहास विषय के ज्ञान में तो किसी को शंका ही नहीं करनी चाहिये अर्थात् जिस प्रकार भगवान् के वाक्यमें शंका नहीं की जाती और तबही सम्क्वत्वका निःशंकित गुण पलता है अन्यथा मिथ्यादृष्टि हो जाता है इस प्रकार इतिहास ज्ञान प्रोफेसर जी का सर्वोपरि है वे जो कहें उसे मान लेना चाहिये। महासभा के महा-मन्त्री जी की इस बात को कोई माने या न माने परन्तु असमदादि महा सभानुयायी तो मानेंगे ही। अतः अपनी स्मृति के अनुसार कुछ हमभी लिख रहें हैं देखें, इसपर इतिहासके जानकार क्या मार्क देते हैं ?

क्षुत्पिपासा जरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः, । न राग-द्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते। (रत्न करंड श्लोक)

अर्थः- भूख प्यास बुढ़ापा रागादि जिसके न हों, वह आप्त (सर्वज्ञ) कहलाता है।

पाठकगण ध्यान दे कि जो स्वामी समन्तभद्राचार्य भावी तीर्थंकर कहे गये हैं, वे केवलीको क्षुधा रहित कहते हैं।

अनाहाराय तृप्ताय नमः परममायुषे, ।
व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमायुषे।

[भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत सहस्रनाम श्लोक ३१]

अर्थः-भगवान् की स्तुति में विना आहार के तृप्त कहा है।

निर्निमेषो नराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः,
निष्कलङ्को निरस्तैना निर्द्धूतांगो निरास्रवः।

[सहस्रनाम श्लोक ७४]

अर्थ-भगवान् के नाम में भगवान् को निराहारः (आहार रहित) ऐसा कहा है।

क्षुत्-तृड्ग-भय-रागरोष-मरणस्वेदाश्च खेदा रति, चिन्ता-जन्म-जराश्च विस्मयमदौ निद्रा विषादस्तथा। मोहोष्टादश दोषदुष्टरहितः श्री वीतरागो जिनः, पायात्सर्वे जनान्दयालु रघतो जन्तोःपरं दैवतम्।

[जिनस्तवननिधि

अर्थः-भगवान् क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषों से रहित हैं, वे सब जनों की पाप से रक्षा करो।

सर्वार्थसिद्धौ (पूज्य पादाचार्य विरचित) अध्याय दूसरा सूत्र चौथे की व्याख्या (क) लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात्परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरवलाधानहेतवोन्य-मनुष्या -साधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः।

अर्थः-सम्पूर्ण लाभान्तराय कर्मके नाशसे छोड़ दी है कवलाहार क्रिया जिन्होने, ऐसे केवलियों के शरीर स्थिति के कारणभूत, जो अन्य मनुष्य मे नहीं ऐसे परम श्रेष्ठ सूक्ष्म अनन्त पुद्गल समय २ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वह क्षायिक लाभ है।

पाठक ध्यान दे कि केवली के नौ केवल-लब्धि हैं उन नौ मे जो लाभ-लब्धि है उसका कार्य यह है कि उन केवलीका शरीर विना भोजनके पूर्ण वलवान वना रहता है, जिसकी मिसाल अन्य मनुष्यों मे नहीं मिलती।

(ख) केवलीश्रुतसंघ-धर्मदेवा-वर्णवादो दर्शन—

मोहस्य, अध्याय ६ सूत्र १३ वां, कवलाभ्यहारजीविनः केवलिन इत्येवमादिवचनं केवलिनामवर्णवादः।

अर्थः-कवलाहार से जीनेवाले केवली होते हैं, इत्यादि वचन कहना केवलियों का अवर्णवाद है। पाठक ध्यान दें कि जो अवर्णवाद महान् गुणियों में न होते दोषों को लगा कर दर्शन मोहनीय का कारण कहा है उसको केवलियों का स्वरूप बताना सर्वथा विरुद्ध मार्ग है।

(ग) एकादशजिने, अध्याय९ सूत्र ११वां, इसकी व्याख्या में एकादश जिने न सन्तीति वाक्य—शेषः कल्पनीयः सोपस्कारत्वात्सूत्राणां।

अर्थः-जिन भगवानके ग्यारह परीषह नहीं हैं, ऐसा वाक्य जोड़ना, सूत्रोंमें अनुवृत्ति आती है। पाठक ध्यान दें कि टीकाकार ने कितना संशयस्थलको स्पष्ट रूप में दिखला दिया है.।

राजवार्तिके भट्टाकलंकदेवविरचिते, (क)(ख) (ग) उक्त सर्वार्थ सिद्धि के तीनों ही प्रमाणोंके समान कथन है, पाठक देख लें।

पाठक एक विशेष युक्ति पर ध्यान दें कि केवलियों के चार घातिया कर्मों के नाश से चार अनन्त चतुष्टय गुण उत्पन्न होते हैं, ज्ञानावरणी दर्शनावरणी के अभाव से अनन्त ज्ञान, दर्शन, मोहनीय अन्तराय के अभाव से अनन्त सुख वीर्य। जैसा कि महर्षि वीरनन्दि आचार्य ने चन्द्रप्रभ चरित्र में कहा है "अनन्तविज्ञानमनन्तवीर्यतामनन्त—सौख्यत्वमनंतदर्शनं। विभर्ति योनंतचतुष्टयं विभुः स नोस्तु शांतिर्भवदुःखशान्तये"।

अध्याय १ श्लोक ३ रा। अर्थः-अनंत चतुष्टय धारक शान्तिनाथ भव दुःख की शान्ति करें। पाठक ध्यान दें कि मोहनीयकर्म नाश से केवलियोंमें अनन्त सुख प्रतिपादन किया है, और यही गुण सिद्धों में सम्यक्त्व रूपसे कहा है, इसका यही तात्पर्य है कि सकल परमात्मा केवली में समस्त मोह के अभाव से अनन्तवीर्य, और मोहनीय के अभाव से अनन्त सुख प्राप्त हुआ। जो अनादिकालसे मोहवश आत्मा दुःखी था, उस मोह के अभावसे आत्मा में अनन्त सुख की प्राप्ति हुई, मान लीजिये कि वेदनीय कर्म से क्षुधा उत्पन्न हुई तो क्या वह परमात्मा उस शरीर की रक्षा में इतना मोही बन गया जो उसकी रक्षार्थ भोजन करने लगा? यह कल्पना किसी प्रकार भी बुद्धिमानों को सन्तोष का कारण नहीं है।

दूसरी बात यह है कि आहार संज्ञा असाता वेदनीयके उदय से होती है तो जहां अनन्त सुख हो वहां असातावेदनीय (पाप प्रकृति) की सत्ता रह नहीं सकती।

तीसरी बात, अनंत वीर्य नामा गुण जो अंतराय कर्म के अभाव से उत्पन्न हुआ है, उसमें इतनी भी शक्ति नहीं कि वह केवलज्ञान को तो अनन्त काल तक अक्षुण्ण बनाये रहे, परन्तु शरीर को किंचित काल तक भी न स्थिर रख सके महर्षि प्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है कि 'अनन्तसौख्यता यस्य न तस्याहारसंभवः यद्यस्ति तर्हि जायेत [illegible]तोनन्त-शर्मणां'
अर्थः-जहां अनन्त सुखहै वहां आहार नहीं है, और यदि है तो अनन्त सुख नहीं। दूसरी बात यह है कि श्री नेमिचन्द सिद्धांत चक्रवर्ती ने गोमट्टसार संज्ञा प्ररूपणा गाथा (१३३) में कहा है कि आहार संज्ञा दारुण दुःख का कारण है, "इहजाहि वाहियावि य जीवा पावन्ति दारुणं दुक्खं, सेवंतावि य उभये ताओ-चत्तारि सण्णाओ"।

अर्थ—जिनसे संक्लेशित होकर जीव इस लोक में और जिनके विषय सेवन करनेसे दोनों ही भवों में दारुण दुःखको प्राप्त होता है, उनको संज्ञा कहते हैं। और इनके ४ भेद हैं। पाठक ध्यान दें, कि जिस आहार से जीवों को दुःख होता है उसको अनन्त सुखवाली आत्मामें कहना, कितने आश्चर्य की बात है।

दूसरे प्रमाण में उस आहार संज्ञा का सद्भाव सातवें गुणस्थान में अभाव कहा है:—

णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा,
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि णहि कज्जे" ॥

अर्थः—"अप्रमत्त गुणस्थान मे आहार संज्ञा नहीं होती क्यों कि यहा पर इसका कारण असाता वेदनीय कर्मका उदय नहीं है, और शेषकी तीन संज्ञा उपचार से वहां होती हैं।

पाठक ध्यान दें कि जो आहार संज्ञा सातवें गुणस्थान मे भी नहीं है, उसका उस परमात्मा मे कैसे सद्भाव माना जाए, सामान्य रूपसे वेदनीय की सत्ता है, परन्तु उसमे असाता का तो सर्वथा अभाव ही है, दूसरी बात सूत्रकार ने अकषाय जीवों के ईर्यापथ आस्रव कहा है, तो भगवान केवली के जब सम्पूर्ण कषायोंका अभाव हो चुकातब कोई कर्म स्थिति रूप व अनुभागरूप फल नहीं दे सकता, फिर असाता वेदनीय ही किस प्रकार "अनुभागरूप फल (भूख लगाकर खाना खिलाकर) दे सकता है, कर्म सिद्धांत की टांग मारने वाला को विचारना चाहिये।

प्रोफेसर साहब ने लिखा है कि आप्त मीमांसा में समन्तभद्र स्वामी ने भी वीतरागी के सुख दुःख माना है, अतः केवली के भी दुःख से आहार संज्ञा होती है, पाठक जरा आप्त—मीमांसा के श्लोक पर ध्यान देवें। श्लोक यह है—

"पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि,
वीतरागो मुनिर्विद्वान ताभ्यां युन्ज्यान्निमित्ततः
(श्लोक ९३)

अर्थः—अपने में दुःखदेने से पुण्य होगा और सुख से पाप ? तो वीतराग मुनि और विद्वान पुण्य पाप से युक्त होजायेंगे। पाठक ध्यान दें कि यहां पुण्य पाप के एकांत खण्डन मे स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि यदि मुनि काय—क्लेश, त्रिकाल योगाद्यनुष्ठान जिनसे शरीर मे कष्ट होता है, तो उस के करने से पुण्य बन्ध करेगा, परन्तु मुनि इनके करने में दुःखका अनुभव नहीं करता अतः ये पुण्य के कारण नहीं हैं, किन्तु मोक्ष के कारण हैं। आश्चर्य है कि प्रोफे० जी की बातका जिससे खण्डन होता है उसको मण्डनमे लिखा है। इस श्लोकको अष्ट सहस्री निकाल कर मनन करें कि वीतराग को दुःख ही नहीं होता, होता है तो वह वीतरागी नहीं।

केवली के कवलाहार होता है तब उसकी निवृत्ति इच्छा द्वारा होती होगी। अर्थात मुझे भूख लगी है, चलो आहार को, या बिना इच्छा के समय पर लग ही आती हो तो इससे नित्य का ही आहार होना चाहिये ? कहीं भी प्रथमानुयोग के सैंकड़ो ग्रन्थो मे इसका कथन नहीं देखा, तो क्या सब ही आचार्य इसके ज्ञाता न थे ?

दूसरी बात केवल ज्ञान होने पर समवशरण या गन्धकुटी रची जाती है, तो भोजन क्या वही श्रावक बनाते थे ? या केवली नगर म आतेथे ? कभी कभी या नित्य ? ऐसी सैकड़ो शंकाएँ होती हैं। परन्तु जिनकी समझ ही विलक्षण है, उनकी बात भी अनोखी है। लिखना तो बहुत है परन्तु लेख बढ़ने के भयसे फिल हाल इतना ही लिखा है।
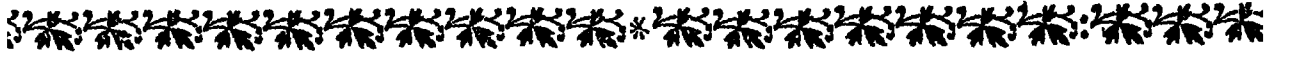
२५

श्रीमान सेठ नेमिचन्द्र जी पाटनी

डायरैक्टर मैनेजिंग एजन्ट

दि महाराजा किशनगढ़ मिल
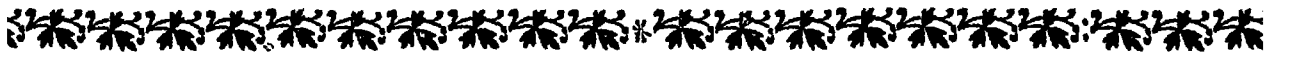
* श्री शान्तिनाथाय नमः । *

प्रोफेसर साहब के मतानुसार कुन्दकुन्दस्वामी ने इस विषय पर, व्यवस्था से न तो गुणस्थान चर्चा ही की है, और न कर्म सिद्धांत का विवेचन किया है इस लिये कुन्दकुन्द का विचार मान्य नहीं। तथा पट्‌खण्डागम के सूत्रकार का अभिप्राय धवलाकार वीरसेन स्वामी नहीं समझ सके, इस लिये मूल सूत्र का अर्थ प्रोफेसर साहब दूसरा निकालते हैं।

इस पर यह लिखना है कि प्रोफेसर साहब द्वारा बहुत छान वीन के वाद लिखी जाने वाली भूमिका जो उन्होंने षट्‌खण्डागम की प्रथम पुस्तकके शुरुआत में लिखी है उसके पत्र ३५ के अनुसार कर्मसिद्धांत की मूल उत्पत्ति—भूत षट्‌खण्डागम की रचना वीर नि० संवत् ६१४ विक्रम सम्वत् १४४, शक सम्वत ६ ईस्वी सन् ८७ के वाद मूल सूत्र कर्मप्राभृत यानी षट्‌खण्डागम की उत्पत्ति स्वामी पुष्पदन्त भूतवली द्वारा मानी है उस ही भूमिका के पत्र ३१ में स्वामी कुन्दकुन्द को ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी में मोजूद होना माना है। और इसी भूमिका के पत्र ४२ में धवला टीका की रचना वीरसेन स्वामी द्वारा ईस्वी सन् ८१६ में पूर्ण होना माना है तथा इसी भूमिका के पत्र ४६ में श्री प्रोफेसर साहब ने बहुत प्रबल प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध कियाहै कि स्वामी कुन्दकुन्द ने उपरोक्त षट्‌खण्डागमों में स प्रथम ३ खण्डो के ऊपर परिकर्म नामक ग्रन्थ की रचना की थी जो इन ही कर्म सिद्धांत की गुत्थियों को सुलझाने वाला ग्रन्थ था, वल्कि प्रोफेसर साहब के मतानुसार श्री वीरसेन स्वामी के सन्मुख सर्व मान्य, जिसको उनके समय तक भी सब आचार्य प्रमाण मानते थे, ऐसा षट्‌खण्डागम पर लिखा हुआ परिकर्म ही ग्रन्थ था जिसके सबसे ज्यादा उद्धरण शका समाधान रूप में धवला टीकामे मिलते हैं जो प्रोफेसर सा० ने अच्छी तरह मनन करके पत्र ४६ से ४८ तक सप्रमाण सिद्ध किया है और परिकर्म ग्रन्थ कुन्दकुन्द का ही वनाया हुआ सिद्ध किया है। तथा इसी भूमिका के पत्र ४६ तथा ५४ में प्रोफेसर साहब ने यह भी अच्छी तरह सिद्ध किया है कि वीरसेन स्वामी ने जहां उनके मत में और दूसरे आचार्यों के मतो मे मतभेद रहा है खास कर परिकर्म रचयिता श्री कुन्दकुन्द आचार्य के मत मे और उनके मत मे मत भेद रहा है वहां वीरसेन स्वामी ने मौन धारण नहीं करके उन मतभेदों को सप्रमाण मानने योग्य माना है तथा अमान्य को अमान्य ठहराकर नहीं माना है। कुन्द २ वड़े आचार्य हुये हैं, ऐसी श्रद्धासे उनने अध विश्वास करके परिकर्म की हर एक वात को मान्य नहीं किया है।

उपरोक्त सब बातों पर विचार करते हुये कुन्द २ स्वामी के मत से धवला टीकाकार के मत को भिन्न ठहराना अथवा मूल सूत्रकार के मत को टीकाकार नहीं जान सके ठहराना सिद्ध नहीं हो सकता। तथा कुन्द २ स्वामी ने कर्म सिद्धांत की कसौटी पर बिना कसे ही तीनों विवादास्पद विषयोंपर अपना मत दिया यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, कारण पुष्पदन्त भूतबली ने सूत्रों की रचना की उस ही शताब्दी में स्वामी कुन्द २ हुये। तथा जिस काल में पुष्पदन्त भूतबली, कुन्द २ हुये हैं, उस समय द्वादशांग की धारा अविच्छिन्न रूप से बराबर चलती रही थी, उस समय तक मुनिमार्ग काफी जोर पर था, तथा जिनवाणी का अध्ययन गुरु-परम्परा से चलता था, और बुद्धि, कुशाग्र धर्मानुरागिणी होती थी, जिससे यह कतई अनुमान नहीं किया जा सकता कि एक ही शताब्दी में कुन्द २ सरीखे दिग्गज विद्वान, जिनके लिये कहा जाता है कि विदेह क्षेत्र में भगवान सीमन्धर स्वामी के समवसरण में जाकर साक्षात् दिव्य ध्वनि द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना था। ऐसे विद्वान वस्तु का स्वरूप गलत समझ कर उसको गलत प्ररूपणा कर देवें। इस लिये यह मानना होगा कि कुन्दकुन्द स्वामी ने जैसा भगवान की दिव्यध्वनि द्वारा प्राप्त किया तथा गुरु परम्परा से जाना, तथा शास्त्रों के द्वारा अध्ययन किया, वही उपदेश किया।

रहा यह विषय कि उन्होंने कर्मसिद्धांत से घटित नहीं किया, सो यह तो विचारने की बात है कि हर एक जगह हर एक कथन में कोई विषय मुख्य होता है तो कोई गौण। तो जहां कुंदकुंदाचार्य ने इस विषय को कहा है, वे अध्यात्म ग्रन्थ हैं, उनमें कर्म सिद्धान्त का विवेचन हो ही कैसे सकता है? लेकिन वहां के उनके विचार प्रकाशन से यह बात निर्विवाद माननी होगी कि कुन्दकुन्द स्वामी ने जो अपना परिकर्म नामक ग्रन्थ लिखा था, उसमें इस विषय को कर्म-सिद्धांत की कसौटी पर कस करके सिद्ध किया होगा। कारण एक ही मनुष्यके दो जगह दो प्रकारके विचार नहीं हो सकते। खास कर एक ही विषय की एक जगह पुष्टि और उसी विषय का एक जगह विरोध नहीं हो सकता। और खास कर कुन्दकुन्द सरीखे आचार्य के विषय में तो ऐसा खयाल ही नहीं किया जा सकता। इसलिये यह बात निर्विवाद माननी होगी कि कुन्दकुन्द के प्राय: ग्रन्थों में जो स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र मुक्ति, केवली कवलाहार विषयों का विरोध पाया जाता है, उन ही विषयों पर उन्हों ने अपने परिकर्म ग्रन्थ में व्यवस्था से गुणस्थान चर्चा भी की है, तथा कर्मसिद्धांत का विवेचन भी किया है, लेकिन हमारे दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं है।

वीरसेन स्वामी ने धवला टीका रचना की तब उनके सामने परिकर्म मौजूद था, और उन्हों ने उस की खुले हाथों विवेचना की है। ऐसी हालत में वीरसेन स्वामी के मत से परिकर्म में मतभेद होता तो वीरसेन स्वामी उस पर विवेचना किये बिना नहीं रहते। जैसा कि उन्होंने दूसरे विषयों की विवेचना की है। इससे यह मानना पड़ेगा कि षट्खण्डागम के मूल सूत्र कर्ता स्वामी पुष्पदन्त भूतबली के मत के अनुसार परिकर्म की रचना कुन्दकुन्द ने की, और कुन्दकुन्द के परिकर्म के अनुसार वीरसेन ने धवला की रचना की। इसलिये हमारे दुर्भाग्य से परिकर्म ग्रन्थ हमारे सामने मौजूद नहीं होते हुये भी परिकर्म के पूर्ण भाव प्रकट करने वाली धवला टीका हमारे सामने मौजूद है। यानी ईस्वी सन् ८१६ में पूर्ण

होने वाली धवला टीका ईसा की पहली दूसरी शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द के विचारों को तथा पहली शताब्दी के पुष्पदन्त भूतबली के विचारों को प्रगट करने वाली है इसमें सन्देह की कोई गुञ्जाइश नहीं है। इसलिये हमको यह मानना होगा कि कुन्द-कुन्द के जो विचार उनके ग्रन्थों में उपरोक्त सवस्त्र मुक्ति, केवलीकवलाहार, स्त्रीमुक्ति विवाद ग्रस्त विषयों के बारे में पाये जाते हैं, वही कुन्दकुन्द स्वामी ने परिकर्म में कर्म सिद्धांत द्वारा सिद्ध किये थे, और वही भूतबली पुष्पदन्त के सूत्रों का अर्थ है, उस ही के अनुसार वीरसेन स्वामी ने धवला की रचना की है। इसलिये यह नहीं माना जा सकता कि कुन्दकुन्द का मत माम्य नहीं है, तथा सूत्रकार का अभिप्राय धवलाकार वीरसेन नहीं समझ सके।

अब शायद यहां यह शका पैदा होवे कि परिकर्म ग्रंथ कुन्दकुन्द का बनाया हुआ था या नहीं ? तो उस के लिये जो अबतक प्रमाण सामने हैं उनसे कुंदकुंद का नहीं बनाया हुआ साबित नहीं होता, तथा किसी दूसरे आचार्य ने भी परिकर्म को अपना ग्रन्थ होना प्रकट नहीं किया है ऐसी हालत में इस शंका को भी कोई स्थान नहीं है। अगर किसी प्रकार यह भी माना जावे, तो भी प्रोफेसर साहब के कथनानुसार परिकर्म ग्रन्थ षट्खण्डागम पर सबसे प्राचीन भाष्य था जिसको उन्होंने ईसा की दूसरी शताब्दी की रचना होना माना है तथा परिकर्म धवला के समय में सर्व मान्य ग्रन्थ था (पत्र ४३) ऐसी हालत में अगर परिकर्म को कुन्दकुन्दके इलावा दूसरे आचार्य की भी रचना माना गया तो भी वह रचना विशेष महत्व की तथा मूल सूत्रकार के विचारों को प्रगट करने वाली माननी होगी। इसलिये षट्खण्डागम के सूत्रकारों का वही मत था, जो धवला टीकाकार का है। इस विषय पर धवलाकार का मत जानने के लिये देखो सत्प्ररूपणा षट्खण्डागम की प्रथम पुस्तक के सूत्र ९३ की व्याख्या तथा पुस्तक २ सत्प्ररूपणा आलाप के पत्र ५१३ मे मनुष्यनी स्त्रियो के सामान्य आलाप में उठाई गई शका का समाधान जिसमे उन्होंने इस विषय पर बहुत खुलासा रूप से सवस्त्र-मुक्ति, तथा स्त्री मुक्ति का विरोध किया है।

भगवती आराधना का उन्होंने प्रमाण दिया है, वह प्रेमी जी द्वारा बहुत स्पष्ट रूप से यापनीय संघ की रचना स्वीकार की गई है (देखो पत्र ५६ जैन साहित्य और इतिहास) जिसके विषय में अभी भी विद्वानो में चर्चा चल रही है, लेकिन अगर यह दर असल यापनीय सघ की ही रचना मानी जावे, तो यापनीय संघ भी तो इन ही तीन बातों को मानने वाला था। बाकी सब क्रिया दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुकूल होती थी। इसी तरह प्रोफेसर साहब को भी यापनीय संघ की तरह इन विषयो की शंका पैदा हुई है जो कि हम सरीखे मद बुद्धियों में हो जाना साधारण बात है, जब कि पूर्व के बड़े २ आचार्यों में भी ऐसी शंकायें रहती थीं लेकिन इस विषय का निराकरण हो जाना चाहिये।

शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान लोग शास्त्रीय प्रमाणों व युक्तियों से इस विषय पर चर्चा चला कर इस विषय का निराकरण करें।

श्रीमान् पं० नन्हेलाल जी सिद्धांत शास्त्री,

—श्री दिगम्बर जैन पाठशाला—

कुचामन (मारवाड़)।

* स्त्री-मुक्ति *

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने ही स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं किया है किन्तु उनके कथन को सर्वोपरि मानने वाले सब आचार्यों ने उसका निषेध किया है प्रोफे० सा० ने आचार्यवर कुन्दकुन्द स्वामी के कथन को अन्य आचार्यों के शास्त्राधार से चिन्तन करने का निश्चय किया है सो ठीक है किन्तु खेद है कि प्रोफेसर सा० को पूज्यपाद, नेमिचन्द्र सिद्धांत—चक्रवर्ती आदि आचार्यों का कथन भी तो मान्य नहीं है क्योंकि उक्त आचार्यों ने जिस अभिप्राय से तीनों वेदो से १४ गुणस्थान बताये है प्रोफे० साहब उन्हें सन्तोषजनक नहीं बताते हैं यदि प्रोफेसर साहब को उक्त आचार्यों का कथन मान्य है तो फिर पूज्यपाद आचार्य ने सर्वार्थसिद्धिमें दर्शनमोहनीय की प्रकृतियों का क्षपण कर्मभूमि मे पैदा हुये मनुष्य के केवली और श्रुत-केवली के पास मे बताया है साथ २ अध्याय १ सूत्र ७ की टीका में .द्रव्यस्त्री के क्षायिक सम्यग्दर्शन का निषेध किया है।

इसके अलावा सिद्धों को १२ अनुयोगो से सर्वार्थसिद्धि अध्याय १०मे साध्य किया है वहां लिंग की अपेक्षा तीनो भाववेदो से मुक्ति बताई है द्रव्यवेद में केवल पुल्लिङ्ग से ही सिद्धि की है शेष दो वेदों का स्पष्ट निषेध किया है यही अभिप्राय राजवार्तिककार और अन्य आचार्यों का है फिर समझ मे नहीं आता कि प्रोफेसर साहब क्षायिक सम्यग्दर्शनादि के बिना ही स्त्रियोके कैसे मुक्ति स्वीकार करते है। गुणस्थानो की नीव भावों पर निर्भर है ऐसी हालत में पूज्यपाद आदि आचार्योंका लेख द्रव्यवेदी पुरुष के भावापेक्षया किसी भी वेद से क्षपक श्रेणि का आरोहण हो सकता है बिलकुल स्पष्ट और युक्तिसङ्गत है। इस कथन से प्रोफेसर सा० के १-२-३ आदि प्रश्न कोई महत्व नहीं रखते हैं शब्दाडम्बर से कोई अर्थ विशेष की सिद्धि नहीं होती है।

षट्खण्डागम के जिन २ सूत्रो का उल्लेख मात्र स्त्रीमुक्ति के समर्थन में किया गया है उनमें से किसी से भी स्त्रीमुक्ति का समर्थन नहीं होता है यदि होता है तो प्रोफेसर साहब को उन सूत्रो से उसे स्पष्ट करना चाहिये।

—संयमी और वस्त्रत्याग—

श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुकूल यदि मनुष्य वस्त्र को त्यागे बिना ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है तो फिर व्यर्थ मे वस्त्रत्याग के कष्ट से क्या लाभ! आनन्द पूर्वक वस्त्रो को धारण कर ही सुख से मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये, रही दिगम्बर सम्प्रदाय की बात, सो प्रोफेसर साहब से पूछना चाहिये कि कौन

से ग्रन्थ में मुनि को सवस्त्र मुक्ति बताई है साथ २ यह भी पूछना है कि आजतक किन २ मुनियों को सवस्त्र मुक्ति हुई है मूलाराधना की ७६ और ८३ गाथा का उल्लेख कर जो मुनि के वस्त्र सिद्धि का प्रयास किया है वह बिल्कुल गलत है उक्त गाथाओं का अभिप्राय तो यह है कि अपवादलिङ्ग धारक गृहस्थ जब वह भक्तप्रत्याख्यान के लिये उद्यत होता है तब उसके पुरुष लिङ्ग में कोई दोष न हो तो वह भी औत्सर्गिकलिंग धारण कर सकता है इसी प्रकार गाथा ८३ से भी मुनि के वस्त्र धारण सिद्ध नहीं होता है।

भगवती आराधना की ७६ और ८३ गाथासे भी मुनि के वस्त्रधारण सिद्ध नहीं होता है यदि थोड़ी देर के लिये प्रोफेसर सा० के अभिप्राय को ही मान लिया जाय कि मुनि भी वस्त्र धारण कर लेते हैं तो क्या इतने मात्र से मुनि वस्त्रधारी बन गये और उस से उन्हें मोक्ष सिद्ध हो गई। यह हो सकता है कि जिन मुनियों को शीतादि की बाधा नहीं सहन होती है यदि वे मुनि वस्त्रधारण करलें तो करलें, किन्तु ऐसे मुनि निर्ग्रंथ वीतराग मुनियों की कोटि में नहीं आ सकते दोषों का प्रादुर्भाव सब जगह हो सकता है यदि कहीं सवस्त्र मुनि को मोक्ष हुआ हो और किसी ग्रंथ में यह कथन आया हो तो प्रोफेसर साहब को उसे प्रकट करना चाहिये जिससे लोगों को मुक्ति प्राप्ति में सुगमता प्राप्त हो सके। सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक टीका के अध्याय ६ सूत्र ४६-४७ के अनुसार निर्ग्रंथ मुनियों को वस्त्र त्याग अनिवार्य नहीं बताया है आदि जो प्रोफेसर साहब ने लिखा है बिल्कुल कल्पित और निराधार है मैं समझता हूं प्रोफे० सा० ने उक्त सूत्रों के अर्थ समझने में गलती की है आप ने बकुश के लक्षण में "शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः" और 'अविविक्तपरिग्रहाः' इन दो विशेषणों से वह अर्थ बिल्कुल नहीं निकलता है 'शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनः' का अर्थ है कि शरीर और उपकरण (पीछी, कमण्डलु, पुस्तक, पथावरा आदि) की सुन्दरता को चाहने वाले। इसी प्रकार "अविविक्तपरिग्रहाः" का अर्थ भी यह है कि नहीं छोड़ा है संघ के मुनि, उपाध्याय, शिष्य, आचार्य रूपी परिग्रह को जिन्होंने। यदि पूज्यपाद स्वामी का उक्त अभिप्राय न होता तो वे 'नैर्ग्रंथ्यं प्रतिस्थिताः' और 'अखण्डितव्रताः' ये दोनों विशेषण क्यों देते श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी समयसार में मुनि का परिग्रह उक्त प्रकार से विवेचन किया है।

बकुश के लक्षण में जितने विशेषण दिये गये हैं उनका परस्पर समन्वय मिलाने से एवं उन विशेषणों का ठीक २ अर्थ करने से कोई शंका उपस्थित नहीं होती है।

'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः' का भी अर्थ यह है कि द्रव्यलिंग को लेकर पांचों ही निर्ग्रन्थ मुनि भेद रूप हैं जैसे कोई आहार करते हैं, कोई उपदेश देते हैं कोई पढ़ते हैं, कोई पढ़ाते हैं, कोई अनेक कठिन आसनों से ध्यान करते हैं आदि।

इसी कथन से प्रोफेसर साहब ने सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ दोनों लिंगों से मुनि के मुक्ति भी बता डाली है जिसमें प्रमाण सर्वार्थ सिद्धि अध्याय १० सूत्र ६ की टीका का दिया है किन्तु खेद है कि प्रोफे० साहब ने उक्त सूत्र की टीका के समझने और पूर्वापर संबंध मिलाने में बड़ी भूल की है छपी सर्वार्थसिद्धि में 'अथवा निर्ग्रन्थलिंगेन के आगे कौमा होना चाहिये, जिसके न होने से आपने उक्त पद को 'सग्रन्थलिंगेन

वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया के साथ घसीट कर सग्रन्थ लिंग से भी मुक्ति बता डाली यदि आचार्य का सग्रन्थ लिंग से भी मुक्ति का अभिप्राय होता तो इसके पहिले (लिंगेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन, त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भावतो न द्रव्यतः "द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव") यह कथन क्यों करते क्योंकि उस कथन से इस कथन में विरोध खड़ा हो जाता है अतः निर्ग्रन्थलिंगेन, इस शब्द के आगे कौमा होना जरूरी है क्योंकि भूतपूर्व-नय का सम्बन्ध सग्रन्थलिङ्ग से ही है निर्ग्रन्थलिङ्ग से नहीं।

धवलाकार ने संयतों के लिये जो पांच महाव्रत का पालन बताया लिखा है सो ठीक ही है पांच महाव्रतो मे सर्व परिग्रह का त्याग आ ही गया आगे के शेष २३ गुण उन महाव्रतो के वाड़ी रूप ही है।

केवली के भूख-प्यासादि की वेदना :—

केवली के भूख-प्यासादि की वेदना का निषेध केवल श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने ही नहीं किया है किन्तु प्रत्येक आचार्य ने उसका निषेध स्पष्ट और जोरो से किया है नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती कृत गोम्मटसार कर्मकाण्ड की २७३-२७४-२७५ और २८० गाथा को देखिये उक्त गाथाओ से यह भी स्पष्ट है कि मोहनीय कर्म के अभाव मे वेदनीय कर्म अपना काम नहीं करता है अत. सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्तिककार ने मोहनीयकर्म के अभाव में वेदनीय कर्म का प्रभाव जर्जरित हो जाता है जो लिखा है वह उनका प्रयत्न-मात्र नहीं है बल्कि सची और अनुभवगम्य बात है प्रभाचन्द्राचार्य ने भी प्रमेयकमल मार्तण्ड में मोहनीय के अभाव में वेदनीयकर्म को कार्यकारी नहीं माना है उक्त आचार्य ने बड़ी खूबी से केवली के भूख-प्यासादि वेदना का निषेध किया है।

तत्वार्थसूत्र ग्रन्थ के अध्याय ६ सूत्र ८-१७ से तो केवली के परीषहों का सद्भाव ही सिद्ध नहीं होता है प्रो० साहब ने उक्त सूत्रो से उक्त अर्थ कैसे निकाला यह समझ में नहीं आया उक्त सूत्रो मे केवली का नाम मात्र भी नहीं सूत्र ८ में तो संवरमार्ग से च्युत न होने और निर्जरा के लिये परीषहों का सहन बताया है और सूत्र १७ में एक साथ एक आत्मा में १६ तक परीषह हो सकती है बताया गया है।

वीतराग केवली के सुख और दुख का सद्भाव सिद्ध करने के लिये आप्तमीमांसा की जिस कारिका का प्रमाण दिया गया है उसका क्या अर्थ है उसे अच्छी तरह से समझकर प्रोफेसर साहब को प्रमाण में लाना था प्रोफेसर साहब से निवेदन है कि उक्त कारिका का अर्थ अष्ट सहस्री परिच्छेद ६ से समझें तब आपको मालूम हो जायगा कि उक्त कारिका से क्या केवली मे सुख दुख का सद्भाव सिद्ध होता है? कारिका में केवल वीतराग शब्द को देख कर केवली अर्थ कर बैठना उचित नहीं है।

१७

श्रीमान् पं० राजधरलाल जी शास्त्री,

व्याकरणाचार्य,

—श्री वीर विद्यालय, पपौरा—

(टीकमगढ़)।

* स्त्री–मुक्ति *

स्त्री-मुक्ति के विषय मे प्रोफेसर साहब ने प्रबल प्रमाण यह दिया है कि षट्खण्डागम में सत्, संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व का चौदह मार्गणाओं में गुणस्थान क्रम से व्याख्यान करते हुये आचार्य भूतबलि व पुष्पदन्त ने मनुष्य और मनुष्यनी के अर्थात् स्त्री और पुरुष दोनों के चौदह बतलाये हैं। अतः पुरुषों की तरह स्त्रियां भी मोक्ष की अधिकारिणी है यदि ऐसा न हो तो षट्खण्डागम मे मनुष्यनियों के चौदह गुणस्थानों मे सत् संख्यादि का वर्णन न होता।

उत्तर—"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" अर्थात् व्याख्यान से विशेष प्रतिपत्ति कर लेना चाहिये, सन्देह होने से अलक्षण नहीं कहा जा सकता अतएव सूत्रों के ऊपर वार्तिक व भाष्य करनेवाले आचार्यों के विशेष व्याख्यान ही सूत्रकारों के आशय को प्रकट करते है। सत्प्ररूपणा सूत्र ६३, की व्याख्या मे श्री वीरसेन आचार्य ने मनुष्यनियो के चौदह गुणस्थान विषयक शका का निराकरण "भावस्त्रीविशिष्ट मनुष्यगति" कह कर किया है इसी प्रकार प्रत्येक प्ररूपणा मे समझना चाहिये।

प्रश्न-सूत्रकार का जोभाव टीकाकार प्रकट कररहे हैं वही है इसमें क्या प्रमाण? उत्तर-टीकाकार सूत्र के सूत्र निबद्ध संक्षिप्त अर्थको ही विस्तार से वर्णन करते हैं। यदि टीकाकार सूत्रकारके आशय को उलट फेर कर व्याख्यान करने लगे तो इसमें उनको असत्य भाषण का दोष लगेगा। टीकाकार का विशेष व्याख्यान ही सूत्रकार का आशय कहलाता है इसके निम्नलिखित कई उदाहरण हैं। "क्षेत्रकाल गतिलिंग तीर्थ–चारित्र प्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तर—संख्याल्प बहुत्वत: साध्या:" यहां गति की अपेक्षा भी सिद्ध परमेष्ठी मे भेद बताया है तो क्या इससे सूत्रकार का यह आशय लगाया जा सकता है कि वह प्रत्येक गति (नरक तिर्यंच मनुष्य देव) से मुक्ति का र्णन करते हैं? जिस प्रकार यहां व्याख्याकारो का आशय ही सूत्रकार का आशय समझा जाता है उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य: सूत्रसे सूत्रकार का क्या यही आशय है कि सिद्धावस्था में सूत्रोक्त चार भाव (केवलज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक दर्शन, सिद्धत्व) ही पाये जाते हैं और अनन्त वीर्यादि नहीं? परन्तु यहा पर जिस प्रकार टीकाकार का अभिप्राय ही सूत्रकार का अभिप्राय (अर्थात् अनन्तवीर्यादि भाव भी पाये जाते हैं) समझा गया है उसी प्रकार षट्खण्डागमके कर्ता का भी अभिप्राय

टीकाकार का अभिप्राय ही समझना चाहिये।

प्रश्न-षट्खण्डागमके रचयिता श्रीभूतवलि, पुष्पदन्त से टीकाकार आचार्य श्री वीरसेन जी बहुत समय बाद (षट्खण्डागम के रचयिता ई० की प्रथम शताब्दी में हुये, और टीकाकार आठवीं शताब्दी में हुये हैं) हुये हैं। इसलिये सम्भव है टीकाकार सूत्रकार का आशय न समझ पाये हो और उन्हों ने अपनी मान्यता के अनुसार सूत्रों का आशय निकाल कर लिखा हो? उत्तर-यदि टीकाकार यह जानते कि "षट्खण्डागम" कुन्दकुन्दादि आचार्यों की मान्यता का पोषक नहीं है तो सम्भव था आचार्य वीरसेन जी उस पर भाष्य रूप टीका ही न लिखते, और जब उन्होंने लिखी है तो इससे यह बात भलीभांति सिद्ध होती है कि टीकाकार सूत्रकार के ही आशय को विस्तार के साथ प्रतिपादन करते हैं। यदि सूत्रकार (षट्खण्डागम के कर्ता) की मान्यता 'स्त्री-मुक्ति' की होती तो उसी का खण्डन करने वाले और षट्—खण्डागम के कर्ता के समकालीन आचार्य-प्रवर कुन्दकुन्द षट्खण्डागम पर परिकर्म नाम की टीका क्यों लिखते? किसी भी आचार्य ने अपने मान्य सम्प्रदायके विरुद्ध ग्रन्थों पर कोई टीकायें नहीं लिखी हैं। इससे यह निश्चय है कि आचार्य वीरसेन की भाष्यरूप जो षट्खण्डागम की धवला टीका है-उस में जो भावस्त्री की अपेक्षा चौदह गुणस्थानों की सम्भावना बताई गई है वही सूत्रकार का आशय है।

प्रश्न-प्रोफेसर साहब का कहना है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने जो 'स्त्री-मुक्ति' का खण्डन किया वह न तो गुणस्थान क्रम से किया है, और न उसमें कर्म-सिद्धान्त का ही विवेचन किया है।

उत्तर- श्री भूतवलि पुष्पदन्त ने यदि चरणानुयोग के द्वारा साधु परमेष्ठी के बताये गये २८ मूल गुणों का वर्णन किया होता और उसमें 'वस्त्र त्याग' रूप मूल गुण का वर्णन नहीं किया होता तो षट्—खण्डागम में 'स्त्री-मुक्ति' का समर्थन है यह किसी प्रकार मान लिया जा सकता था परन्तु ऐसा नहीं है अत: केवल गुणस्थान और कर्म सिद्धांत का विवेचन भी तो स्त्री—मुक्ति के समर्थन में अपूर्ण समर्थन है अत: केवल इतने मात्र से सूत्रकार (षट्खण्डागम के कर्ता) का आशय स्त्री-मुक्ति के पक्ष में नहीं कहा जा सकता।

अपि च स्त्री-मुक्ति के खण्डन में गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा नं० ३२ ही पर्याप्त है उसमें कर्म भूमि की स्त्रियों के अन्त के केवल तीन ही संहनन बताये हैं। और मोक्ष वज्रवृषभ नाराचसंहनन वाले के ही होता है। आचार्य नेमिचन्द्र ने यह संहनन विषयक चर्चा स्वतन्त्र (मनगढ़न्त) तो लिखी नहीं होगी, यह भी पूर्वाचार्यों की मान्यता के आधार पर लिखा होगा।

प्रोफेसर साहब ने कहा कि वेद वैषम्य नहीं हो सकता इसमें तो प्रत्यक्ष प्रमाण ही बाधक है। बहुत से मनुष्य ऐसे देखे जाते हैं जिनके हाव, भाव, कार्य कलाप ऐसे होते हैं जो स्त्रीत्व के द्योतक होते हैं। तथा कौन से परिणाम स्त्रीवेद के उदय में होते हैं, कौन से परिणाम पुरुषवेद के उदय होनेपर होते हैं। कौनसे परिणाम नपुंसकवेद के उदय होनेपर होते हैं यह परिणाम विषयक चर्चा अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान का विषय है अतः मनुष्य या स्त्री के उपांग विशेष होने पर भी उसी वेद का होना चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि बहुतसे मनुष्योंके स्त्रीजातीय परिणाम देखे जाते हैं। अतः वेद वैषम्य न होने में कोई

प्रमाण नहीं है। अपि च यदि स्त्री-मुक्ति सिद्धांतोक्त है तो आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी की तरह आचार्याणी, उपाध्यायी, और साध्वी भी परमेष्ठिनी कहलावेंगी उनको षट्खण्डागम के कर्ता ने नमस्कार क्यों नहीं किया ? नमस्कार नहीं किया इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्यस्त्री इन पदों की अधिकारिणी नहीं है। और भी यदि षट्खण्डागम मे चरणानुयोग का कहीं वर्णन होता और उसमे द्रव्यस्त्रियो को साध्वी होने का विधान मिलता होता तो आपका लिखना सङ्गत हो सकता था, पर ऐसा वर्णन अभी तक प्रकाशित अंश मे नहीं मिलता है अतः केवल कर्मसिद्धांत और गुणस्थान की चर्चा के आधार पर षट्खण्डागम के कर्ताओं के स्त्रीमुक्ति के विषय में विधि वाक्य नहीं कहे जा सकते। जब कि आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचन-सारादि ग्रन्थों से स्त्रीलिङ्ग से साधु पद धारण करने का निषेध किया और आचार्य भूतवलि तथा पुष्पदन्त यदि उस का विधान करते हैं तो आचार्य कुन्दकुन्द और षट्खण्डागम के रचयिताओं का मतभेद स्पष्ट है फिर ऐसी परिस्थिति में प्रायः सम कालीन आचार्य कुन्दकुन्द षट्खण्डागम पर परिकर्म नामक टीका ग्रन्थ क्यों लिखते ? इससे तो यह निश्चय होताहै कि आचार्यकुन्दकुन्दकी मान्यता ही आचार्य भूतवलि और पुष्पदन्त की मान्यता है।

—संयमी और वस्त्र-त्याग—

प्रोफेसर साहब का कहना है कि संयमी बनने के लिये वस्त्रत्याग कोई आवश्यक नहींहै और न इस की पुष्टि दिगम्बर मान्य सभी आर्ष ग्रन्थो से होती है इत्यादि—

इस विषय मे तो प्रोफेसर साहब ने इतनी कमजोर युक्तियां पेश की हैं कि जिन पर विचार करने मात्र से यह प्रतीत होता है कि या तो प्रोफेसर साहब शास्त्राधार से अपनी इच्छानुसार अर्थ को खींचने का प्रयत्न कर रहे हैं या उन्हें शास्त्रो का अर्थ समझ मे नहीं आया है। यथा—

दिगम्बर सम्प्रदाय के अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ भगवती आराधना मे गाथा नं० (७९-८३) तक अपवाद मार्ग में मुनि को वस्त्रधारण करने का विधान है बस इसी प्रमाण के मिल जाने से प्रोफेसर साहब ने अपने अभीष्ट के सिद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसी भगवती आराधना के और आगे के प्रकरण देखिये तो आपको ज्ञात हो जावेगा कि उक्त ग्रन्थकार ने यति के वस्त्रत्याग पर कितना विस्तृत वर्णन किया है। देखिये "परिग्रह त्याग महाव्रत प्रकरण" इससे आपको ज्ञात हो जावेगा कि उक्त ग्रन्थ में ही मुनियों के वस्त्रत्याग पर कितना विस्तृत प्रतिपादन किया है।

अब रही ग्रन्थकार के पूर्वापर विरोध की बात सो वह तो इस तरह समाधान कर लेना चाहिये कि पूर्व में जो वस्त्र धारण करने का विधान बताया है वह प्रकरण भक्त प्रत्याख्यान मरण का (सल्लेखना का) है। वहां पर वस्त्रधारण करने का विधान इस लिये बताया है कि सल्लेखना का इच्छुक जो कोई श्रावक हो उसे समाधिमरण के समय मुनिपद धारण करना चाहिये, और यदि कोई सदोषी होने के कारण उस को धारण करने में असमर्थ हो तो उसे वस्त्र धारण करके भी समाधि मरण धारण कर लेना चाहिये इत्यादि। इससे यह ग्रन्थ कर्ता का आशय कभी भी सिद्ध नहीं होता कि मुनि अवस्था में भी वस्त्र धारण करने की आज्ञा है। ग्रन्थ कर्ता का आशय तो केवल समाधि मरण धारण करने की इच्छा करने वाले सदोषी श्रावक को (जिसको कि तत्काल मुनि पद

दिया गया है) वस्त्र धारण करने के विधान में है। समाधि मरण से अतिरिक्त अवस्था में अपवादलिङ्ग को धारण करने वाले को महाव्रती ही नहीं कहा जा सकता। जो चिरकालसे वस्त्र का त्याग करके दीक्षित हुये हैं उन्हें क्या आचार्य समाधिमरण की हालत में वस्त्र धारण करने की आज्ञा दे देंगे ? कदापि नहीं। ऐसा उल्लेख शास्त्र में कही नहीं है। यदि भगवती आराधनाकार का अभिप्राय सामान्यावस्था में भी मुनि को वस्त्रधारण करने—रूप अपवादलिङ्ग के विधान का होता तो वे परिग्रह त्याग महाव्रत के प्रकरण में उसकी चर्चा क्यों नही करते ? उनका आशय तो केवल इतने से ही है कि समाधि मरण की अवस्था में श्रावक को भी मुनि पद धारण कर लेना चाहिये यदि कदाचित श्रावक लज्जाशील समृद्ध और मिथ्यात्वी कुटुम्ब वाला, लिङ्ग दोष से युक्त हो तो उसे एकांत में आस्तरण पर ही उत्सर्ग लिङ्ग (वस्त्र त्याग) को धारण करना चाहिये, अतिरिक्त काल में अपवाद (वस्त्र सहित) लिङ्ग को धारण करना चाहिये। इस प्रकार ग्रन्थकार का अभिप्राय ज्ञात करने पर प्रो० साहब की बात ठीक नहीं बैठती है।

प्रोफेसर साहब ने दूसरा प्रमाण तत्वार्थ सूत्र के नौवें अध्याय के सूत्र नं० ४६-४७ को मुनि के वस्त्र सहित होने में उपस्थित किया है उस पर भी विचार करने से उनका (प्रोफे० साहब) आशय मिथ्या सिद्ध होता है शरीर संस्कार के विशेष अनुरागी होने से वस्त्रधारण करना सिद्ध नहीं होता क्योंकि शरीर संस्कार तो नग्न सौंदर्य बढ़ाने के हेतु हाथ से पट्टियां बालों में करते रहने से सम्भव हो सकता है। तथा देह का मैल दूर करनेमें, शरीर को भोजनादिसे हृष्ट-पुष्ट करने में भी शरीर संस्कार सम्भव है। अतः शरीर संस्कार से वस्त्र धारण करना सिद्ध नहीं होता है।

'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः' इस पंक्ति का अर्थ आपने किया है कि कभी कभी मुनि वस्त्र धारण कर सकते हैं सो किस आधार से किया है? आपको इस अर्थ के करने में कोई आधार दिखाना चाहिये था। 'द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः' द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा विभाग कर लेना चाहिये अर्थात् द्रव्यलिङ्ग तो एक ही प्रकार का नग्नपुल्लिङ्ग होता है फिर भी उसमें भाव स्त्रीवेद, भाव नपुंसकवेद और भावपुंवेद की अपेक्षा भेद कर लेना चाहिये। यही अर्थ युक्ति-युक्त और संगत प्रतीत होता है।

इसी प्रकार 'निर्ग्रन्थ-लिंगेन सग्रन्थ-लिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया' यहां भूतपूर्वनय का अभिप्राय जो आपने 'सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व का है' ऐसा किया है उसका भी आपने कोई आधार नहीं दिया, इसलिये मान्य नहीं हो सकता कि भूतपूर्वनय का अभिप्राय प्रकृत में सिद्ध होने से अनन्तर पूर्व का नही है, किन्तु मुनिलिङ्ग धारण करने के अनन्तर पूर्व का है। यही अर्थ सिद्धान्तानुसार और युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

धवलाकार ने जो प्रमत्त संयतों का स्वरूप बताते हुये संयम का लक्षण लिखा है वहां केवल महाव्रतों को ही संयम का रूप नहीं दिया है किन्तु यह पांच महाव्रत २८ मूल गुणों के उपलक्षण हैं यही अर्थ धवलाकार को (पूर्वापर ग्रन्थ का अवलोकन करने से) विवक्षित है ऐसा प्रतीत होता है।

अतः 'संयमी और वस्त्र त्याग' के विषय में जो प्रोफेसर सा० के विचार हैं वे भी युक्ति और प्रमाण हीन तथा असङ्गत हैं।

केवली के भूखप्यासादि की वेदना—

इस विषय मे प्रोफेसर साहब ने तत्वार्थ सूत्र का "एकादश जिने" सूत्र प्रमाण रूप में उपस्थित किया है। अर्थात् जिनेन्द्र देव मे वेदनीय कर्म का उदय होने से क्षुधा तृषा आदि ग्यारह परीषह होती हैं।

बस, इसी सूत्र के आधारपर प्रो०सा० केवलीके भूख प्यास आदि की वेदना सिद्ध कर रहे हैं। परन्तु मोहनीय के अभाव में वेदनीय कर्म जली हुई रस्सी के समान है अतः वह अपना सुख दुःख रूप कुछभी फल नहीं दिखा सकता है। कर्मों की भिन्न २ प्रकृति होते हुए भी वे अपना फल देने में परस्पर सापेक्ष होते हैं। इसलिये केवली के सुख दुःखादि की बाधा नहीं होती है। दूसरी बात यह कि प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में कहीं पर भी कोई एसा उल्लेख नहीं मिलता जिसमे केवली को इन्द्रिय जन्य सुखदुःखादि अनुभव करने की चर्चा हो।

केवलीके नोकर्म आहार ही होता है। ऐसा सभी प्राचीन आचार्य प्रतिपादन करते हैं। यदि केवली कवलाहारी होते तो केवली का अवर्णवाद ही क्या होगा? जिसके करने पर दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव-स्वयं आचार्य उमास्वामी ने बताया है।

यदि आप कहें कि मिथ्योपदेश केवली का अवर्णवाद हो जावेगा तो श्रुत का अवर्णवाद क्या होगा? इसलिए 'एकादश जिने' का जो अर्थ सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिककार ने किया है वही युक्ति-युक्त और संगत बैठता है।

तथा आप ने जो "पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्— इत्यादि कारिका से केवली के सांसारिक दुःख और सुखादि की सम्भावना सिद्ध की है वह भी असंगत है क्योकि वहा पर वीतराग मुनि पद का अर्थ मन्द रागी छटेगुणस्थानवर्ती मुनि है, केवली नहीं है।

इत्यलमति विस्तरेण।

---
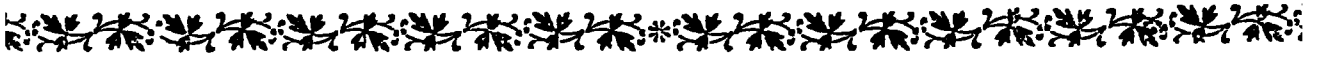
* विभिन्न विद्वानों के अभिमत *

॥ १ ॥

श्रीमान् पं० उल्फतराय जी,

भिण्ड (ग्वालियर)

* श्री वीतरागाय नमः *
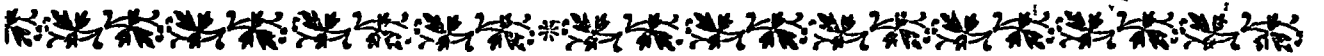
श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल सा० ने बनारस में होनेवाली प्राच्यपरिषदमे जो अपना अभिमत प्रकट किया है वह भ्रमपूर्ण है। आपने कहा 'दि०श्वे० सम्प्रदाय मे मौलिकभेद नहीं' अर्थात् स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति केवलीकवलाहार इनको दि० संप्रदाय से सिद्ध करने का जो प्रयास किया है वह सर्वथा निर्मूल है।

स्त्री-मुक्ति के विपय में जो षट्खंडागम के सूत्रों का उल्लेख कर १४ गुणस्थान दिखलाये हैं वे सब भाववेद की अपेक्षासे हैं क्योकि–'व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिः' इस नियम से सूत्रों का विशेषार्थ ध्वनित होता है जो कि टीकाकारने किया है, द्रव्यवेदकी अपेक्षा से नहीं। द्रव्यस्त्रीके अप्रशस्तवेदके उदयसे उत्तम संहनन नहीं होता और मोक्ष उत्तम-संहननवालोके ही होती है, ये सभी आचार्यों ने माना है। स्त्री निकृष्ट संहनन के कारण पुरुष की समता नहीं कर सकती।

आधुनिक डाक्टरों ने सिद्ध किया है कि पुरुष के शरीर म जो तत्व है उससे सर्वथा भिन्न तत्व स्त्री के शरीरमें हैं अर्थात् जिन परमाणुओसे स्त्रीशरीर की रचना होती है उन परमाणुओ मे यह शक्ति नहीं कि पुरुष के समान उनका मनोबल हो। अतएव स्त्री के परिणाम इतने शुद्ध नहीं हो सकते जो शुक्लध्यान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर सकें, निकृष्ट संहनन के निमित्त से स्त्री में धैर्य का अभाव, भय आदि अनेक दुर्गुणों का सद्भाव पाया जाता है।

तथा लज्जा के वशीभूत हो कर स्त्री वस्त्र त्याग नहीं कर सकती और स्त्रीके शरीरसे रजस्राव निरतर होता रहता है इस लिये भी उनके परिणाम इतने विशुद्ध नहीं हो सकते परिणामो की विशुद्धि मे शरीर भी कारण है इस लिये स्त्री उच्चतम मनोबल को पैदा नहीं कर सकती निपुण डाक्टरोंने स्त्री शरीरकी रचना और पुरुष शरीरकी रचनामें बहुत बड़ा भेद दिखाया है हमारे मित्र डाक्टर नन्दकिशोर जी ने तो यह अच्छी तरह सिद्ध किया है कि स्त्री शरीर की रचना पुरुष शरीर से भिन्न है।

अतएव पुरुष के शरीर में १२ पसली होती हैं और स्त्री के शरीर में ११ पसलियां होती हैं इत्यादि बहुत बड़ा भेद दिखला कर यह सिद्ध किया है कि स्त्री और पुरुषो मे समानता मानना नितान्त भ्रमपूर्ण है।

तथा जिस समय स्त्री रजस्वला हो जाती है उस समय उसके परिणाम कितने मलिन हो जाते हैं यह हम को प्रत्यक्ष दीखता है तथा शास्त्रकारों ने भी इस पर बहुत विवेचन किया है। इस लिये इतना कहना ही पर्याप्त है कि स्त्री पुरुषो की समानता नहीं कर सकती, इतने पाप भी नही कर सकती जो सप्तम नरक की स्थिति बाधे और इतनी विशुद्धि भी नही कर सकती जो कि मोक्ष प्राप्त कर सके।

सवस्त्र मुक्ति

सवस्त्र मुक्ति यह ऐसा विषय है जिसको जैनों के सिवाय दूसरे सम्प्रदाय वालों ने भी यह मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है कि नग्नता धारण करने पर ही मोक्ष प्राप्त हो सकती है क्यों कि किसी भी प्रकार की उपाधि रहने पर मोक्ष नहीं हो सकती। वस्त्र उपाधि है तथा वस्त्र परिग्रह होने से अकिंचन महाव्रत की पूर्णता नहीं हो सकती।

तथा नग्नत्व को अट्ठाईस मूल गुणों में एक गुण माना है वस्त्र ग्रहण से अट्ठाईस मूल गुण नहीं होते। बिना अट्ठाईसगुणोंके मुक्ति नहीं होती। प्रोफे० जी ने पुलाकादि मुनियों का जो उल्लेख किया है वह उनका भ्रम है तत्वार्थ सूत्र के कर्ता भगवान उमा-स्वामी ने

"पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः निर्ग्रन्थाः"

इस सूत्र में निर्ग्रन्थ विशेषण अन्त में दिया है और उसका सम्बन्ध सब के साथ है इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पाचों ही मुनि निर्ग्रन्थ हैं अर्थात् तिलतुष मात्र परिग्रह से रहित हैं यह विधान भावों की अपेक्षा से है इस लिये सवस्त्र मुक्ति कहना अवि-चारित-रम्य है।

केवली कवलाहार

केवली के कवलाहार नहीं होता यह दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है। केवली के मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने से इच्छा का नाश हो जाता है इसलिये बिना इच्छा कवलाहार ग्रहण होता नहीं यदि बिना इच्छा के भी ग्रहण हो जाय तो संसार के सभी पदार्थों का सम्बन्ध हो जाय यद्यपि वेदनीय का सद्भाव उनके है तथापि मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने से किसी तरह का विकार उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिये कहा है कि जली हुई जेवड़ी के रूपमें वैसी दीखती है लेकिन क्रियाकारित्व उससे कुछ नहीं हो सकता इसी तरह वेदनीय कर्म सत्ता में पड़ा है लेकिन मोहनीय नष्ट होने से क्षुधा-जनित वेदना नहीं होती यदि क्षुधा जनित वेदना मानी जाय तो अनन्त चतुष्टय उनके प्रगट हो चुका है इस लिये केवली के कवलाहार मानना भ्रमपूर्ण है।

जब एक गृहस्थ के लिये अन्तराय-रहित भोजन ग्रहणकरनेका विधानहै तब केवली किसतरह आहार ग्रहण कर सकते हैं केवलज्ञान होनेसे चराचर पदार्थ उनके ज्ञान में झलकते हैं इसलिये निरंतराय आहार होना अशक्य है इसलिये केवली के कवलाहार मा-नना नितांत भूल है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य सरीखे प्रखर विद्वान कर्मसिद्धांत के पारगामी को कर्मसिद्धांत तथा गुण-स्थान चर्चा से अनभिज्ञ बताना यह आपकी धृष्टता है तथा दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता ऐतिहासिक दृष्टिसे सिद्ध चुकी है। इन विषयों पर हमारे समाज के प्रखर विद्वानोंने बडे लेख लिखकर अच्छा प्रकाश डाला है और इन लेखों से मेरी पूर्ण सम्मति है आप भी दिगम्बर सम्प्रदाय के एक प्रखर विद्वान हैं इस लिये आपका कर्त्तव्य है कि इस सार भूत ट्रैक्ट को पढ़कर अपनी शंका की निवृत्ति करें फिर भी कुछ शल्य शेष रहे तो श्री १०८ शान्तिसागर महाराज के चरणों के समक्ष अनेक विद्वानों की उपस्थिति में अपनी शल्य मिटावें यही कल्याण का मार्ग है लेख प्रति-लेख लिखकर वितण्डावाद बढ़ाना, समाज में भ्रम फैलाना यह आपको शोभा नहीं देता इसलिये निवेदन है कि जिज्ञासु भाव से उपर्युक्त मार्ग का अनुसरण करें।

॥ २ ॥

श्रीमान् भक्त प्यारेलाल जी,
अधिष्ठाता-उदासीनाश्रम
इन्दौर का

—अभिमत—

* स्त्री-मुक्ति *

सत्प्ररूपणा पुस्तकाकार पृष्ठ ५१३-५१४। द्रव्यस्त्री के संयम नहीं होता क्योंकि वह सवस्त्र है जब संयम ही नहीं तब उसको मुक्ति कैसी ?

—द्रव्य प्ररूपणा पुस्त० पृष्ठ २६१ योनिमतियों की संख्या भाववेद की अपेक्षा घटाई है।

—अन्तर प्ररूपणा पुस्त० पृष्ठ २२२ न तो योनि लिङ्गादि से समन्वित शरीर स्त्री या पुरुषवेद है क्योंकि नामकर्म से उत्पन्न होने वाले शरीर के मोहनीय पने का विरोध है और न शरीर मोहनीय कर्मसे उत्पन्न ही होताहै-क्योंकि-वह पुद्गल विपाकी है और न वेद शरीर का धर्म है किन्तु मोहनीय कर्म की वेद प्रकृतिरूप परिणमा पुद्गल स्कंध तथा उसके उदय से उत्पन्न हुये जीव के स्त्री आदि के साथ रमण करने रूप परिणाम को वेद कहते हैं।

जीवस्थान द्रव्य प्रमाणानुगम भूमिका पेज नं० २६-३० शंका २९वीं के समाधान में प्रोफेसर साहब खुद लिख रहे हैं कि 'कर्मभूमि की स्त्रियां के अंत के ३ संहननों का ही उदय होना गोम्मटसार कर्मकांड की गाथा ३२ से प्रगट है क्षपक श्रेणी प्रथम संहनन वाले ही चढ़ते हैं इसलिये द्रव्यस्त्रियों के १४ गुणस्थान नहीं होते गोम्मटसार में जो स्त्री वेदी के १४ गुणस्थान बताये गये हैं वह द्रव्य से पुरुष और भाव से स्त्री वेदी का ही योनिमतीपद से ग्रहण किया गया है इस विषय में गोम्मटसार और धवल जी में कोई मतभेद नहीं द्रव्यस्त्री के आदि के ५ गुणस्थान ही होते हैं।'

(सवस्त्र मुनि) दिगम्बर आम्नायानुसार सवस्त्र सकल संयमी हो ही नहीं सकता सत्प्ररूपणा पृष्ठ ५१३-५१४ में स्त्री को सवस्त्र होने से ही संयम का निषेध किया है तब सवस्त्र मुनि कैसे हो सकता है तथा किसी भी दि० जैन ग्रन्थों में ३ उपकरण (पीछी कमंडल, पुस्तक) सिवाय तिल तुष मात्र भी परिग्रह का विधान नहीं किया। प्रोफे० सा० ने जो भगवती आराधना ग्रन्थ का प्रमाण दिया है वह ग्रन्थ जिन शिवकोटि आचार्य प्रणीत है वे तथा उसकी सबसे प्राचीन टीका (विजयोदया) के कर्ता अपराजित सूरि दोनों यापनीय संघ के थे यह संघ स्त्री-मुक्ति केवली-कवलाहारी और सवस्त्र भी मुनि मानता था

साधु प्रायः नग्न रहते थे नग्न मूर्तियां पूजते थे पाणि तल भोजी और मयूर पिच्छिका वा कमण्डलु रखते थे ये कुछ सिद्धांत श्वेताम्बरों वा कुछ दिगम्बरों के मानते थे और उनका साहित्य भी इसी तरह का है इसका अस्तित्व वि० की दूसरी शताब्दी से १८वीं तक पाया जाता है इस सम्प्रदाय का अनुयायी व्यक्ति इस समय कोई नहीं किन्तु उनका साहित्य ज्ञात अज्ञात रूप दिग० श्वे० शास्त्र भण्डारों में मौजूद है इसका विस्तृत वर्णन जैनसाहित्य और इतिहास नाम की पुस्तक (लें० नाथूराम प्रेमी) में पेज २३ विषय आराधना और उसकी टीकायें — तथा पेज ४१ (यापनीय साहित्य की खोज) पर देखिये—भगवती आराधनामें कई बातें दि० आम्नायके ग्रन्थोंके विरुद्ध पाई जाती हैं अतएव प्रामाणिक नहीं मालूम होती।

(केवली कवलाहार) क्षुधा का अनुभव वेदनीकर्म की उदीरणा में होता है उदय में नहीं—और वेदनीय की उदीरणा छठवें गुणस्थान तक ही होती है।

—भोजन करने के ३ कारण हैं (१) क्षुधा की पीड़ा का शमन (२) इच्छा की पूर्ति (३) शारीरिक शक्ति की क्षीणता की पूर्ति के हेतु।

वेदनीय की उदीरणा का छठे गुणस्थान से आगे अभाव होने से भूख नहीं — दसवें गुणस्थान के अन्त में मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से आगे इच्छा का भी अभाव है तथा अनन्तवीर्य प्रगट होने से शक्ति की क्षीणता भी नहीं फिर भोजन की आ-वश्यकता ही क्यों ? यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि बिना आहार के आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व तक शरीर की स्थिति कैसे रहती है ?

उत्तर—परमौदारिक शरीर का परिणमन घा-तिया कर्मों के क्षय के अनन्तर ही हो जाता है बादर निगोद का अभाव हो जाता है, पाप प्रकृतियां पुण्य रूप परिणमन कर उदयमें आती हैं पुण्य प्रकृतियोंमें अनन्तगुणा अनुभव बढ़ जाता है। अतः प्रति समय अभव्य राशि से अनन्तगुणी और सिद्ध राशि से अनन्तवे भाग उत्कृष्ट नोकर्म वर्गणायें आती हैं उसीसे उनके शरीर की स्थिति रहती है। ६ प्रकारके आहार में से उनके सिर्फ नोकर्म आहार ही है अतः केवली के कवलाहार आगम युक्ति अनुभव तीनों से विरुद्ध होता है। पेठा (कद्दू) अगोटा जमीकंद आदि फल बरसों तक सचित्त बने रहते हैं केवल वायु द्वारा ही उन्हें पोषक तत्व मिलता रहता है। गुण वेल काट कर निराधार खूंटी पर टांग दीजिये चाहे १ वर्ष भी हो जावे जब आसाढ़ मास प्रारम्भ होगा उसमें स्वतः पीका फूट जावेगा जब औदारिक शरीर भी वायु से पोषक तत्व ले लेता है तब परमौदारिक की बात क्या है। इस विषय का विशेष खण्डन मोक्ष मार्ग प्रकाशक में श्वेतांतर मत निराकरण में किया है वहां से जान लेना।
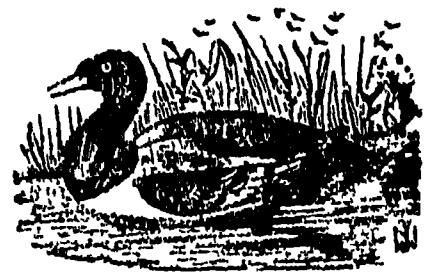
॥ ३ ॥

श्रीमती ब्रह्मचारिणी विदुषी,
पं० चन्दाबाई जी
संचालिका-जैन बाला विश्राम,
आरा का

—अभिमत—

हमारा विचार तो अबतकके स्वाध्याय करनेसे यही निश्चित है जैसा कि श्रीकुन्दकुन्दादि आचार्यों द्वारा रचित शास्त्रोंमें वर्णन है

कर्मभूमिकी स्त्रियोंके वज्रवृषभादितीनसंहनन नहीं होते कर्मकांडगोम्मटसारमें श्रीनेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती ने भी यही स्पष्ट किया है अतः स्थिरध्यान, वैसी शक्ति नग्न रहना आदि क्रियायें भी उनके नहीं बनती अतः स्त्रियों के साक्षात् मोक्ष नहीं हो सकता।

तीर्थङ्करकी माता सबसे उत्कृष्ट पुण्यशालिनीमहिला होतीहै, उनकोभी भवधारणकर मुक्ति मिलतीहै। भगवान तीर्थङ्करको पहिलीपारणा करानेवाला दातार उसी भवसे मोक्ष जाता है परन्तु माता को दूसरा भव धारण करना पडता है। तथैव पौराणिक कथानकसे लेकर कर्मसिद्धांत-ग्रन्थोंतक कहीं भी स्त्री-मुक्तिकी बात नहीं मिलती। वेदमार्गणाका कथन आगमानुसार ही लगानाचाहिये अर्थात भाववेदकीअपेक्षा कथनकरना उचित है।

महाव्रतीमुनि नग्न होते हैं। नग्न-परीषह सहना ही चाहिये। ये आर्षवाक्य हैं। अन्य इतिहासकारोंने भी नग्नत्वको आदिरूप दियाहै। नग्नमुनिराजोंकी कठिन तपस्या सह न सकनेकेकारण आगे चलकर शिथिलता बढ़ गई और मतभेद खडा होगया। यह आगम,युक्ति दोनोंसे उचित जंचती है। नग्नत्वके विषयमें प्राचीन और अर्वाचीन सभी ग्रन्थ एक स्वरमें समर्थन करते हैं, जबकि महाव्रती को वस्त्र धारण करने के लिये प्रमाण खोजने में आगम को तोड-मरोड कर अर्थ बदलना पडता है। और कहीं कहीं ग्रन्थ के कतिपय श्लोकों को भी प्रक्षिप्त बताना पडता है तब कहीं कठिनता से अभिप्राय सिद्ध होता है।

केवली भगवान के वेदनीय के अस्तित्व-मात्र से भूख-प्यास की वेदना मानना व्यर्थ है इसका निराकरण सभी दिगम्बराम्नाय के ग्रन्थों में मिलता है छपी हुई जयधवला टीका ७० पृष्ठ पर ५२वीं वृत्ति में श्री वीरसेन स्वामी ने भी कवलाहार का निषेध किया है। अन्य आचार्यों ने भी यही कहा है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में कवलाहार सिद्ध करने के

लिये कई पोच दलीलों को रखना पड़ा है, जैसे केवली के हाथमें ग्रास देने पर वह अदृश्य हो जाता है, मुख में खाते कोई नहीं देखता इत्यादि २।

वास्तव में विचार करने की बात है कि सिद्धों के समान अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुण पूर्ण-रूप से विकसित होने पर भी क्षुधा-तृषा की पीड़ा बनी रहे, यह बात अनन्त सुख की साक्षात घातक है। क्षुधा-तृषा जैसी वेदना के सद्भावमें जीवन्मुक्त अर्हंत दुःख के भागी बने रहेंगे, और पूर्ण सुखी न होंगे। अत एव इस बात को दिगम्बरियों में करार देने से मोक्ष तत्व विपरीत हो जायगा, जो कि मिथ्यात्व का चिन्ह है।

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य ने ही श्वेताम्बराम्नाय का खण्डन क्यों किया? इनसे पूर्व यह विषय क्यों नहीं उठाया गया, इसका कारण यही प्रतीत होता है कि जब मतभेद ने जोर पकड़ा और संघ-भेद हो गया, तभी कुन्दकुन्द स्वामी का ध्यान इधर गया। जिससे ग्रन्थों मे खण्डन किया गया, उनसे पूर्व में श्वेताम्बराम्नाय के सिद्धांतो का जोर ही न था, इसलिये कर्म सिद्धांत ग्रन्थों में इस विषय के प्रतिपादन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई होगी। फिर भी अबतक इन तीनों बातों का जहां-कहीं किसी प्रकार भी आगम-ग्रन्थो में कथन आ गया है, वहां सूत्रकार या टीकाकार ने स्पष्ट निषेध कर ही दिया है।

स्वयं प्रोफेसर साहब ने भी धवला टीका हिन्दी में पूर्वाम्नायानुसार ही स्पष्ट किया है जो कि प्रशस्त है। बस यहीं तक रहना उचित है। अपनी वस्तु को खोकर कौन धनी बन सकता है? हां, धनी का सेवक चाहे बन जाय।

अस्तु, सिद्धांतों को पृथक रखकर भी हम लोग मेल-मिलाप बढ़ा सकते हैं और कोमल परिणामी बनकर झगड़ोंका समूल नाश कर सकते हैं। वर्तमान युग में तो कर्म का ही युद्ध हो रहा है, धर्म को कौन पूछता है? एक क्रिश्चियन धर्म को एक तरह से मानने वाली योरोपीय जनता किस भयङ्करता से लड़ रही है। अत एव दिगम्बराम्नाय के सिद्धान्तों का श्वेताम्बरीय सिद्धांतों से एकीकरण करना किसी दृष्टि से भी उपादेय नहीं है।
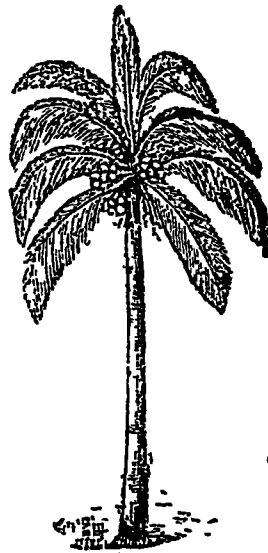
श्रीमान् पूज्य क्षुल्लक सूरिसिंह जी,

महाराज ।

उदगांव, (कोल्हापुर)
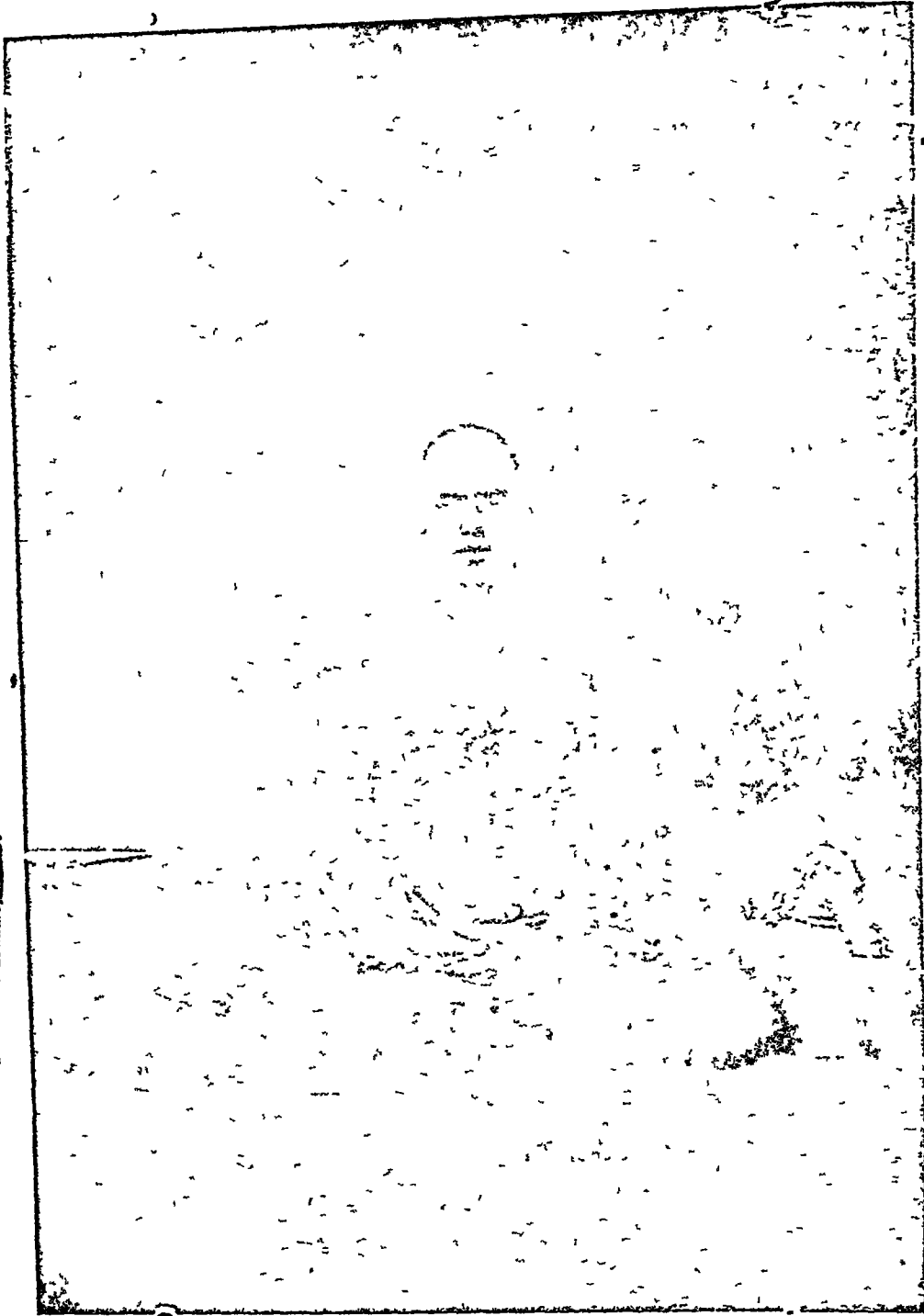
क्षुल्लकदीक्षासमाचरित आत्मवृत्तिः न्यायव्याकरणसाहित्यकाव्य-
सिद्धांतआचारशास्त्रपारगामी सुवक्ता
कन्नडमहाराष्ट्रहिन्दीभाषाभाषी तेजस्वी
पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक सूरिसिंहजी महाराज.

द्रव्यनपुंसक का अस्तित्व और —माणुसिणी का अर्थ—

हमारे पूर्वाचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। सिद्धान्त ग्रन्थ श्री षट्खण्डागम की रचना आचार्य प्रवर सिद्धांत—शास्त्र—प्रवर्तक भूतबली पुष्पदन्ताचार्यों ने की है तदनुसार आज तक ग्रंथ बनाने की परिपाटी चलती आ रही है।

'उस मूलभूत श्री षटखंडागम ग्रन्थ में द्रव्यस्त्रियों का तथा द्रव्यनपुंसक का कोई वर्णन या खुलासा रूप सूत्रों की रचना में नहीं किया है सब भाव ही भाव का विचार किया है।' इस प्रकार कथन करने वाले यहां तक कहते जा रहे हैं कि 'श्री षटखण्डागम में द्रव्य पुरुष का भी कथन करने वाला सूत्र नहीं है। सब भावका ही कथन है' ऐसा अपना पक्ष सिद्ध करने तयार हो रहे हैं। तथा कोई द्रव्यनपुंसक का खास वर्णन (कथन) करने वाले किसी सूत्र के न होने पर इस परिणाम पर पहुंचे हुये हैं कि जगत में द्रव्य-—नपुंसक लिंग को धारण करने वाला कोई भी नहीं है जिस से कि विषम वेद की अपेक्षा से ६ भङ्ग वेद के हो जांय तथा नपुंसकलिंग वाले का अस्तित्व कोई शरीरधारीमें नहीं है केवल द्रव्यपुरुष या द्रव्यस्त्री इन के विकारभूत नपुंसक है इस प्रकार अनेक कपोल कल्पित कल्पना कर रहे हैं।

तथा कोई लिखते हैं कि षटखण्डागम में द्रव्य-स्त्रियों का भी कथन करने वाला सूत्र न होने पर ग्रन्थ की रचना अपूर्ण है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने ही द्रव्यस्त्री और भावस्त्री का भेद करके द्रव्यस्त्रीमोक्ष का निषेध कर के दिगम्बर मतकी स्थापना की है। जिस से दिगम्बर आम्नाय को सादि सिद्ध करके अनादिता के ऊपर पानी फेरा है। इन सब बातों का विचार अच्छी तरह से निष्पक्षरूप से होने में कोई भी दोष नहीं आता, न ही ग्रंथकी उत्पत्ति अपूर्ण रहती है तथा द्रव्यस्त्रियों के मोक्ष का निषेध आचार्य कुन्दकुन्द ने ही किया है, दिगम्बर मत सादि है, द्रव्यनपुंसक का शरीर द्रव्यपुरुष और द्रव्यस्त्री शरीरसे अलग नहीं है। इत्यादि कपोल कल्पनाओं का नाश होकर ग्रन्थ की निर्दोषता सिद्ध होती है। लेकिन हठवाद छोड़ेंगे तब ही यह होगा। अन्यथा पक्ष उपस्थित हो कर तीसरा एक पंथ चलेगा। इसमें कोई संदेह नहीं। यदि निष्पक्षता से विचार हो जाय और ग्रन्थ का मनन हो जाय तो कोई दोष नहीं होगा।

विद्वान समाज के सामने विचार करनेके लिये मैं यह लेख लिख रहा हूं। इसको देखकर समाज सत्यासत्य का निर्णय करेगी।

किसी भी ग्रन्थकार को ग्रन्थ की रचना करते

समय अनेक विषयो का ख्याल करके ग्रन्थ की रचना करनी पड़ती है। रचना के समय अनेकत्र एक ही शब्द को अनेक अर्थ मे प्रवृत्त करना पड़ता है यह प्रकरणवश करना पडता है। यह बात सूर्य प्रकाश के समान स्पष्ट है।

आज कल 'मानुषी' शब्द का अर्थ करने मे समाज में बहुत विवाद उपस्थित हो गया है। 'मानुषी' शब्द का अर्थ कोई विद्वान द्रव्यस्त्री भावस्त्री और द्रव्यनपुंसक इस प्रकार कर रहे हैं। कोई २ विद्वान भावस्त्री ही सर्वत्र अर्थ लेना चाहिये ऐसा एकान्त हठ पकड़े हुए हैं।

एकान्त रूप से अर्थ करते समय हमारे कुछ विद्वान, श्री गोम्मटसार के टीकाकार ने 'मानुषी' शब्द का अर्थ 'द्रव्यस्त्री' किया है इस पर भी आक्षेप करके 'टीकाकार ने भूल की है' ऐसा लिखने का भी साहस कर रहे हैं तो द्रव्यनपुंसक अर्थ करने पर वे क्या कहने का साहस करेंगे और उनका कषाय पारद कहां तक चढेगा यह मैं नहीं जानता हू सिर्फ भगवान ही जाने। खैर! जो कुछ भी हो हमारा निज भाव व्यक्त करनेमे कोई हानि नहीं है कदाचित् निष्पक्षता की ठंडी हवा से पारा उतर भी जायगा इसमे कोई संदेह नहीं है क्योकि हम किसी तरह का हठ पकड़े नहीं हैं।

श्री षट्खण्डागम भाग १ सूत्र नं० ९२—९३ का प्रकरण खास करके द्रव्यस्त्रियो के ही विषय का कथन करने वाला है यह भली भाति सिद्ध होता है। क्योकि वहां के प्रकरण से तथा कथन शैली से और टीकाकार की वृत्ति शैली से ऐसा ही सिद्ध होना है इसका मुझे विश्वास है।

हमारे अभिमत के विरुद्ध विषय सिद्ध करने के लिये एक युक्ति यह दे सकते हैं कि 'ताडपत्र प्रति में ९३वे सूत्र मे 'संजद' शब्द है जो कि आपके कथन पर पानी फेरता है।'

इस पर मेरा यह उत्तर है कि जिस ताड़ पत्र की प्रति में यह 'संजद' पद है वह ताड़ पत्र प्रति शुद्ध ही है इसमें क्या प्रमाण है, उसमे अशुद्धियां बहुत है जो कि लेखक का हस्तदोष है देखिये इस सूत्र में 'संजद' न होकर 'संजदासंजदट्ठ सजदट्ठाणे' पद है। क्या यह हस्तदोष नहीं है अवश्य है यह हमारे कथन को पुष्ट करने वाला हेतु है। क्योकि ताड़ पत्र में लेखक ने लिखते समय विचार नहीं किया है कि मैं क्या लिख रहा हू। यदि विचार करता तो 'संजदा-संजदट्ठ संजदट्ठाणे' यह कभी भी नहीं लिख सकता था।

तीसरा हेतु जब कागज की प्रति जो कनड़ी में है या नागरीलिपि में है उनमें क्यो यह पद नहीं आया? यह हमारी बात बहुत विचारणीय है इस पर जो उत्तर मिलेगा सो उत्तर आपके हेतु का भी निराकरण करेगा।

लेखक के हस्तदोष को दूर न करके अपने सिद्धान्त का घात करना क्या बुद्धिमानी होगी? क्या आचार्यों को दोष देना बुद्धिमानी होगी? क्या निर्दोष आम्नाय का घात करना भी बुद्धिमानी होगी?

इसलिये प्रकरण वश अर्थ करने में कोई बाधा नहीं है। सर्वत्र एक ही अर्थ करना ठीक नहीं माणुसी शब्द का अर्थ कहीं पर द्रव्यस्त्री करना और कहीं पर भावस्त्री करना ठीक होता है।

यथा 'अज' शब्द है इस शब्द का अर्थ कोई 'परमात्मा' करते हैं, कोई न उत्पन्न होनेवाले 'धान' करते हैं, और कोई 'बकरा' करते हैं श्री शुभ चन्द्रा-

चार्य ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में "अजं-नोमि" यह पद रखा है इसका अर्थ परमात्मा के सिवाय 'बकरा' या 'सप्त या तीन वर्ष के धान' भी अर्थ किया जावे तो महा अनर्थ हो जायगा। इस लिये प्रकरण वश अनेक तरह के अर्थ करना ठीक है। एक अर्थ के पक्ष के हठ में ही अनेक पंथ हो गये हैं। देखिये जैनियों में भी श्वेताम्बर, गोपुच्छक, द्राविड़, यापनीय, आदि मतमतान्तर होने के लिये कारण एक हठवाद ही है।

'माणसी' शब्द का अर्थ 'द्रव्यस्त्री' या 'भावस्त्री' कर सकोगे तो ठीक है। लेकिन द्रव्यनपुंसक कैसे करोगे ऐसी एक जबरदस्त शंका खड़ी हो सकती है। उस पर साधक बाधक रूप से विचार करेंगे।

द्रव्यस्त्री का वेष और द्रव्यनपुंसक का वेष तो एक ही होता है यह भली भान्ति सिद्ध है। वेष दो ही हैं। वह भी आज प्रत्यक्ष देखने में आते हैं एक पुरुष का वेष, दूसरा स्त्रियों का वेष। स्त्री वेष में साड़ी आदि रहेगी और पुरुष वेष में धोती दुपट्टा टोपी आदि रहेंगे।

और हिजड़े जो आजकल देखने में आते हैं उनमें यह उभय लिङ्ग रहित लक्षण घटित नहीं होता है। क्योंकि बाह्य चिन्ह पुरुष के उनमें मौजूद हैं जैसे कि मूंछ, दाढ़ी, स्तनरहितता, अण्डकोष, सिस्न इत्यादि पुरुष चिन्ह मौजूद हैं। इसलिये उनको द्रव्यनपुंसक नहीं कह सकते। क्योंकि पुरुष का चिन्ह मूंछ दाढ़ी अण्डकोष सिस्न आदि है। वे चिन्ह द्रव्यस्त्रियों में नहीं हैं। द्रव्यस्त्रियों में मूंछ रहितता, दाढ़ी रहितता, स्तनदुग्धसहित, रजकोष, योनि, गर्भाशय, इत्यादि बाह्य द्रव्य चिन्ह हैं तथापि इन दोनों में महान भेद करने वाले दो चिन्ह नहीं हैं। अण्डकोष और सिस्न क्योंकि, वीर्योत्पादक शक्ति बिना अण्डकोष के नहीं हो सकती पुरुष में अण्डकोष और सिस्न ये दोनों मुख्य चिन्ह होते हैं और द्रव्यस्त्रियों में रजकोष और योनि ये दोनों मुख्य चिन्ह हैं। रजकोष के बिना मासिक धर्म नहीं हो सकता है।

अब द्रव्यनपुंसक के विषय में विचार कीजिये, द्रव्यनपुंसक को पुरुष चिन्ह अण्डकोष और सिस्न तथा द्रव्यस्त्रियों का चिन्ह योनि और रजकोष गर्भाशय ऐसे दोनों प्रकार के चिन्ह नहीं होते द्रव्य-नपुंसक को और दूसरे चिन्ह मूंछ रहितता, दाढ़ी-रहितता, स्तन पीवर तथा दुग्ध सहितता आदि भी नहीं होते। अर्थात् पुरुषों की मूंछ दाढ़ी और स्त्रियों के दुग्ध सहित या पीवर स्तन इन दोनों के चिन्ह नहीं होते हैं। इस प्रकार के द्रव्य नपुंसक भारत में हैं लेकिन विरले हैं।

में नहीं आया था। क्योंकि उसका वेष स्त्रियों के समान था। शिर पर बाल मांग सहित, साड़ी, चोली पहिनना, मूंछादि रहित ऐसे बाहिर चिन्ह द्रव्यस्त्रियों के समान ही उसके थे। जब गर्भादान संस्कार का आया तब योनि द्वार न होने से मालूम हुवा कि इस स्त्री को कोई विकार है।

इस विचार से उसने कोल्हापुर में स्त्रियों के अस्पताल में उसको भेजा उस दवाखाने की सब व्यवस्था करने वाली डा० कृष्णाबाई बहुत निपुण हैं सब स्त्रियों के रोगों का इलाज हर प्रकार से वहां पर करती हैं आपरेशनादि से स्त्रियों के जितने रोग हैं तथा प्रसूतिका आदि सब रोगों का इलाज वहांपर करती हैं। जबकि डा० कृष्णाबाई ने अच्छी तरह से निदान किया तो उनको मालूम हुवा, 'यह स्त्री नहीं है' यह नपुंसक है। न इसको योनि है, और न औप्रेशन के बाद योनि हो सकती है। इस प्रकार जानकर उसके पति को तथा और सज्जन लोगों को बुला कर यह सब कह दिया तथा साथ में यह भी कहा कि इसे पुरुष समझ कर इसका पालन करो, इसको छोड़ना नहीं। इस प्रकार वचन-बद्ध करके घर को भेज दिया, तब से यह बात पब्लिक में मालूम हुई है। इस प्रकार द्रव्यनपुंसक का कथन है अब द्रव्यनपुंसक वाली स्त्री बहिरङ्ग चिन्हों से तथा उसके मासिक धर्म न होने से तथा उसकी तबीयत भाव आदि देखने से शुद्ध द्रव्यनपुंसक है ऐसा प्रतीत होता है। इसी तरह अन्य स्थानो पर भी है।

इस द्रव्यनपुंसक वाली स्त्री को स्त्री शब्द से पुकारते हैं व्यवहार में स्त्री ही कहते है ऐसी जन रूढ़ि है। इस रूढ़ि से विचार किया जाय तो मानुषी शब्द का अर्थ द्रव्यनपुंसक भी कर सकते हैं क्योंकि उसके लिये स्त्री शब्द का ही प्रयोग होगा। तथा वेष भी द्रव्यस्त्री जैसा होने से स्त्री शब्द से ही कहेंगे।

इसी प्रकार मराठी में श्री हीराचन्द अमोलिकचन्द ने रामायण ग्रन्थ की रचना की है। उसमें भी द्रव्यनपुंसकों का कथन 'षंढा' शब्द से करके आगे उसे 'बाई' शब्द से पुकारा है। यह प्रकरण श्री महा सती सीतादेवी के स्वयम्बर के प्रकरण में है। सो वाचकवर्ग वहां पर देखें।

इस प्रकरण से साफ सिद्ध होता है कि द्रव्य— नपुंसक को स्त्री शब्द से कहने की प्रथा है। प्राचीन राजाओं के रणवासों में भी इन द्रव्यस्त्रियों को रखने की प्रथा थी। ऐसा संस्कृत काव्य ग्रन्थों में जगह २ वर्णन मिलता है।

श्री षट्खण्डागम भाग नं० १ सूत्र न० ९२-९३ का प्रकरण द्रव्यस्त्रियों का मानने पर द्रव्यनपुंसक को भी उसी सूत्र मे अन्तर्भूत कर सकते हैं क्योंकि द्रव्य और भाव से द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक मे पांच गुणस्थानों की अपेक्षा समानता है कोई अंतर नहीं है। इस प्रकार मानने में कोई दोष भी नहीं आता है।

यदि हठाग्रहवश सूत्र ९२-९३का प्रकरण भावस्त्री का मानोगे तो अनेक दोष आते हैं। जैसे ग्रन्थ की अपूर्णता (द्रव्यस्त्री नपुंसक का कथन न होना) कुन्द-कुन्दाचार्य से दिगम्बराम्नाय स्थापित होना एवं इन्हीं के मत मे द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति का निषेध होना, वेद की विषमता में ९ भंगों का न होना, द्रव्यनपुंसक का अस्तित्व जग में न होना इत्यादि दोष आते हैं।

इसलिये ९२-९३ सूत्रों का प्रकरण भाव न होकर द्रव्य का ही सिद्ध होना है जब उस प्रकरण से द्रव्य-

स्त्रियों का प्रकरण सिद्ध होता है तो उस सूत्र में 'सजद' शब्द को देखकर द्रव्यस्त्रियों के १४ गुणस्थान की सिद्धि होती है जो कि आगम और आम्नाय से विरुद्ध है। इस दोष को दूर करने के लिये यदि फिर भी भावस्त्री का प्रकरण समझोगे तो अपर्याप्त भाव स्त्री को तीन गुणस्थान श्री वीरसेन स्वामी ने माने हैं सूत्रमें अपर्याप्त भावस्त्री के मिथ्यात्व और सासादन दो ही गुणस्थानों का उल्लेख है। सयोग केवली का उल्लेख सूत्रकार ने क्यों नहीं किया ? इस प्रकार एक जबरदस्त प्रश्न खड़ा हो सकता है।

"लेखक के हस्तदोष से 'संयोग केवलपद' सूत्र में लिखते समय छुट गया है" ऐसा माननेपर नं ६३ सूत्र में 'णियमा पज्जत्तियाओ' पद है इसमें 'नियम' शब्द निरर्थक ठहरता है।

इस कारण विचार करने से मूल लेखक के हस्तदोष से 'सयोग केवली' पद नहीं छूटा है यह सिद्ध होता है। इसलिये भावस्त्री का प्रकरण सिद्ध नहीं होता है।

तथा दूसरी एक शका खड़ी होती है। कि यदि भावस्त्री का प्रकरण माना जाय तो भावनपुंसकों का अन्तर्भाव किस सूत्र में करोगे। क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वतन्त्र सूत्र नहीं लिखा।

यदि कहोगे कि भाव नपुंसकों का अन्तर्भाव द्रव्यपुरुषों के कथन करने वाले सूत्र ८९-९० में करेंगे तो भी बड़ा भारी यह दोष उपस्थित होता है कि भावनपुंसक के भी अपर्याप्त अवस्था में असंजद सम्यक्त्व नाम चौथा गुणस्थान होता है यह सिद्ध होगा तथा अपर्याप्त भावनपुंसक को सयोग केवली पद का भी अभाव सिद्ध हो सकेगा।

इस लिये विचार शील सज्जनो ! विचार करो ! एक भाव स्त्री का प्रकरण मान कर नं० ९३ सूत्र में 'संजद' शब्द रखने से क्या हानि होती है। लेखक के हस्तदोष से कई दोष टलते हैं लेकिन इस हस्तदोष को दोष न समझ कर सत्य समझ कर जैन धर्म पर कितना कुठाराघात कर रहे हो यह आप ही विचार करें।

वाचकवर्ग ! थोड़ा विचार करो कि मानुषणी शब्द का अर्थ सर्वत्र भावस्त्री मानने पर द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसकका कथन न होनेसे ग्रन्थ अपूर्ण रह जाता है तथा भाव नपुंसक को अपर्याप्त अवस्था में भी सम्यक्त्व रहता है यह जैन सिद्धांत से विरुद्ध हो जाता है। यदि विवक्षावाले भावनपुंसक को अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व रहता है अर्थात भावनपुंसक जीव सम्यक्त्व सहित मरता है और विग्रह गति में सम्यक्त्वी रह कर फिर भाव नपुंसक होते समय में भावनपुंसक अपर्याप्त काल में सम्यक्त्वी सिद्ध करने में सिद्ध नहीं होंगे।

सर्वत्र माणुसिणी का अर्थ भाव स्त्री करोगे तो एकांत हठवाद भी आपके माथे पर बैठेगा, एकान्त हठवाद मिथ्यात्व रूप है। तथा वेद साम्यता का कथन भी इस ग्रन्थ में न होने से ग्रन्थ की अपूर्णता सिद्ध होगी। क्योंकि वेद साम्यता में भाव से और द्रव्य से उतने ही गुणस्थान होते हैं, विषमवेद से ही गुणस्थानों में तारतम्य आता है। इस लिये सर्वत्र भावस्त्रियों का कथन करने पर द्रव्यस्त्रियों की संख्या का अभाव होगा जो सर्वत्र अनिष्ट है। क्योंकि माणुसिणी की संख्या बताते समय कभी द्रव्यस्त्रियों की भी संख्या बतायी है।

तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं।

यह जो गोम्मटसार जीवकांड की गाथा १६६ के

वृत्ति मे द्रव्यस्त्रियो की संख्या कही है ऐसा साफ है। उसको अप्रामाणिक कहने के लिये खुद्दा बंध के सूत्र नं० २८-२६ देखेंगे तो इसमें विरोध नहीं आ सकता क्योंकि, कथन शैली भी दो तरह की होती है। कभी द्रव्यापेक्षासे, कभी भावापेक्षासे ?

द्रव्य स्त्री का प्रमाण द्रव्य पुरुष से तिगुणा होता है। और कभी भावस्त्री की अपेक्षा से कथन करते समय कम अधिक भी होंगे ऐसे सख्या मे अन्तर होने का कारण कथन शैली है। द्रव्यस्त्री का या द्रव्य की अपेक्षा से कथन करते समय खुद्दा बंध में बराबर कथन है देखिये—पेज नं० ५७६ सूत्र न० २-३-४।

सव्वत्थोवा मणुसपज्जत्तागब्भोवक्कतिया। वृत्ति-गब्भजामणुस्सा पज्जत्ता उवरि वुच्चमानसव्वरासी-ओ पेक्खिदूण थोवा होंति। कुदो विस्ससादो। एदे केत्तिया गब्भोवक्कंतिया? मणुस्साण चदुब्भागो २

अर्थ-गर्भज मनुष्य पर्याप्त गर्भोपक्रांतिक सबसे स्तोक हैं। २॥ गर्भज मनुष्य पर्याप्त आगे कही जाने वाली सब राशियो की अपेक्षा स्तोक हैं। क्योकि ऐसा स्वभाव है।

शंका—ये गर्भोपपक्रांतिक कितने है ?

उत्तर—मनुष्यों के चतुर्थ भाग प्रमाण हैं।

सूत्र—मणुसिणीओ संखेज्जगुणाओ ।३।

वृत्ति—को गुणगारो ? तिण्णि रूवाणि। कुदो ? मणुस्सगब्भोवक्कंतिय चदुब्भागेण पज्जत्तदव्वेण तम्मेव तिसु चदुब्भागेसु ओसट्टिदेसु तिण्णि रूप्प वलंभादो।

अर्थ—पर्याप्त मनुष्यों से मनुष्यिनीयां (स्त्रियां) संख्यात गुणी है ॥३॥

गुणाकार कितना है ? गुणाकार तीन रूप है। क्योंकि, मनुष्य गर्भोपक्रांतिको के चतुर्थ भाग प्रमाण पर्याप्त द्रव्य से उसके ही तीन चतुर्थ भागों का अपवर्तन करने पर तीन रूप उपलब्ध होते हैं।

सव्वट्ठसिद्धिविमानवासियदेवा संखेज्जगुणा ४

वृत्ति—को गुणगारो ? संखेज्ज समया। केवि आयरिया सत्त रूवाणि केवि पुण चत्तारि रूवाणि केवि सामण्णेण संखेज्जाणि रूवाणि गुणगारोवि भणंति। तेणेत्थ गुणगारो तिण्णि उपयेसो। तिण्णं मज्झे एक्को चिय जह्णोयएसो सोवि ण णव्वइ। विसिट्ठोवएसाभावादो। तम्हा तिण्ह पि संगहो कायव्वो ॥४॥

अर्थ—मनुसिनियो (स्त्रियो) से सर्वार्थ सिद्धि विमान वासी देव संख्यात गुणे है।

वृत्ति अर्थ—गुणाकार क्या है ? सख्यात समय गुणाकार है। कोई आचार्य सात रूप, कोई आचार्य चार रूप और कितने ही आचार्य सामान्य से संख्यात रूप गुणाकार है ऐसा कहते है। इस लिये यहां गुणाकार के विषय में तीन उपदेश है। तीनो में से एक ही श्रेष्ठ है। परन्तु यह जाना नहीं जाता क्योंकि इस विषय मे विशिष्ट उपदेश का अभाव है। इस कारण तीनों का ही संग्रह करना चाहिये ।४।

वाचकवर्ग ! अब विचार कीजियेगा। क्षुद्र बंध मे भी द्रव्यस्त्री और द्रव्यपुरुष पर्याप्तो का ही वर्णन है। सूत्रमें गर्भोपक्रांतिक शब्द उसको ही प्रकटित करता है। तथा गोम्मटसार में भी सर्वार्थसिद्धि देवो का प्रमाण भी इसी तरह, तिगुणा सत्तगुणा वा इत्यादि गाथा से किया है और उसमे भी भिन्न २ आचार्यो के कथन शैली से तीन शैली हो गई है उन तीनो का संग्रह करना श्रेयस्कर है। तथा उसी प्रकार क्षुद्र बधक के २७-२८ सूत्रो में भी कोई कोई

व्याख्यान आचार्यों मे अंतर पड़ता है ऐसा कथन स्वयं आचार्यों ने किया है। वह कथन शैली से ही फरक पड़ता है। इस लिये किसी भी व्याख्यान में दोष नहीं देना, तीनों संग्रह करना ऐसा कहा है।

विशेष इतना है कि, द्रव्य की अपेक्षा के समय में माणुसी शब्द से द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुंसक का ग्रहण होता है। और भाव की अपेक्षा से कथन करते समय माणुसी से भावस्त्री और पर्याप्त पुरुष से भाव पुरुष, भाव नपुंसक ग्रहण होता है। ऐसे विधान भी पाये जाते हैं। इस शैली से कथन करनेमें संख्या में कुछ फरक पड़ता है। कभी तीनों के अलग २ कथन करने पर भी एक शैली और भी भिन्न होती है। इसलिये संख्या में कुछ फरक पड़ेगा ही। इस लिये ऐसी तीन उपदेश शैलियां होती हैं। इस प्रकार मान लेने पर कोई विरोध नहीं है भिन्न भिन्न कथन करने का विधान जैनियों में मुख्य रूप से है भी। इस लिये गोम्मटसार की गाथा में माणुसी का अर्थ द्रव्यस्त्री करना, षट्खण्डागम से विरुद्ध नहीं पड़ता।

और भी एक कथनशैली आप लोगों के दृष्टिपथ में लाता हूं। उस पर भी विचार करो। उसी अल्पा-बहुगाणुममे में —सूत्र नं० ८-९ में देखिये।

सव्वत्थोवा मणुसिणिओ ॥८॥ सूत्र

मणुस्मा सख्येजागुणा ॥९॥ सूत्र

इन दोनों सूत्रो से भी एक शैली सिद्ध होती है, वह हमारी बुद्धि के बाहिर है। लेकिन विरोध तो नहीं है। इसलिये परस्पर विरुद्ध नहीं है,। इन सब शैलियों से यह सिद्ध होता है कि, 'माणुसिणी' शब्द का सर्वत्र एक ही भावस्त्री लेना और एकांत हठवाद में पड़कर आचार्यों का अवर्णवाद करना बुद्धिमानों केलिये शोभनीय नहीं है। इसलिये प्रकरण अनुसार अर्थ करना बुद्धिमानी है। सर्वत्र एक भाव या द्रव्य, का अर्थ करना भी जैन सिद्धांत के अर्थाम्नाय से विरुद्ध है।

इसी प्रकार प्रोफे० हीरालाल जी भी माणुसिणी शब्द का अर्थ सर्वत्र द्रव्यस्त्री का करते आ रहे हैं वह भी दोषी है। भा० नं० १ सू० नं० ९२-९३ में खास-कर द्रव्यस्त्रियों का प्रकरण है। वहां पर द्रव्यस्त्री का अर्थ कर सूत्र में जो लेखक के हस्तदोष से 'संजद' शब्द पड़ा है वह हस्तदोष मानकर निकालना ठीक है और माणुसिणी का द्रव्यस्त्री अर्थ कर द्रव्यनपुंसकों को उसी में अन्तर्भूत करना श्रेयस्कर है। उसमे कोई प्रकार की भी त्रुटि नहीं रहती तथा ग्रन्थ मे भी कोई दोष नहीं रहता। इसी ९३ सूत्र की वृत्ति में श्री टीकाकार वीरसेन स्वामी जी ने "सवासस्त्वात्—अप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः" इसमें सवस्त्रपना और अप्रत्याख्यान गुणस्थान हेतु से द्रव्यस्त्री और द्रव्यनपुंसक को संयमपना नहीं होना सिद्ध किया है। क्योंकि बहिरङ्ग वस्त्रत्याग हेतु दोनो को है। दोनों को वस्त्र नहीं छूटता या दोनों ही वस्त्र को त्याग कर निर्ग्रन्थ नहीं होते। तथा अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों हेतु (द्रव्यस्त्री नपुंसको) को बराबर लागू हो जाता है। इस एक ही बहिरङ्ग हेतु से दोनों को असंयम सिद्ध किया है।

श्रीधवला की पुस्तक नं० ७ की प्रस्तावना में प्रो० हीरालाल जी ने दो हेतु दिये हैं और उन हेतुओं से द्रव्यस्त्रियो को १४ गुणस्थान सिद्ध करना चाहे हैं। उनके हेतु निम्न प्रकार है।

"धवला के सब ग्रन्थो में मणुसिणी के १४ गुणस्थान कहे है। तो १४ गुणस्थानों का सत्व बतलानेवाले सूत्र प्र० था० सू० ९३ में ही हैं अन्यथा

उसके सत्व की सिद्धि करने वाले सूत्र न होने से ग्रंथ में भारी विषमता होगी।"

इस पर स्पष्ट रूप से विचार करनेसे यह विश्वास होता है कि मनुसिणी के गुणस्थान बतलाने वाले सूत्र भी मौजूद हैं और यह ९३वें सूत्र का प्रकरण द्रव्यस्त्रियो के लिये क्यों है? उसका खुलासा किया है। इस लिये यहां पर फिर २ नहीं करेंगे। किंचिन्मात्र कथन करेंगे। श्री षट्खण्डागम के कर्ताओं ने प्रथम द्रव्यस्त्री का कथन करके फिर भाव स्त्री के कथन रूप १४ गुणस्थानों की सत्ता उसी भाग के १६२ से १६५ तक के सूत्रों मे की है।

यदि ९३ सूत्रमे १४ गुणस्थानो का सत्व दिखाना ग्रन्थकारों को इष्ट होता तो फिर १६२-१६५ सूत्र मे १४ गुणस्थानों का कथन करने की जरूरत नहीं थी क्योंकि नं० १६२ में १४ गुणस्थानो का कथन करना पुनरुक्त होगा तथा नं० १६४ में चौदह गुणस्थान तथा तीनो सम्यक्त्व का कथन करके मणुसिणी के कथन मे 'एवं मणुस्स-पज्जत्त-मणुसिणीसु", यह देकर साम्यता प्रगट की है। और मणुसिणी के १४ गुणस्थानो का सत्व प्रतिपादन किया है अन्यथा इस प्रकरण में १४ गुणस्थानो का कथन क्यों करते? पूर्व ९३ सूत्र में १४ गुणस्थानो का सत्व नहीं बतलाया था। वहां पर द्रव्यस्त्री का प्रकरण न मान कर यदि पांच गुणस्थानो का प्रकरण सिद्ध करने का हेतु नहीं होता तो १६२ से १६५ तक के सूत्र में १४ गुणस्थानों का कथन नहीं हो सकता था। यदि करते तो पुनरुक्तदोष भी बड़ा भारी आ सकता था इसलिये यह समझना चाहिये कि नं० ९३ सूत्र में पांच गुणस्थानो का ही कथन है। मणुसिणी शब्द के पीछे पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण नं० ९२-९३ सूत्र में क्यो दिया? तथा १६५ में पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण क्यो नहीं दिया इस पर आपने कभी निष्पक्षपातसे विचार किया है? तथा नं० ९३ सूत्र में द्रव्यस्त्रियो का कथन न होता तो पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण क्यो लगाये हैं।

तथा श्री षट्खण्डागमकार ने नं० ९३ सूत्र को छोड़कर कहीं पर १४ गुणस्थान कथन करते समय मणुसिणी को पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण लगाये हों तो वह प्रमाण रूप में दिखाइयेगा। तथा यदि नं ९३ सूत्र मे 'संजद' रखना जरूरी होता तो फिर लम्बे चौड़े दो सूत्रों की जरूरत भी क्यो होती जिस तरह न० ९१ सूत्र में 'एवं मणुस्सपज्जत्ता' सूत्र या उसके आगे 'मणुसिणीसु' इतना पद लगाते तो ठीक होता। लेकिन उस प्रकार न करने से यह मालूम होता है कि उन सूत्रों से कुछ फरक जरूरी था इसलिये दो सूत्रो की रचना करनी पडी। वह फरक द्रव्यस्त्रियो को संजम होना नहीं था इसलिये नं० ९३ सूत्रमें 'संजद' शब्द रखने से दिगम्बर आम्नाय पर बड़ी भारी आपत्ति पड़ती है। आप लोग दिगम्बर आम्नाय का मूलोच्छेद करना चाहते है तो उसका नतीजा भी क्या होगा? इसका विचार करो। क्या श्री कुन्दकुन्दाचार्य के सामने श्री षट्खण्डागम नहीं था, क्या उन्हो ने पढ़ा नहीं होगा, या उस समय भी सयम शब्द उनको नहीं दीखा था? जोकि द्रव्यस्त्री को सयम होता नहीं, पांच ही गुणस्थान होते है, ऐसा उन्हों ने विधान किया। वह विधान ही साफ बतलाता है कि श्री षट्खण्डागम की प्रति मे 'सयत' नहीं था। श्री कुन्दकुन्दाचार्य गुरु आम्नाय को मानने वाले थे। वे गुरु आज्ञा शिरोधार्य करते थे। उन्हो ने ग्रन्थ मे कई जगह गुरुओं को नमस्कार भी किया है। फिर आप उन्हें झगड़ालू कह कर द्रव्य स्त्रियो को चोदह

गुणस्थान सिद्ध करने का प्रयत्न क्यों करते हैं ?

दूसरी बात एक यह है कि धवला के ७ भाग की प्रस्तावना में यह बताया है कि "पट्खण्डागम जीवट्टाण सत्प्ररूपणा" के सूत्र ६३ का जो पाठ उपलब्ध प्रति में पाया गया था उसमें संयत पद नहीं था। किन्तु उसका सम्पादन करते समय सम्पादकों को यह प्रतीत हुआ कि वहां संजद पद होना अवश्य चाहिये, इसलिये फुटनोट में सूचित किया।

यदि वहां पर संयत पद की खोज आपने की तो यह आपको प्रशंसात्मक है, यह थोड़ी देर तक मान लेते हैं। लेकिन आपने उस नं० ६३ सूत्र की व्याख्या करते समय कितना अनर्थ करके दिगम्बर सिद्धांत के मूल का नाश करने का दुःसाहस किया है, वह अर्थ आपको सूझा है या नहीं ? आपने सम्पूर्ण दिगम्बर आम्नाय पर पानी फेरा है। नं० ६२ सूत्र में साफ तौर से स्त्रियों को अपर्याप्तक अवस्था में सम्यक्त्व होने का निषेध होने पर भी ६३ सूत्र की टीका का अर्थ करते समय आपने "सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रियों में उत्पन्न होते हैं" यह लिखा है—जो कि समन्तभद्र ने भी साफ तौर से निषेध किया है। श्री पट्खण्डागमकार ने ही खुद जिसका निषेध किया है, उसका कथन और उसका विधान करने में आप अग्रसर हो गये यह आपको शोभनीय है क्या ? उस समय संपादन में ऐसी गलती क्यों हुई ? तथा अभी भी जो ६३ सूत्र में संजद पद की सिद्धि करने में कटिबद्ध हो गये हैं वह भी शोभनीय बात है क्या ?

यदि आपकी हिन्दी टीका के अनुसार देखा जाय तो नं० ६२ और ६३ सूत्रों की रचना निरर्थक ठहरती है। द्रव्यपुरुष के समान द्रव्यस्त्री को भी १४ गुणस्थानों की प्राप्ति होने की मान्यता होती तो ६२-६३ सूत्रों की रचना क्यों हुई ? यह जबरदस्त शंका खड़ी होती है। उसका उत्तर पहिले सयुक्तिक सप्रमाण दीजियेगा।

प्रोफेसर हीरालाल जी ने अपनी प्रस्तावना में बड़ा भारी जोर दिखाने के समय में द्रव्यानुयोग में मणुसिणी के १४ गुणस्थानों की सत्ता दिखाने की प्रबल शंका की है। इस पर हमारा उत्तर यह है कि मणुसिणी के १४ गुणस्थानों की सत्ता दिखाने के सूत्र भा० नं० १ सूत्र नं० १६४-१६५ हैं, यह अच्छी तरह से जानो। इन सूत्रों में से १४ गुणस्थान की सिद्धि नहीं हुई तो शंका क्या है सो लिखियेगा उसका भी उत्तर सयुक्तिक दिया जायगा।

अब हम वाचकवर्ग के सामने और एक विषय रखते हैं, जो सयुक्तिक है या नहीं यह देखना जरूरी है। नं० ६३ सूत्र की वृत्ति में जो पंक्ति है।

"अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येत। इति चेत न, सवासस्त्वात् अप्रत्याख्यान गुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः।"

इस पंक्ति पर विचार करने से यही सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ में कहीं पर भी द्रव्यस्त्रियों का कथन होना जरूरी है। सर्वथा भावस्त्री का ही कथन ग्रंथमें है, ऐसा मानने वालों का मत उपरोक्त पंक्ति से खण्डित होता है। तथा निर्वृत्तिः शब्द का अर्थ मोक्ष ऐसा किस कोष के आधार से सम्पादकों ने किया है, वह वे ही जानें। यदि उनके पास कोई प्रमाण हो तो जनता के सामने रखना चाहिये।

किन्हीं २ लोगों का ऐसा भी कहना है कि यदि सूत्र में संजद शब्द नहीं होता तो यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता था इस लिये इस शंका से संयत, पद सूत्र में होना जरूरी है इस प्रकार कथन करने वालों

तो प्रथम यह जानना जरूरी है कि निर्वृत्ति शब्द का अर्थ जब 'मोक्ष' होगा ये तब ही सम्भव होगा लेकिन मोक्ष अर्थ नहीं होता है। इसलिये उनका कहना सयुक्तिक नहीं है।

यदि सूत्र में संजद शब्द होता तो "कथं पुनः-तानु संजदः" ऐसा प्रश्न उठ सकता था लेकिन इस प्रकार न उठ कर १४ गुणस्थानो का प्रश्न उठा है, इसलिये भी सूत्र मे संजद शब्द नहीं था यह सिद्ध होता है। द्रव्य पुरुष और भाव मे स्त्री वेदी ऐसी स्त्रियों को १४ गुणस्थान की सिद्धि १६४-१६५ से होती है इसलिये इसी ६३वें सूत्र से सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं।

इस वृत्तिसार की टीका के तथा दूसरे भाग के मणुसिणी के १४ गुणस्थानो के आलाप प्रकरण मे दूसरी यह बात सिद्ध होती है कि मणुसिणी का अर्थ प्रोफे० हीरालाल जी के समान सर्वत्र 'द्रव्यस्त्री' करने वालों का खण्डन होता है, सू० नं ०७ पृष्ठ १३,

जेसिं भावो इत्थि वेद दव्वं पुण पुरिसवेदो।

पंक्ति आयी है इससे सर्वत्र द्रव्यस्त्री का अर्थ करने वाला मत खण्डित होता है।

भावकी अपेक्षा से ही, न कि इसी ६३वें सूत्र की अपेक्षा से। क्योकि ६३वां सूत्र द्रव्य स्त्री का कथन करने वाला होने से वहां द्रव्यस्त्रियों के सयम निषेध किया है यदि द्रव्यस्त्रियो को तथा द्रव्यनपुंसको को भी सयम होना मानोगे तो सवासत्त्व तथा अप्रत्याख्यान गुणस्थितत्व हेतु निरर्थक ठहरेंगे। तथा च 'दव्वत्थिणपुंसक वेदाणं चलचाओ अत्थि।' इत्यादि सूत्र मे विरोध आवेगा।

इसी प्रकार द्रव्यस्त्रियो के सयम का निषेध करने वाले प्रमाण बहुत मिलते हैं कुन्दकुन्दाचार्य ने भी अपने ग्रन्थों में साफ निषेध किया है तथा हेतु भी दिया है कि 'मासे मासे जायते स्रावः' इसलिये स्त्रियो मे निश्चल ध्यान करने की शक्ति नहीं है तथा सूत्र ६३ वृत्ति में सचेलत्वात, सयमानुपपत्तेः। यह हेतु दिया है। तथा सचेलपणा का और असंयमपणा का अविनाभावपणा दिया है। इसलिये इस सचेलत्वात हेतु से द्रव्यनपुंसक को भी संयम होता नहीं, यह सिद्ध होता है। इसलिये नं० ६३ सूत्र में ही द्रव्य स्त्री तथा द्रव्य नपुंसक इन दोनों का कथन करने वाला सूत्र सिद्ध होता है तथा सचेलपन का हेतु भी दोनो के सयम का निषेध करने वाला सिद्ध है। इसलिये षट्खण्डागम मे द्रव्यनपुंसकों का भी कथन है और उसके भी तीन भङ्ग होते हैं इस प्रकार वेद की वैषम्यता में ९ भङ्ग सिद्ध होते है यह अच्छी तरह से प्रोफेसर साहब को विचार पूर्वक मनन करना चाहिये और अपना हठवाद छोड़ना चाहिये।

—: परिशिष्ट :—

द्रव्यनपुंसकों का लक्षण श्री गोम्मटसार जीवकाण्ड में यों किया है—

णेवित्थीणेवपुमं णउंसओ उहयलिङ्गविदिरित्तो।
इट्टावग्गिसमाणग वेदणगुरुओ कलुसचित्तो॥

जिसके द्रव्यपुरुषों के चिन्ह, मूंछ, दाढ़ी, मिस्न, अण्डकोष आदि न हों तथा द्रव्यस्त्री के चिन्ह योनि, रज कोषादि नहीं उसको द्रव्यनपुंसक कहते हैं। यह हुआ द्रव्य चिन्ह तथा अन्तरङ्ग चिन्ह, ईंटों की भट्टी की अग्नि की तरह वेद, कलुषीत चित्त जिसके हो उसको द्रव्यनपुंसक कहते हैं। इसका बहिरङ्ग वेष स्त्रियों के समान रहता है इसलिये इसको स्त्री शब्द से ही कहते हैं।

उक्तं च रामायणे—

देखिले बहुऐकिले आणि महापण्डित जो पढतो,
सोन्या वीरं ताची वेत छडीने हस्तात घेउनी तो।
दावी राजकुमार तोहि तिजला प्रत्येक प्रत्येक तो,
खोजाआणिकउचशब्द करुनीकन्येसिओलावितो।
दासी कन्या लागी दावत गुण वर्णनी सकल भूप,
कोलातुलामनांतयेनो सांगमलावाणी पाहुनी रूप।
पाहा काशिधिपाला बाई तोकाही नव्हे,
मालवपति अद्भुतरूपाला बाई तो काही नव्हे।
मगधेश्वर लेवुनि दुशाला, बाई तो काही नव्हे,
कोण तुमच्या मनांत येनो सांगगे बाले।

भावार्थः— इसी द्रव्यनपुंसकों को दासी, बाई, आदि शब्द से पुकारते हैं। इससे उस द्रव्यनपुंसक को माणुसणी कहने की रूढ़ि थी।

संस्कृत रामायण में स्वयम्बर मण्डपागतसमये
ततः स्थित्वा पुरस्तस्या कंचुकी सुबहुश्रुतः।
जगाद तारशब्देन हेमवेत्रलताकरः॥२१०॥ २७ अ०

तात्पर्य यह है कि द्रव्यनपुंसक को संस्कृत में 'कंचुकी' नाम से कहते हैं जो कि रनवास में मुख्य रूप से रक्खा जाता था कोष में भी इसी प्रकार अर्थ करते हैं। प्राचीन काल में राजा के अन्तःपुर में इसी कंचुकी को रखने की पद्धति थी यह काव्य ग्रन्थों से अच्छी तरह से ज्ञात होता है।

द्रव्यस्त्रियों को दिगम्बर दीक्षा का अधिकार नहीं है। इससे वह 'संयम' न होने से पांचवें गुणस्थान में ही रहती है। उक्तं च—प्राभृते ग्रन्थे—

लिंगं इत्थीण हवदि भुञ्जइ पिण्डं सुएयकालम्मि।
अज्जाविय एयवत्थावरणेण भुञ्जेई॥२२॥
णवि सिद्धइ वत्थधरोजिणसासणजइवि तित्थयरो।
नग्गो विमोखमग्गो सेसा अमग्गया सव्वे॥२३॥
लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहि कक्खदेसेसु।
भणियो सुहमो काओ तासिं कह होई पव्वज्जा॥२४॥
जई दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरवि चरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया॥२५॥
चिन्तासोहि तेसिं ढिल्ल भावं तहा सहावेण।
विज्जदि मासा तेसिं इत्थिसु ण संकया झाणं॥२६॥

मूलाचारे तथोक्तं अविकार वत्थवेसाजल्लमल्ल मिलित्त चत्तदेहाओ धम्म कुलकित्ति दिक्खा पडिरूव विशुद्ध चरियाओ॥१०॥

इन उपरोक्त गाथाओं से द्रव्यस्त्रियों को संयममूलभूत प्रव्रज्यानाम दिगम्बर दीक्षा का तथा संयम का निषेध किया है और अनेक ग्रन्थों में कथन किया है जो विस्तार भय से नहीं लिखा।

भावनपुंसक को अपर्याप्त-अवस्था में सम्यक्त्व निषेध किया है। देखिये—

देवनेरईयमणुस्सा असंजदसम्माइट्ठिणो यदि

मणुसेसु उपज्जंति तो णियमा पुरिसवेदेसु उपज्जंति । ण अण्णवेदेसु, तेण पुरिसवेदो चेव भणिदो । श्री धवला आलापाधिकार पृ० ॥११८॥

तात्पर्य--इस उपरोक्त प्रमाण से द्रव्यनपुंसको का कथन करते हुये भावनपुंसक का ही कथन है तथा भावस्त्री का ही कथन है। ऐसा कहने वालों से मेरा प्रश्न है कि द्रव्यनपुंसक तथा द्रव्यस्त्रियों का कथन श्री षट्खण्डागम में नहीं है और सर्वत्र भाव ही का कथन है तो भावनपुंसक किस सूत्रमे अंतर्भूत करोगे ? कहोगे कि द्रव्यपुरुषो का सूत्र नहीं होने पर वृत्तिकार भी किस आधार से निषेध करेगे ? उनके लिये आधारभूत ग्रन्थों का सूत्र तो चाहिये । अन्यथा पूर्वाचार्यो के वचन मे विरोध आजायगा। तथा षट्खण्डागम भी अधूरा है ऐसा सिद्ध हो जायगा। द्रव्य पुरुष का शरीर आधार लेकर चौदह गुणस्थान सिद्ध होते हैं। न कि भाववेद की प्रधानता से ? भाव वेद बादर कषाय गुणस्थान के ऊपर नहीं होने से १४ गुणस्थान की सिद्धि नहीं होती। फिर १४ गुणस्थान की सिद्धि को गति का ही अवलम्बन करना पड़ेगा। तथा गति का उदय भावमें न रहकर शरीर पर ही रहता है इस लिये शरीर मरण तक उसका सम्बन्ध रहता है 'गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति' इसलिये बादर कषाय ऊपर वेद विशेषण नष्ट होने पर भी उपचार से कथन किया है उसमे कोई विरोध नहीं आता।

यदि नं० ९३ सूत्र में द्रव्यस्त्री का कथन न मान कर भाववेदका कथन मानेंगे तो 'णियमा पज्जत्तियाओ' शब्द निरर्थक या निष्प्रयोजन ठहरेगा। इसलिये उसमें 'सञ्जदासञ्जद' तक पद रखकर नियम शब्द को सार्थक लिखा है और द्रव्यस्त्रियो के पांच ही गुणस्थान होते हैं इसको पुष्ट कर भावस्त्री को (द्रव्यपुरुष और भाव से स्त्री) ही चौदह गुणस्थान होते है यह सिद्ध किया है। यदि इसको न मानोगे तो द्रव्य शरीर से पाच ही गुणस्थान होते हैं यह कथन न रहकर द्रव्यस्त्रियो को भी १४ गुणस्थान होते हैं, द्रव्यस्त्री शरीर धार भाव पुरुष स्त्री नपुंसको को भी १४ गुणस्थानहोना मानना पड़ेगा। तथा द्रव्यनपुंसक शरीर से भी तीनों भाववेदी पुरुष स्त्री नपुंसकवालों को भी १४ गुणस्थान मानने पड़ेंगे। ऐसा मानने पर सिद्धांत विरुद्ध दोष आवेगा। तथा आम्नाय का भी नाश हो जायगा। इसलिये न० ९३ सूत्र मे 'सजद' पद नहीं होना चाहिये।

शका—द्वितीय भाग धवला के आलापाधिकार मे मणुसिणी को 'पज्जत्त' विशेषण लगाया है तथा अपज्जत्त भी। फिर विरोध क्यो नहीं आवेगा। क्यो कि पर्याप्त मनुसिणी को १४ गुणस्थान और अपर्याप्त मनुष्यिनी को ३ गुणस्थान (मिथ्यात्व १ सासादन २ सयोगकेवली ३) माने हैं।

उत्तर—वृत्तिकार ने जो भाव मानुसिण' को पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण लगाया है वह उपचार मात्र से लगाया है। इससे गुणस्थानादिक कथन करने वाले सूत्र नं० ८९-९० में अन्तर्भूत करते हैं तो इस पर शका होती है कि अपर्याप्त पुरुष को सम्यक्त्व रहता है ऐसा लिखा है। इसलिये वह सम्यक्त्व अपर्याप्त भावनपुंसको को भी होना सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार मानने से उपरोक्त ग्रन्थाधार से विरोध आता है इस लिये न० ८९-९० सूत्रा मे अन्तर्भूत नहीं कर सकते हैं।

क्योंकि सूत्र मे साफ लिखा है कि "मणुस्सा मिच्छाइट्ठिसासण सम्माइट्ठि असंजद सम्माइट्ठि-ट्ठाणे

सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

अर्थ—मनुष्यगति में मनुष्य मिथ्यात्व सासादन सम्यक्त्व, असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं। इस सूत्रसे सिद्ध होता है कि अपर्याप्त नपुंसक जीव को इस सूत्र मे अन्तभूत नहीं कर सकते। क्योकि द्रव्य और भाव-नपुंसक अपर्याप्तक अवस्था मे सम्यक्त्व सहित उत्पन्न नहीं होते, इस लिये इस सूत्रमे अन्तभूत कर नहीं सकते। इस सूत्र नं० ८९ से ९३ तक का कथन भाव मे न होकर द्रव्यपुरुष स्त्रीनपुंसकवेदी का कथन है। यह भली भान्ति सिद्ध होता है।

तथा और प्रमाण भी हैं, देखिये—यहां पर प्रकरण है मनुष्यगति मे कौन से गुणस्थान होते हैं, गति में मुख्य शरीर की अपेक्षा से कथन होना जरूरी है, क्योकि गतिमें शरीर की अपेक्षा से कथन प्रथम होकर अनतर भावकी अपेक्षा से कथन करना न्यायपद्धति है।

इस पद्धति को न मानने पर ग्रन्थ में एक बड़ी भारी त्रुटि रह जायगी। इस समय ग्रन्थ मे शरीर की अपेक्षा से कथन का अभाव हो जायगा। ग्रन्थ-कार शरीर की अपेक्षा से ही कथन कर रहे हैं। इसी लिये तो सूत्रोमे पर्याप्त अपर्याप्त आदि विशेषण लगाये हैं। सूत्रकार के भाव का भी वृत्तिकार ने खुलासा किया है कि "शरीर निष्पत्त्यपेक्षया" इत्यादि शरीर की अपूर्णता की अपेक्षा से ही पर्याप्त और शरीर की अपूर्णता की अपेक्षा से अपर्याप्त ऐसे विशेषण को स्पष्ट किया है. जो कि सूर्यप्रकाशवत् स्पष्ट है।

वृत्तिकार ने भी द्रव्यस्त्री के वस्त्र सहित होने से उनको सयम की अनुपपत्ति है ऐसा प्रथम द्रव्यस्त्रीका कथन् किया है अनंतर "भावस्त्रियों को १४ गुण-स्थान होते है" यह कथन किया है। इसे षट्खडा-गम के सूत्रो मे द्रव्यस्त्रियों के संयम का अभाव, मुख्य शरीर का अभाव और निमित्तभूत भावके होने से उपचार की प्रवृत्ति हो गई है। इसलिये कोई विरोध नहीं आता।

नम्बर ९२-९३ सूत्रों में द्रव्यस्त्रीनपुंसक दोनों का कथन सिद्ध होता है तथा उनके शरीराधार उनके वेद वैषम्य, भावत्रिक, शरीराधारभूत गुणस्थान तक सिद्ध होता है। अन्यथा वेदवैषम्य के ९ भंगवालों को भी मोक्ष की सिद्धि का प्रसंग आवेगा, जो कि इष्ट नही है। यदि आग्रहवश इष्ट मानोगे तो मनुष्यो के वेद-वैषम्य भंगों का कथन ही निरर्थक ठहरेगा। तथा "तेण परं सुद्धा मणुस्सा" इस सूत्र से विरोध आवेगा। इस लिये उपरोक्त हमारा कथन ठीक है। जो कि द्रव्यस्त्रीनपुंसक इन दो शरीर की अपेक्षा के ६ भग वाले जीव संयम को प्राप्त नहीं होते, सिर्फ एक द्रव्यपुरुषके तीन भंगवाले जीव संयम को प्राप्त कर सकते हैं। और १४ गुणस्थानो की प्राप्ति करके अंत में मोक्ष को जाते हैं, इस प्रकार प्रकरण अनुसार अर्थ करना श्रेयस्कर है।

जीयात त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनं ॥

॥ नमो वीतरागाय ॥

देवाधिदेवं गतसर्वदोषम्, स्वानन्दभूतं धृतशान्तरूपम् ।
नरामरेन्द्रैर्नुतपादयुग्मम्, श्रीवीरनाथ प्रणमामि नित्यम् ॥

स्त्री—मुक्ति

प्रोफेसर जी ने जो कुछ लिखा है वह आगम, तर्क, युक्ति, प्रमाण, नय, निक्षेपादिको के अनुकूल है या नहीं यह अवलोकन करना अत्यावश्यक है। अत एव वैसा प्रयत्न किया जा रहा है। प्रोफेसर जी ने प्राच्य आचार्य कुंदकुन्दजी को आडे हाथों लिया है यथा—

"भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने आगमों में स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है। लेकिन उन्होने न गुणस्थान की ही व्यवस्था से चर्चा की है, और न ही कर्मसिद्धांत की विवेचना की है जिस से कि प्रस्तुत मान्यताका शास्त्रीयविचार बाकी रहजाता है" इत्यादि

विचार कीजिये कि भगवान् कुन्दकुन्द ने "वीर-शासन" अपने बुद्धि बल से कैसा प्रकट किया है, यह बात निम्नलिखित श्लोक से विदित हो जाती है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुदाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

इस श्लोक के अनुसार वीर भगवान के और गौतम के द्वारा प्रतिपादित धर्म प्रवचन के समान धर्म प्रवचन के वक्ता स्वामी कुन्दकुन्द हैं उन पर समीक्षाकी गई है कि वे स्त्रीमुक्ति निषेधमें बड़ीभारी गल्ती कर गये हैं। किमाश्चर्यमतः परम् !!

गुणस्थानचर्चा और कर्म सिद्धांत का प्रतिपादन किये बिना उन्हो ने बड़े बड़े महत्वशाली ग्रन्थ यों ही लिख डाले ? हम पूछते हैं प्रोफेसर जी से कि यह छोटे मुख बड़ी बात नहीं है ? अस्तु,

स्त्रीमुक्ति निषेध पर श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमेय-कमलमार्तंड में यों लिखा है—

श्वेतपटा ब्रुवन्ति—"अस्ति स्त्रीणां मोक्षोऽवि-कलकारणत्वात् पुरुषवत्" इति तदसिद्धिर्हेतोरसिद्धेः। तथाहि— मोक्षहेतुर्ज्ञानादिप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परम-प्रकर्षत्वात्। सप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यपरमप्रक-र्षवत्। कथमिति चेत् तर्हि अयं हि तावन्नियमोऽप्य-स्ति-यद्वेदस्य मोक्षहेतुपरमप्रकर्षः तद्वेदस्यापुण्यपरम-प्रकर्षोऽप्यस्त्येव यथा पुंवेदस्य। नपुंसकवेदे तु अपुण्यपरमप्रकर्षे सत्यपि अन्यस्यानभ्युपगमात् पुंसि अभ्युपगमाच्च। न खलु ज्ञानादयो यथा पुरुषे प्रकृष्यमाणाः प्रतीयन्ते तथा स्त्रीषु। अन्यथा नपुंसके ते तथा स्युः। तथाचास्याप्यपवर्गप्रसङ्गः। स्त्रीणां संयमो न मोक्षहेतुर्नियमेन ऋद्धिविशेषाहेतुत्वात्। सांसारिकलब्धीनामप्यहेतुः संयमः कथं मोक्षहेतुस्स्यात् सचेलसंयमत्वाच्च नासौ तद्धेतुर्गृहस्थसंयमवत्। न च स्त्रीणां निर्वस्त्रसंयमो दृष्टः प्रवचनप्रतिपादितो वा। यदि पुनः स्वर्गादिवत् अचेलसचेलसंयमकारणभेदात् मुक्तेरपि भेदोभ्युपगम्यते मोक्षसुखाकांक्षया तदादेश-संयमिनोऽपि मुक्तिः प्रसज्यते तथा च लिंगग्रहणमन-र्थकम्। स्त्रियो न मोक्षहेतुसंयमवत्यः साधूनामवन्द्य-त्वात् गृहस्थवत्। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्वाच्च न ताः तद्वत्यः तद्वत्।

☞ इस चालू लेख के लेखक—

श्री १०८ पूज्य मुनिराज

* श्री विमलसागर जी महाराज *

[इस लेख पर पूज्य लेखक महानुभाव का नाम अङ्कित न था अतएव पूर्व लेख के लेखक महानुभाव का ही अवशिष्ट अंश समझ कर पू० मुनिराज जी का शुभनाम यथास्थान न दिया जा सका महाराज का नाम पीछे ज्ञात हुआ। —मुद्रक]

❋ जैनसंघ भेद का बीज ❋

अनादि धारा प्रवाह से एक रूप में चला आया विश्व-हितकर जैनधर्म अनेक धाराओं में विभक्त क्यों हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर सम्राट चन्द्रगुप्त के समय होने वाला बारह वर्षीय घोर दुर्भिक्ष है। उस समय के आपद्धर्म का जिस साधु-वर्ग ने परित्याग नहीं किया वे तथा उनके अनुयायी 'श्वेताम्बर जैन' कहलाये। प्राचीन मार्ग के अनुयायियों का नाम 'दिगम्बर जैन' प्रसिद्ध हुआ। जैनसङ्घ भेद के बीज खोजनेवालों को इस तथ्य का अध्ययन तथा मनन करना चाहिये।

प्रत्यक्षप्रसिद्धो हि वस्त्रग्रहणादि बाह्यपरिग्रहोऽभ्यन्तर-स्वशरीरानुरागादि-परिग्रहमनुमापयति। वातकायिकादिजंतूपघातनिवारणार्थं सचेलत्वे-आचेलक्यव्रतस्य पुंसः हिंसात्वानुषङ्गः। तथा च नार्हदादयो मुक्तिभाजः स्युः।

किंच परिग्रहपरित्यागः संयमो याचनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपादानचौरहरणमनःसंक्षोभकारिणि वस्त्रे गृहीते कथं स्यात्? तदुक्तंच—

शीतार्तिनिवृत्त्यर्थं, वस्त्रादि यदि गृह्यते।
कामिन्यादिस्तथा किन्न, कामपीड़ादिशांतये ।१।
वस्त्रखण्डे गृहीतेऽपि, विरक्तो यदि तत्वतः।
स्त्रीमात्रेऽपि तथा किन्न, तुल्याक्षेपसमाधितः ।२।
स्त्रीपरीषहभग्नैश्च, बद्धरागैश्च विग्रहे।
वस्त्रमादीयते यस्मात् सिद्धग्रन्थद्वयं ततः ॥ ३ ॥

रत्नत्रयाराधकस्यैव मुक्तिप्रसिद्धेः। न च पिच्छीपदादौ गृह्यमाणेऽयं दोषः जन्तुरक्षार्थत्वात् ममेद भावासूचकत्वात्। गण्डादेरप्रवृत्तिहेतुत्वात् नाग्न्याविरोधित्वाच्च। नाप्यागमात् स्त्रीमुक्तिसिद्धिः सम्यग्दर्शनोत्पत्त्यनन्तरं च सर्वासु स्त्रीषूत्पत्तिरेव न सम्भवति तदा कथं स्त्रीणां मुक्तिः। ततोत्कृष्टध्यानफलत्वात् मोक्षस्य न स्त्रीणांमोक्षो युक्तः। किन्तु-अनन्त चतुष्टयस्वरूपलक्षणो मोक्षः पुरुषस्यैव सम्भवति।

अर्थ--मुक्ति ज्ञानादि कारण के परमप्रकर्ष से होती है, उसका परमप्रकर्ष स्त्रियों मे नहीं है, जैसे कि उनमे सातवीं नरकभूमि में जाने का कारण अपुण्य, (पाप) का परमप्रकर्ष नही है।

यहां शका हो सकती है कि स्त्रियों में सातवीं नरकभूमि जाने का कारण अपुण्य का परमप्रकर्ष नही है, तो न सही, इससे मोक्ष के कारण ज्ञानादिके परमप्रकर्ष के अभाव मे अर्थात् ऊचे अपुण्य के अभाव से ऊंचे ज्ञान का अभाव कैसा? क्योंकि इन दोनोंमें न कार्यकारणभाव है और न व्यापव्यापक भाव है, इन दोनों के बिना अन्य के अभाव में अन्य का अभाव कहना ठीक नहीं है।

उत्तर—यह कहना ठीक है किन्तु यह नियम है कि जिस वेद में मोक्ष जाने के कारण का परमप्रकर्ष है उसमें सातवीं नरकभूमि जाने का कारण अपुण्य का परमप्रकर्ष भी है यथा पुरुषवेद में।

चरम शरीर वाले पुरुषवेद के साथ यह दोष कहा जा सकता है लेकिन वह ठीक नहीं है, चरम शरीरी पुरुषवेद एक विशिष्ट पुरुषवेद है उसकी अपेक्षा ये यह नही कहा है किन्तु पुरुषवेद सामान्य की अपेक्षा से कहा गया है जिसमें सातवीं नरकभूमि में जाने का कारण अपुण्यकर्म का परमप्रकर्ष है, उस में मोक्ष जाने के कारण का भी परमप्रकर्ष है। ऐसा विपरीत नियम तो संभवता ही नहीं है, क्योंकि नपुंसकवेद में सातवीं पृथ्वी मे जाने का कारण अपुण्यकर्म का परमप्रकर्ष होते हुयेभी उसके मोक्षके कारण ज्ञानादि का परमप्रकर्ष नहीं माना गया है और पुरुष में माना गया है। इस लिये स्त्रीवेद में भी यदि मोक्ष का हेतु परमप्रकर्ष है तो उसके अभ्युपगम से ही यह दूसरा अनिष्ट परिणाम भी जरूर प्राप्त हो जायगा, अन्यथा पुरुष में भी अनिष्ट दोष नहीं आ सकेगा? दोनो तादात्म्य तदुत्पत्ति लक्षण प्रतिबंधोंका अभाव होते हुये भी कृत्तिकोदयादि हेतुओं के समान उक्त दोनो परमप्रकर्षों का अविनाभाव सिद्ध हो जाने पर सातवीं पृथ्वी मे जाने का कारण अपुण्यकर्म के परमप्रकर्ष के निषेध से मोक्ष का हेतु ज्ञानादिके परमप्रकर्ष का भी निषेध हो जाता है इत्यादि।

तथा स्त्रियो का संयम मोक्ष का कारण नहीं है,

क्योंकि वह नियम से ऋद्धि विशेष का अकारण अन्यथा नहीं हो सकता। जिनमें संयम सांसारिक लब्धियोका भी कारण नहीं है उनमें वह निःशेषकर्म विप्रमोक्ष लक्षण मोक्षका कारण कैसे हो सकता है ?

नियम से स्त्रियों का ही संयम ऋद्धि विशेष का कारण नही स्वीकार किया गया है, न कि पुरुषों का संयम। यथा—स्त्रियो का सयम सवस्त्र है इसलिये यह मोक्ष का कारण नहीं है, जैसे गृहस्थोंका सयम। इत्यादि स्त्रियों के मोक्ष के सम्बन्ध में अनेक भिन्न २ नाना दोषों का आक्षेप प्रमेयकमलमार्तण्ड के पृष्ठ ६४ से ६६ तक किये गये हैं।

स्त्रीमुक्ति के प्रतिपादक आगम भी न स्त्रियों का सप्तम नरक में गमन मानते हैं और न उनके संयम को आहारकादि ऋद्धि विशेष का कारण मानते हैं। साधुओं के संयम को ही जब वे सवस्त्र मानते हैं, तब स्त्रियों का संयम सवस्त्र मानने में तो बाधा ही क्या है ?

छठी पृथ्वी तक स्त्रियां जाती हैं। इस बात को भी कहने वाला उनका आगम प्रवचनसारोद्धार है।

छट्ठि च इत्थियाओ मच्छा मणुयाय सत्तमि पुढवि।
एसो परमुववाओ बोद्धव्वो नरयपुढवीसु ॥ ६२ ॥

सत्परूपणा के सूत्र ६२-६३ में स्पष्टरीत्या कहा है कि, द्रव्यस्त्री वेद वाले जीव संयम धारण नहीं करते हैं, क्योकि, वे सवस्त्र होते हैं और सयम के बिना मुक्ति नहीं होती यह निषेध उससे निकलता ही है। स्त्रियां लज्जाशील होती है इस कारण वस्त्र का परित्याग नहीं कर सकतीं दूसरे वस्त्र छोड़ने से उनको भय भी बना रहता है कि कोई दुराचारी बलात्कार करने से उनके शील का खण्डन न करदे अतः स्पष्ट है कि उनके वस्त्र का त्याग नहीं इसलिये संयम भी नहीं है और जब संयम नहीं तो उनके मोक्ष भी नहीं है। दूसरे यह बात है कि स्त्रियो की अपर्याप्त दशा में सम्यक्त्व भी नहीं होता इसका प्रमाण गोम्मटसार जीवकाण्ड की १२७ गाथा है यथा—

हेट्ठिमछप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं।
पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे १२७

यानी—प्रथम पृथिवी को छोड़कर नीचे की छह पृथ्वी के नारकों के, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवोंमें, सब स्त्रियो की अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व नहीं होता है, और नारको के अपर्याप्त अवस्था मे सासादन भाव भी नहीं होता।

अयदापुण्णे णहि थी सढोविय घम्मणारयं मुच्चा।
थी सढयदे कमसो णाणुचऊ चरिमतिण्णाणू २८७

यानी—असंयत अपर्याप्त गुणस्थानमें स्त्रीवेद का उदय नहीं है, और घम्मा नाम की पहिली पृथ्वी को छोड़कर नपुंसकवेद का भी उदय नहीं है। इसलिये स्त्रीवेद वाले असंयत के चारो आनुपूर्वी का और नपुंसकवेद के उदय वाले असयत के अन्तिम तीन आनुपूर्वी का उदय नहीं है। इससे मालूम होता है कि, द्रव्यस्त्री तो दूर ही रहे किन्तु भावस्त्री के भी अपर्याप्त अवस्था मे चतुर्थ गुणस्थान नही होता है। प्रोक्तं च—रत्नकरण्डे स्वामी समन्तभद्राचार्येण—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता च व्रजति नाप्यव्रतिकाः

यानी—जो जीव सम्यग्दर्शन से शुद्ध हैं वे अव्रतिक होते हुये भी मर कर नारक, तिर्यंच, नपुंसक, और स्त्री नहीं होते है। तथा न दुष्कुलीन, विकृतशरीर और अल्प आयुवाले, दरिद्री, इत्यादि अवस्था को प्राप्त होते हैं।

इससे भी विदित होता है कि, अपर्याप्त अवस्था में स्त्रियों के चतुर्थ गुणस्थान नहीं होता है इससे स्पष्ट है कि स्त्री पर्याय निकृष्ट है अतः सम्यग्दृष्टि जीव उन में पैदा नहीं होता और पर्याप्त अवस्था में द्रव्यस्त्रियां वस्त्रसहित होती हैं इसलिये अप्रत्याख्यानगुण अर्थात् देशसंयत य'नी संयतासयत गुणस्थान में ही स्थित रहती हैं। अतएव स्त्रियोंको निर्वस्त्र संयम नहीं देखा जाता है अथवा आगम में भी नही कहा गया है।

यदि स्वर्गादिसदृश सवस्त्र या निर्वस्त्र संयम के निमित्त नैमित्तिक के भेद से मोक्ष में भी भेद माना जायगा तो मोक्ष की अभिलाषा करने वाले विकल देश संयमिकों को भी मुक्ति प्राप्त हो जायगी तदा दैगम्बरीय निर्ग्रंथलिंग बिल्कुल अनर्थक हो जायगा।

प्रत्यक्ष प्रमाण से यह बात सिद्ध होती है कि, वस्त्रग्रहणादि यह बाह्य परिग्रह है और अभ्यन्तर परिग्रह स्वशरीर के ऊपर वस्त्रधारण करने से अत्यंत अनुरागरूप ममत्व परिणाम देखा जाता है।

यदि वात कायिकादि जंतुओं के उपघात के निवारणार्थ वस्त्र ग्रहण किया जाता है ऐसा कहोगे तो फिर निर्वस्त्र संयमी जिनकल्पी के निग्रथ अवस्था में भी हिंसा दोष की सम्भावना हो जायगी। तथा च भगवान सर्वज्ञ अर्हदादिक भी मुक्ति के पात्र नहीं हो सकेंगे।

तथा समस्त परिग्रह त्याग रूप संयम "याचना-करना, और फटे हुये वस्त्र की सिलाई करना उसको धोना और सुखाना, नीचे रखना, स्वीकार करना और उस वस्त्र की चोरी होनेसे मनमे रागद्वेष उत्पन्न होना" इत्यादि असयम का मूल वस्त्र रखने-पर कैसे हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता।

यदि शीतादिक से उत्पन्न बाधाओं के परिहार के लिये यह वस्त्र ग्रहण किया जाता है ऐसा कहोगे तो कामपीड़ादिक की शांति के लिये कामिन्यादिकों को भी स्वीकार करना पड़ेगा इस प्रकार यह बाह्याभ्यंतर उभय परिग्रह सिद्ध हो गया।

पीछी औषधादिक से यह दोष नहीं आ सकता क्योंकि समस्त षट्कायिकजंतु-संरक्षण केलिये साधु-संत महात्माओं ने यह मयूरपिच्छिका ग्रहण की है, उस पर भी 'यह मेरी है', ऐसा उनके ममत्व भाव नहीं होता है जैसे कि वस्त्रादिक पर होता है अतः नग्नत्व सिद्ध हो गया।

तथा आगम से भी स्त्रीमुक्ति सिद्ध नहीं होती है क्योंकि स्त्रियों को अपर्याप्त दशा में सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है अतः स्त्रियां मुक्ति की पात्र नहीं हैं। मोक्ष उत्कृष्ट ध्यान का फल होने से नारी मे उस की योग्यता नहीं है। अनन्त चतुष्टय स्वरूप मोक्ष पुरुष को ही होती है।

प्रोफेसर साहब ने कहा है कि, स्त्रियों के चौदह गुणस्थान होते हैं यह आगमविरुद्ध है धवल सिद्धांत ग्रन्थ देखिये—

अस्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्ध्येदिति चैन्न सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमा—नुपपत्तेः। भावसयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेन्न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासयमाविनाभावि-वस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न भावस्त्री-विशिष्ट-मनुष्यगतौ तत्सत्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दश गुणस्थानानां सम्भव इति चेन्न अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्, गतिस्तु प्रधाना न साराद्वि-नश्यति वेदविशेषणायां गतौ न तानि सम्भवन्तीति चेन्न विनष्टेपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमाद-

धानमनुष्यगतौ तत्सत्वाविरोधात् ।

इस प्रवचनभूत आगम से द्रव्यस्त्रियों के मुक्ति का निराकरण होता है, भाव संयम का निषेध भी होता है। द्रव्यस्त्रियों के आदि के पांच गुणस्थान ही होते हैं। और द्रव्य मनुष्य जिसका भाव स्त्री वेद रूप है उसके नौ गुणस्थान होते हैं ऊपर के गुणस्थान भाववेद में उपचरित हैं। इत्यादि अनेक युक्ति प्रयुक्तियां सिद्ध हो जाती हैं। 'आचार्य विद्यानंदी' श्लोकवार्तिक पृष्ठ ५११ में लिखते हैं कि—

सिद्धि सिद्धगति मे होती है। अथवा मनुष्यगति में भी पुरुषों के होती है। अवेदता से वह सिद्धि होती है, अथवा भाव से तीनों वेदों से सिद्ध होती है। द्रव्य से तो साक्षात् पुल्लिङ्ग से होती है। जो लोग स्त्री निर्वाणवादी हैं उनके आगम व्याघात और मुक्तिबाधा दोनो हैं। यथा—

सिद्धिः सिद्धगतौ पुंसां, स्यान्मनुष्यगतावपि।
अवेदत्वेन सा वेदत्रितयाद्वास्ति भावतः ॥७॥
पुल्लिंगेनैव तु साक्षाद् द्रव्यतोऽन्या तथागम —
व्याघाताद्युक्तिबाधाच्च स्त्र्यारि निर्वाणवादिनाम् ८

इन दोनों श्लोको में भाव से तीनों वेदों से और द्रव्य से पुरुषलिङ्ग से मुक्ति कही गई है और अन्य द्रव्यलिंग से मुक्ति मानने में आगम और युक्ति दोनों से बाधा आती है, यह स्पष्ट कहा गया है।

अकलंकदेव राजवार्तिकालंकार मे कहते हैं कि, "अतीत को विषय करने वाले नय की अपेक्षा से सामान्यतः तीनों वेदो से सिद्ध होती है" इस भाव को लेकर कहा गया है, द्रव्य को लेकर नहीं। द्रव्य अपेक्षासे तो पुल्लिङ्गसे ही सिद्ध होती है। तथा पर्याप्त मानुषी में भावलिङ्ग की अपेक्षा से चौदह ही गुणस्थान होते हैं। यथा—

अतीतगोचर—नयापेक्षया अविशेषेण त्रिभ्यो वेदेभ्यः सिद्धिर्भवति भावं प्रति, न तु द्रव्य प्रति। द्रव्यापेक्षया तु पुलिंगेनैव सिद्धिः। राजवार्तिक

मानुषीपर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि संति भावलिंगापेक्षया, द्रव्यलिङ्गापेक्षेण तु पंचाद्यानि।

इस प्रमाण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव से तीनों वेदों से और द्रव्य से पुल्लिङ्गसे सिद्ध होती है। तथा भाव मानुषी के चौदह और द्रव्य मानुषी के प्रारम्भ के पांच गुणस्थान होते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि द्रव्य स्त्री को मुक्ति नहीं होती है, और उसके पहिले ५ गुणस्थान ही होते हैं।

पंचाध्यायी के ४५२वें पृष्ठ पर लिखा है—

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥१०७६॥

आगमानुसार तीनों ही वेद द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के हैं।

उसी के पृष्ठ ४५४वें को देखिये—

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल।
नारीवेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता १०८४
नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः।
अन्तर्दग्धोऽस्ति यो भावः क्लीबवेदोदयादिति १०८५

पुंवेद के उदय से जो द्रव्यस्त्रियो के साथ रमने की इच्छा होती है वह भावपुंवेद कहलाता है और स्त्रीवेद के उदय से जो द्रव्यपुरुषो के साथ रमने की इच्छा होती है वह भाव स्त्रीवेद कहलाता है। तथा नपुंसकवेद के उदय से जो सदैव स्त्री और पुरुष दोनों में ही रमने की अत्यन्त इच्छा होती है परन्तु सामर्थ्य न होनेसे वह नपुंसक उन दोनोंमे से किसी के भी साथ भोग नहीं भोग सकता है। किन्तु सदैव अन्तरङ्ग में ही जलता रहता है।

कहीं पर द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग दोनों ही समान होते हैं। तथा कहीं पर दोनों ही विषम भी होते हैं अर्थात द्रव्यलिङ्ग दूसरा होता है और भाव-लिङ्ग दूसरा होता है। जैसे देवाङ्गनाओं के द्रव्यस्त्री-वेद के साथ सदैव भावस्त्रीवेद का ही उदय रहता है। वैसे ही देवों के द्रव्यपुरुष वेद के साथ सदैव भाव पुरुषवेद का ही उदय रहता है भोगभूमिज स्त्री पुरुषों के भी ऐसे होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भाव से तीनों वेदों से और द्रव्य से पुरुषलिंग से ही मुक्ति कही गई है।

भावसंग्रह में अवलोकन कीजिये—

जइ तप्पइ उग्गतवं मासे मासे च पारणं कुणइ।
तहविण सिज्झइइत्थी कुच्छियलिंगस्स दोसेण ६२
मायापम यपउरा पडिमासं तेसु होइपक्खलणं।
णिच्चं जोणिस्साओ दारडूं णत्थि चित्तस्स ॥६३॥
सुहुमापज्जत्ताणं मणुआणं जोणिणाहिकक्खेसु।
उप्पत्ती होइ सया अण्णेसु य तणुपएसेसु ॥६४॥
ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थीणं दुविहसजमोद्धरणं।
संजमधरणेण विणा णहु मोक्खो तेण जम्मेण ६५
अहवा एयं वयण तेसिं जीवो ण होइ किं जीवो।
किं णत्थि णाणदंसण उवओगो चेयणा तस्स ६६
जइ एव तो इत्थी धीवरि कल्लालि वेसआईणं।
सव्वेसिमत्थि जीवो सयलाओ तरिहि सिज्झंति ६७
तम्हा इत्थीपज्जय पडुच्च जीवस्स पयडिदोसेण।
जाओ अभव्वकालो तम्हा तेसिं ण णिव्वाणं ॥६८॥
अइउत्तमसंहणणो उत्तमपुरिसो कुलग्गओ संतो।
मोक्खस्स होइ जुग्गो णिग्गंथो धरियजिणलिङ्गो ६६

आरातीय देवसेन कहते हैं कि, यदि उग्रतप तपें, महीने २ की पारणा करें तो भी स्त्री अपने कुत्सित-निद्यलिंग दोष के कारण सिद्ध नहीं होतीं स्त्रियां माया और प्रमाद से भरी पूरी होती हैं, प्रति महीने उनमें प्रस्खलन होता रहता है। हमेशा योनि झरती रहती है चित्त की दृढ़ता भी उनके नहीं होती है। उनकी योनि, नाभि और कूख तथा स्तन इन चारों ही स्थानों मे सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति हमेशा होती रहती है इस कारण स्त्रियों के दोनों तरह के संयम का धारण नहीं होता है और संयम को धारण किये बिना स्त्री के जन्म से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

यदि यह कहा जाय कि क्या स्त्रियों के जीव नहीं है? या उनके ज्ञान, दर्शन उपयोग चेतना नहीं है?

यदि ऐसा है तो धीवरी, कलारी वेश्या आदि सब स्त्रियों के जीव हैं तो फिर सभी स्त्रियां सिद्ध हो जानी चाहिये।

इस लिये स्त्री पर्याय को लेकर जीव के प्रकृति दोष से अभव्यकाल हो गया है, इस कारण से उनके निर्वाण पद नहीं होताहै। अति उत्तम संहनन अर्थात् प्रथम संहननवाला कुलीन, काणत्वादि दोष रहित उत्तम पुरुष मोक्ष के योग्य है जो कि निर्ग्रंथ और जिनलिङ्ग का धारी होता है।

सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३२०—

लिंगेन केन सिद्धिः? अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिः भावतो, न द्रव्यतः। द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव।

अर्थ—किस लिंग से सिद्धि होती है? कहते हैं कि अवेदपने से सिद्धि होती है, अथवा स्त्री पुरुष और नपुंसक इन तीनों भाववेदों से सिद्धि होती है, द्रव्यवेदों से नहीं, द्रव्यवेद से तो पुल्लिङ्ग से ही सिद्धि होती है। इससे द्रव्यस्त्री वेद से और द्रव्यनपुंसकवेद से मोक्ष सिद्धि नहीं होती है यह सिद्ध हुआ।

सागारधर्मामृत पृष्ठ ५५२—

त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यापवादिकलिंगिने ।

महाव्रतार्थिने दद्याल्लिङ्गमौत्सर्गिकं तदा ॥३५॥

टीका—दद्याद्वितरेत् निर्यापकाचार्यः। किं तल्लिंगं आचेलक्यादि चतुर्विधं। किं विशिष्टमौत्सर्गिक उत्सर्गे सकलपरिग्रहत्यागे भव नाग्न्यमित्यर्थः। क्व तदा संस्तरारोहणकाले। कस्मै आपवादिकलिंगिने सग्रन्थ-लिंगाय आर्यायेत्यर्थः। किंविशिष्टायत्रिस्थानदोषयुक्ता-याऽपि त्रिस्थानेषु दोषो वृषणयोः कुण्डलातिलम्बमा-नत्वादिर्मेहने च चर्मरहितत्वातिदीर्घत्वासकृदुत्थान-शीलत्वादिस्तेन सहितायापि पुनः किं विशिष्टाय महा-व्रतार्थिने महाव्रतं याचमानाय दद्यात्।

उस समय (संस्तरारोहणकाल मे) जिनके तीनों स्थानों में दोष हैं और जो सग्रन्थ श्रावकों के चिन्ह ग्रहण कर रहा है यदि ऐसा गृहस्थ भी महाव्रत की इच्छा करेगा तब उस गृहस्थ को निर्यापकाचार्य नग्नत्व चिन्ह अवश्य दे देवे। इस अभिप्रायका मथितार्थ सिद्ध हुआ कि द्रव्यपुंलिङ्गसे ही मुक्ति होती है, न कि शेष द्रव्यवेदों से—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सूत्र पाहुड़ पृष्ठ २३ पर स्त्री पर्याय से 'मुक्ति' प्राप्ति का निषेध किया है। तथा—

चित्तासोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण।

विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संऽकयाभाणं ॥२६॥

स्त्रियो के चित्त शुद्ध न होने से उसके स्वभावतः परिणाम शिथिल रहते हैं। वह प्रत्येक मास में रजस्वला होती रहती है इसलिये उस स्त्री को निःशङ्क ध्यान नहीं होता है। अत एव उसको महाव्रत, केवलज्ञान और मोक्ष नहीं होता।

प्रवचनसार अ० ३—

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।

तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिङ्गमित्थीणं ॥

निश्चय से स्त्रियोंके स्त्री जन्म से सिद्धि नहीं होती है, इस लिये स्त्रियों के उनके योग्य वस्त्र युक्त लिङ्ग कहा गया है। इत्यादि—

पंच संग्रह अमितगति कृत—

वेदकर्मोदयोत्पन्नो भाववेदस्त्रिधा स्मृतः।

नामकर्मोदयोत्पन्नो द्रव्यवेदोपि च त्रिधा ॥

जीवस्वभावसम्मोहो भाववेदोऽभिधीयते।

योनिलिङ्गादिको दक्षैर्द्रव्यवेदः शरीरिणाम् ॥

स्त्री पुंनपुंसका जीवाः सदृशा द्रव्यभावतः।

जायन्ते विसदृक्षाश्च कर्मपाकनियन्त्रिताः ॥

वेदकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ भाववेद तीन प्रकार का होता है और नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ द्रव्यवेद भी तीन प्रकार का है। जीवके स्वभाव का जो मोह है वह "भाववेद' कहा गया है और प्राणियों के योनि लिंग आदि को दक्ष पुरुषो ने 'द्रव्यवेद' कहा है। स्त्री पुरुष और नपुंसक जीव द्रव्य और भाव से सदृश (समान) होते हैं और कर्म के उदय से नियन्त्रित वे जीव द्रव्य भाव से विसदृश भी होते है।

धवला टीका वीरसेन स्वामी विरचिता—

जेसिं भावो इत्थिवेदो दव्वं पुण पुरिसवेदो ते वि जीवा सजमं पडिवज्जंति, दव्वित्थिवेदा सजमं, ण पडिवज्जंति सचेलत्तादो। भावित्थिवेदाणं दव्वेण पुंवेदाणपि संजदाणं णाहाररिद्धी समुपज्जदि, दव्व-भावेण पुरिसवेदाणमेव समुपज्जदि।

जिनका भाव स्त्रीवेद है और द्रव्य पुरुषवेद है वे भी सयम को प्राप्त होते, है द्रव्यस्त्री वेद वाले जीव संयम को प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वे सवस्त्र होते है। भाव से स्त्री वेद वाले द्रव्य से पुरुष वेद वाले भी

सयतों के आहार ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है किन्तु जो द्रव्य भाव दोनों से पुरुष वेद वाले हैं उन्हीं संयत मुनियों के आहार ऋद्धि प्राप्त होती है।

जयधवला सिद्धांत जिनसेन विरचित—

इत्थिपुरिसणवुंसय वेदाणमण्णदरोवेदपरिणामो एदस्स होइ। तिण्हंपि तेसिमुदएण सेढिसमारोहणे पडिसेहाभावादो, णवरि दव्वदो पुरिसवेदो चेव खयगसेढिमारोहदि त्ति वत्तव्व तत्थ पयारांतरा—सम्भवादो।

स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीनों में से कोई भी एक वेद परिणाम इस क्षपक श्रेणी में आरोहण करने वाले के होता है, क्योंकि उन तीनों वेदों के उदय से श्रेणी चढ़ने का निषेध नहीं है, विशेष इतना है कि द्रव्य से पुरुषवेद ही क्षपक श्रेणी में आरोहण करता है ऐसा कहना चाहिये क्योंकि वहां पर प्रकारांतर (द्रव्य स्त्री वेद और द्रव्य नपुंसक वेद) असम्भव है।

इस समीक्षा में भी द्रव्य पुरुष में तीनों भाववेद कहे गये हैं इससे वेद की समता-विषमता सुप्रसिद्ध होती है। द्रव्य स्त्री वेद वाले और द्रव्य नपुंसक वेद वाले श्रेणी नहीं चढ़ते हैं यह प्रतिषेध हुआ।

षट्खण्डागम यथा—

सामित्तेण उक्कस्सपदे आउयवेयणा।

कालदो उक्कस्सिया कस्से ? ॥१०॥

स्वामित्वानुपेक्षा से उत्कृष्टमे आयु कर्म की वेदना काल से उत्कृष्ट किसके होती है और उत्कृष्ट आयु कौन बांधता है ?

अण्णदरस्स मणुसस्स पंचिंदियतिरिक्खजोणीयस्स वा, सण्णिस्स, सम्माइट्ठिस्स वा मिच्छादिट्ठिस्स वा सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदस्स, कम्मभूमिस्स वा कम्मभूमिपडिभागस्स वा, संखेज्जवस्साउअस्स, इत्थिवेदस्स वा, णवुंसयवेदस्स वा, जलचरस्स वा, थलचरस्स वा, सागारजागारतप्पाओग्गसंकिलिट्ठस्स वा तप्पाओग्गविसुद्धस्स वा, उक्कस्सियाए आबाधाए जस्स तं देवणिरयाउअं पढमसमए बंधनस्स आउअवेयणा उक्कस्सा।

वेयणाखण्डे भूतबल्याचार्यः।

भाव यह है कि संज्ञी सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि, छह पर्याप्तियों से पर्याप्त कर्मभूमिज अथवा कर्मभूमि प्रतिभाग वाला, संख्यातवर्ष की आयु वाला स्त्रीवेद वाला अथवा पुरुषवेद वाला अथवा नपुंसकवेद वाला, जलचर अथवा स्थलचर, साकार उपयोग वाला, जागृत, उत्कृष्ट आयु योग्य विशुद्ध परिणाम वाला, उत्कृष्ट आबाधा वाला, देवायु और नरकायुको पूर्वकोटि विभाग के प्रथम समय में बांधने वाला ऐसा कोई मनुष्य अथवा पचेंद्रिय तिर्यंच जीव के उत्कृष्ट आयु वेदना होती है।

विशेषता यह है कि परभवसंबंधी सातवें नरक की तेतीस सागर की उत्कृष्ट आयु के बांधने वाले तो संक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि, मनुष्य और तिर्यंच दोनों हैं और सर्वार्थसिद्धि सम्बन्धी तेतीस सागर की उत्कृष्ट देवायु के बांधने वाला विशुद्ध परिणामी सम्यग्दृष्टि निर्ग्रंथ मनुष्य है। जलचर तिर्यंच ही होते हैं मनुष्य नहीं होते। कर्मभूमि प्रतिभागवाले भी अन्तके आधे द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्रवर्ती तिर्यंच होते हैं शेष विशेषण दोनों के समान हैं। इतना विशेष और समझना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि तिर्यंच भी विशुद्ध परिणामों से अपने योग्य अच्युत स्वर्ग सम्बन्धी देवायु को बांधता है।

इस उत्कृष्ट आयु के बांधने वाले मनुष्य और

तिर्यंच कहे गये हैं, दोनों का वेद, स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद कहा गया है। अब यहां यथार्थ विचार किया जा सकता है कि नरक की और देव की उत्कृष्ट तेतीस सागर की आयु बांधने वाला मनुष्य द्रव्यपुरुष है या द्रव्यस्त्री है ? द्रव्यस्त्री तो है नहीं क्योंकि द्रव्यस्त्री ६ नरक से नीचे सातवें नरक में और अच्युत कल्प से ऊपर नवग्रैवेवकादिको मे नहीं जाती है। इस लिये उत्कृष्ट आयु का वंध करने वाला द्रव्यमनुष्य ही होता है। वह भावों मे चाहे स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेदी हो। अन्यथा इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा नपुंसकवेदस्स वा, इस वेदविधान की कोई आवश्यकता नहीं थी।

यदि मनुष्य पद से द्रव्यपुरुष का ग्रहण न किया जायेगा द्रव्यस्त्रियां भी ग्रहण की जायेंगी तो इसका अर्थ यह होगा कि "द्रव्यस्त्रियां भी सातवें नरक की उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम नरकायु को बांधती हैं और सातवें नरक जाती हैं। तथा अच्युत से ऊपर नव-ग्रैवेयक, नवानुदिश, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अप-राजित, और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तरों की उत्कृष्ट देवायु को वाध कर उनमे भी जाती हैं।"

इससे हानि क्या होगी ? जाने दो

आ पंचमीत्ति सीहा इत्थीओ जांति छट्ठिपुढवीत्ति

इस तिलोयपण्णत्तीसे बड़ा भारी विरोध आवेगा तथैव 'णियमा णिग्गथलिंगेण' इस मूलाचार सूत्र से भी विरोध आवेगा। कारण, नवग्रैवेयकादिको मे उत्पाद निग्रंथता से ही होता है, स्त्रिया मे वस्त्रत्याग न होने से निर्ग्रंथता का अभाव है।

पुंवेदोदयेन स्त्रिया अभिलाषारूपमैथुनसंज्ञाक्रांत-जीवो भावपुरुषो भवति, स्त्रीवेदोदयेन पुरुषाभिलाषा-रूपमैथुनसंज्ञाक्रांतो जीवो भावस्त्री भवति, नपुंसक-वेदोदयेन उभयाभिलाषारूपमैथुनसंज्ञाक्रांतो जीवो भावनपुंसकं भवति। पुंवेदोदयेन निर्माणकर्मोदय-युक्तांगोपांगनाम-कर्मोदयवशेन श्मश्रू कूर्च शिश्नादि-लिंगांकितशरीरविशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यंतं द्रव्यपुरुषो भवति। स्त्री-वेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्तांगोपांगकर्मोदयेन निर्लोममुखस्तनयोन्यादिलिंगलक्षितशरीरयुक्तो जीवो भवप्रथमसमयमादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यंत द्रव्य-स्त्री भवति। नपुंसकवेदोदयेन निर्माणकर्मोदययुक्तां-गोपांगनामकर्मोदयेन उभयलिंगव्यतिरिक्त-देहांकितो भवप्रथमसमयादि कृत्वा तद्भवचरमपर्यन्त द्रव्यनपुं-सकजीवो भवति।

स्त्रीणां च परिग्रह सज्ञा—सद्भावात क्षपकश्रेण्या-रोहणाभावेन कुतो तासां मुक्तिः, वस्त्रत्यागपूर्वकसकल संयमस्य परमागमे प्रतिषिद्धत्वात्ततः स्त्रीणां मुक्तिर्ना-स्तीति सिद्धः सत्सूरिसिद्धांतः।

दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हि।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥ ६४७ ॥

गोम्मटसार जीवकांड (सम्यग्ज्ञानचंद्रिका टीका)

भाव यह है कि दर्शनमोह कर्म के क्षय का प्रारंभ केवली--श्रुतकेवली के पादमूल मे कर्मभूमि मे उत्पन्न हुआ मनुष्य करता है और उसका निष्ठापन चारों ही गतियो मे कर सकता है।

गाथामे मनुष्यपद है जो 'द्रव्यमनुष्य' का वाचक है। द्रव्यमनुष्य के ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है। द्रव्यस्त्रियो के और द्रव्यनपुंसकों के क्षायिक सम्य-क्त्व नहीं होता है और क्षायिक सम्यक्त्व के बिना मुक्ति नहीं होती है। इस तरह गाथा सूत्र से स्त्रीमुक्ति का खण्डन हुआ।

—ःस्त्रीमुक्ति के अन्य बाधक कारणः—

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म कलंक मेट कर केवली पद अथवा मुक्तिपद केवल पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं या स्त्री भी मोक्ष पा सकती है ? सामने आये हुए इस प्रश्न का उत्तर दिगम्बरसंप्रदाय तो यह देता है कि मुक्तिपद अथवा केवलीपद—पुरुष (द्रव्यवेद) ही प्राप्त कर सकता है। स्त्रीलिंग (द्रव्य-वेद), से मोक्ष की या केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती

इसी प्रश्न के उत्तर में श्वेतांबर स्थानकवासी संप्रदाय का कहना यह है कि पुरुष और स्त्री दोनों समान हैं। जिस कार्य को पुरुष कर सकता है उस कार्य को स्त्री भी कर सकती है। इस कारण मोक्ष या केवलज्ञान पुरुषके समान स्त्री भी प्राप्त कर सकतीहै।

इस कारण यहां इस विषय का निर्णय करते हैं कि स्त्री (द्रव्यवेदी यानी-स्त्री शरीर धारण करने वाली) अपने उसी स्त्री शरीर से मुक्ति प्राप्त कर सकती है या नहीं ?

तदर्थ—प्रथम ही यदि शक्ति की अपेक्षा से विचार किया जाय तो स्त्री के शरीर में प्राप्त करने योग्य वह शक्ति नहीं पायी जाती है जो कि पुरुष के शरीर में पायी जाती है। इस कारण पुरुष तो घोर कठिन तपस्या करके कर्मजंजाल काट कर मुक्ति पद प्राप्त कर सकता है। किन्तु स्त्री उतनी ऊंची कठिन तपस्या तक पहु च नहीं सकती असह्य परिषहों का निश्चलरूपसे सामना करके शुक्लध्यान प्राप्त नही कर सकती अत एव उसे मोक्ष मिलना असंभव है।

मोक्ष वज्रऋषभनाराच संहनन वाले को ही प्राप्त हो सकती है ऐसा प्रवचनसारोद्धार के (चौथाभाग) संग्रहणीसूत्र नामक प्रकरण की १६० वीं गाथा में ७४ पृष्ठ पर स्पष्ट लिखा है—

'पढमेणं जाव सिद्धीवि' ॥ १६० ॥

अर्थात्—पहले वज्रऋषभनाराच संहनन से देव इन्द्र, अहमिन्द्र, आदि ऊंचे २ स्थान प्राप्त होते हुये मोक्ष तक प्राप्त हो सकती है। इसकारण अपने आप सिद्ध होजाता है कि स्त्री मोक्ष नहीं पाती क्योंकि मोक्ष पद प्राप्त करने का कारण वज्रऋषभनाराच संहनन उसके नहीं होता है। स्त्री के वज्रऋषभनाराच संहनन नही होता यह बात इसी गाथासे अर्थात् श्वेताम्बरीय ग्रन्थ के प्रमाण से सिद्ध होती है।

—:—सारांश—:—

ऊपर बतलाये हुये कारणों से श्वेताम्बर संप्रदाय का कथन असत्य प्रमाणित होता है क्योंकि ज्ञान, चारित्र, शक्ति, शुचिता आदि जिस किसी दृष्टिसे भी विचार करते हैं यह ही सिद्ध होता है कि स्त्री को महाव्रत, शुक्लध्यान होना, यथाख्यात चारित्रकी प्राप्ति तथा मोक्ष का मिलना असंभव है इस स्त्री मुक्ति के विषय में श्री शुभचन्द्राचार्य यों लिखते हैं—

स्त्रीणां निर्वाणसिद्धिः कथमपि न भवेत्सत्यशौर्या द्यभावात्, मायाशौचप्रपञ्चान्मलभयकलुषान्नीचजातेर-शक्तेः। साधूनां नत्यभावात्प्रवलचरणताभावतः-पुरुषतोऽन्य, भावाद्धिसांगसत्वात्सकलविमलसद्ध्यान हीनत्वतश्च ॥

अर्थात्—स्त्रियों मे सत्य, शूरता आदि गुणों का अभाव होता है, मायाचार, अपवित्रता उनमें अधि-कतर पाई जाती है। रज, मल, भय और कलुषता उनमें सदा रहती है, उनकी जाति नीच होती है, उन में उत्कृष्ट बल नहीं होता है, साधु उनको नमस्कार नहीं करते, उत्कृष्ट चारित्र उनके नहीं होता है, वे पुरुषों से भिन्न स्वभाववाली होती हैं उनमें सम्पूर्ण निर्मल ध्यान की हीनता होती है। इस कारण स्त्रियों

को कदापि मुक्ति नहीं हो सकती।

आचाराङ्गसूत्र (श्वेताम्बरीय ग्रन्थ) के आठवें अध्याय के सातवें उद्देश के ४३४ वें सूत्र में १२६ वें पृष्ठ पर लिखा है कि—"अदुवा तत्थ परक्कमतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसती सीयफासा फुसंतो, तेउफासा फुसंती दंसमसगफासा फुसती, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासा अहियासेति अचेले लाघवियं आगममाणे। तवेसे अभिसमन्नागए भवति। जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ॥४३४॥

अर्थात्—जो साधु लज्जा जीत सकता हो वह वस्त्र रहित नग्न ही रहे। नग्न रहकर तृणस्पर्श, सर्दी गर्मी दंशमशक तथा और भी अनुकूल प्रतिकूल जो परीषह आवें उन्हें सहन करे ऐसा करने से साधु को अल्पचिन्ता (थोड़ी फिक्र) रहती है वैसा जानकर जैसे बने तैसे रहे।,

आचारांग सूत्र के इस कथन से स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बरीय ग्रन्थकार भी कपड़ों को परिग्रह मानते हैं। उसके कारण साधु के चित्तपर चिन्ता भार का होना स्वीकार करते हैं तथा इसकी कमी का भी अनुभव करते हैं। यानी श्वेताम्बरीय ग्रन्थकारों के मत से भी वस्त्र एक परिग्रह है बिना उसका त्याग किये साधुकी कपड़ों के सम्भालने, रखने, उठाने, रक्षा करने, धोने आदि सम्बन्धी मानसिक चिंता दूर नहीं होती है और न तप पूर्ण होता है। इस कारण अभिप्राय यह साफ प्रगट होता है कि वस्त्र छोड़े बिना साधु का चारित्र पूर्ण नहीं होता और चारित्र पूर्ण न होने से वस्त्र रखते हुये साधु को मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये स्पष्ट है कि श्वेताम्बरी ग्रन्थकारों के मत से वस्त्र पहननेवाली स्त्रियों के चारित्र की पूर्णता नहीं हो सकती और चारित्र की पूर्णता विना मोक्ष नहीं होती यह उनके शास्त्र से ही सिद्ध हो चुका है।

इस प्रकार प्रोफेसर साहब के वक्तव्य को निस्सार तथा तर्क, सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, युक्ति व आगम से बाधित कथन करने वाला यह प्रथम प्रकरण समाप्त हुआ।

सवस्त्र—मुक्ति निषेध

प्रोफेसर हीरालालजीका कहना है कि 'श्वेतांबर सम्प्रदायमे समस्त वस्त्रका त्याग करके सब गुणस्थान प्राप्त कर सकता है और सवस्त्र से भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायानुसार परिपूर्ण वस्त्र के त्याग से ही सकल संयमी और मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अत एव इस विषय का शास्त्रीय चिंतवन अत्यावश्यक है।

किन्तु प्रोफेसर साहब को यह विषय अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार कर अवलोन करना चाहिये था। उनका यह कहना है कि 'दिगम्बर सम्प्रदायमे शास्त्रीय चिंतवन करना अत्यावश्यक है' बिलकुल अनुचित और युक्ति-बाह्य है क्योंकि दिगम्बर मत मे सूक्ष्मतम शास्त्रीय निर्णय होने से 'वस्त्रके परित्यागसे ही मुक्ति प्राप्त होती है' यह निश्चय किया गया है इस में आधुनिक शास्त्रीय दृष्टिसे विचार करने का कोई स्थल नहीं है।

किन्तु आपके मन्तव्य के अनुसार हमें सम्पूर्ण शास्त्रीय पद्धति से विचार करना आवश्यक है क्योंकि इसका यथार्थ निर्णय किये बिना आपका समाधान नहीं होगा भावसंग्रह मे लिखा है कि—

जइ सगंथो मुक्खं, तित्थयरो किं मुएइणियरज्जं।
रयणणिहाणेहि सभ, किंणिवसइणिज्जणे रण्णे ॥८८
रयणणिहाए छंडइ, सो किं गिण्हेइ कवलीखंडं।

दुव्विय दंडं च पडं, गिहत्थजोग्गंपि जं किं पि ८६

श्वेताम्बर मतानुसार जब हाथी पर बैठी हुई और देवालय में बुहारी देती हुई स्त्रियों को भी मुक्ति हो जाती है तब तीर्थंकर जिन भगवान जिन को कि मुक्ति अवश्यंभाविनी है वे रत्नोंके खजाने त्यागते हैं, निर्जन अरण्य में निवास करते हैं, घोर तप तपते हैं, परीषह और उपसर्ग सहन करते हैं, ये सब क्यों करते हैं ? कहिये तो सही। इससे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि सग्रन्थलिङ्ग से मोक्ष नहीं होती। अतएव तीर्थङ्कर भी निर्ग्रंथलिङ्ग धारण करते हैं।

सग्रन्थ मुक्ति मानने वाले इस बात को स्वीकार करते हैं वे कहते हैं कि अचेल दो तरह के होते हैं, एक जिसके पास चेल वस्त्र है अन्य वह जिसके पास वस्त्र नहीं है तीर्थंकर तो अचेल अर्थात् निर्वस्त्र होते है और शेष सचेल अर्थात सवस्त्र होते है तथा निर्वस्त्र भी होते हैं ऐसा वे मानते हैं यथा बृहत्कल्प-

दुविहो होंति अचेलो सता चेलो असंतचेलोय।
तित्थगर असतचेला सताचेला भवे सेसा॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्य लिखते हैं कि, जिनशासन में वस्त्रधर सिद्ध नहीं होता वह वस्त्रधर चाहे तीर्थंकर ही क्यों न हो। मोक्षका मार्ग नग्न है, इसके अलावा शेष सब उन्मार्ग हैं, यथा सूत्रपाहुड़—

हरिहरतुल्लोवि णरो, सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।
तहवि ण पावइ सिद्धिं, संसारत्थो पुणो भणिदो ८।

यानी ऐसा वस्त्रधारी मुनि हरिहरादिकों के समान महा पराक्रमी है वह करोड़ों बार स्वर्ग ही जाता है जन्ममरण के चक्रावर्त में परिभ्रमण करता है उसको सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। षट्पाहुड़ ग्रन्थे यथा—

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो, सेसा य अमग्गया सव्वे॥

निर्वस्त्र यानी नग्नमुद्रा स्वीकार करना और अपने पाणिपुट में पर कर दिये हुये अन्नग्रहण करने को जिनागम में निर्ग्रंथ दीक्षा कहा है यही एक अद्वितीय मोक्ष मार्ग हो सकता है और शेष सब कपोलकल्पित उन्मार्ग हैं। पात्रकेशरी स्तोत्र यथा—

जिनेश्वर! न ते मतं पटकवस्त्रपात्रग्रहो,
विमृश्य सुखकारणं स्वयमशक्तकैःकल्पितः।
अथायमपि सत्पथस्तव भवेद् वृथा नग्नता,
न हस्तसुलभे फले सति तरुःसमारुह्यते।४१।

यदि वस्त्र आदि के पहने हुये भी मुक्ति हो सकती तो वस्त्र त्याग कर नग्न होना बुद्धिमानी नहीं है। जो कार्य वस्त्र धारण करने से हो सकता है उसको प्राप्त करने के लिये वस्त्र त्यागना यह कोई उचित मार्ग नहीं है। वृक्ष के जो फल भूमि पर खड़े खड़े ही हाथ से तोड़े जा सकते हों तो उन फलों को तोड़नेके लिये वृक्ष पर चढ़ना बुद्धिमानी नहीं है।

आचार्य शिवकोटि ने औत्सर्गिकलिङ्ग के चार भेद कहे हैं:--एक आचेलक्य, दूसरा लोच, तीसरा व्युत्सृष्टशरीरता और चौथा प्रतिलेखन यथा—

अचेलक्क लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलहणं।
एसोहु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे॥८०॥

हां स्त्रियां रह गई हैं उनके भी मरण काल में कौन सा लिंग होता है सुनिये स्त्रियों के अर्थात आर्यिकाओं के और श्राविकाओं के जो मरणकाल में परिग्रह कम करना चाहती हैं उनके भी औत्सर्गिक-लिंग होता है। यथा—

इत्थीविय जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करंतीए॥८१॥

टीकाकार 'स्त्री' शब्द का अर्थ तपस्विनी और

'इतर' शब्द का अर्थ श्राविका करते हैं और कहते हैं कि जो स्त्रियां महर्द्धिक हैं लज्जावती हैं और मिथ्या-दृष्टि जिनके बंधुवर्ग हैं उनके 'प्राक्तन अपवादलिंग ही होता है, इनके अलावा औरों के मरणकाल मे वसतिका में वह औत्सर्गिकलिंग भी होता है।

बाईस परीषहों के अंदर नग्न परीषह भी बताई है जिसका स्वरूप तत्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में बतलाया है।

यथा—जातरूपवन्निष्कलंकजातरूपधारणमशक्य-प्रार्थनीयं याचनरक्षणहिंसनदोषविनिर्मुक्तं निष्परि-ग्रहत्वान्निर्वाणप्राप्ति प्रत्येकं साधनमनन्यबाधनं-नाग्न्यं बिभ्रतो मनोविक्रिया विप्लुति विरहात् स्त्री-रूपाण्यत्यन्ताशुचिकुणपरूपेणभावयतो रात्रिन्दिवं ब्रह्मचर्यमखण्डमातिष्ठमानस्याचेलव्रतधारणमनवद्यम--वगन्तव्यम्।

अर्थात्-निर्ग्रंथ व्रत है वह अचेलक और यथाजातरूप है और निष्परिग्रह होने से मोक्ष प्राप्ति का कारण है। इसके बिना मोक्ष नहीं है सो जानना।

इस व्रत को पालने में उनको महान कष्ट सहन करना पड़ता है अर्थात् निर्विकार अवस्था करनी पड़ती है। और 'मैं नग्न हूं' ऐसा उनको प्रतीत होता है। तथा परम ध्यान लवलीन रहते हैं एव अपने को परम चिद्रूप चिदानंद मूर्ति ही समझते हैं। अर्थात् 'मै हूं सो ही परमात्मा है, परमात्मा है सो ही मैं हू' ऐसी उज्वल भावना धारण करते हुये पृथिवी तलपर परमात्मा के सदृश विहार करते हैं। इसलिये ये नग्न परीषह निर्ग्रंथता की पुष्टि करता है। और सवस्त्रमुक्ति का सर्वथा निषेध करता है। अतएव यह नग्न परीषह साधुओं के लिये अनिवार्य है।

नग्नत्व अचेल से परिपूर्ण होता है क्योंकि नग्न अवस्था न रहने से शीत, उष्ण, डांस, मच्छर, आदिकों से उत्पन्न संताप को सहना पड़ता है। इन परीषहों का सहन करना शास्त्रों में साधुओं को बत-लाया है और इनका पालन करना साधुओ के लिये नितांत आवश्यक है। इनके पालन बिना साधु नहीं हो सकता और साधुत्व बिना मुक्ति नहीं।

प्रोफेसर साहब लिखते हैं कि—'तत्वार्थसूत्र अ० ९वां सूत्र ४६ मे मुनि का लक्षण पांच प्रकार का है और इन पाचो निर्ग्रंथो मे भेद किया है और यह भी लिख दिया है कि मुनि वस्त्र धारण कर सकते हैं और सवस्त्र से भी मुक्ति होती है और निर्वस्त्र से भी मुक्ति होती है।' तत्वार्थ सूत्र १० अध्याय के सूत्र ९ के आधार से आपने उसके अनुकूल प्रमाण भी दे दिया है। यथा—

निर्ग्रंथलिंगेन-सग्रंथलिगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया

आपने जितने भी प्रमाण दिये हैं सो अनुचित व अप्रमाण हैं देखिये—

प्रस्तुत पांचो प्रकार के साधु (पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ, स्नातक) निर्ग्रंथ ही हैं। सर्वार्थसिद्धि टीका (अ० ९ सूत्र ४६) मे स्पष्ट लिखा है कि,

"त एते पंचापि निर्ग्रंथा चारित्रपरिणामस्य प्रक-र्षाप्रकर्षभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिनयापेक्षया सर्वेऽपि ते निर्ग्रन्था ज्ञेयाः"।

इसका अर्थ यह है कि ये पांचो मुनिराज सकल-संग परित्यागी अर्थात् दिगम्बर हैं। बाह्य और आभ्यन्तर की अपेक्षा से कुछ चारित्र मे वृद्धि, कमी होने परभी पांचोंमुनि सम्यग्दृष्टि और निर्ग्रंथ ही हैं।

कैसे ? सो देखिये—

पुलाक मुनि को क्वचित् कदाचित् (कहीं कभी)

बलात्कार से अथवा दुर्जनों द्वारा उपसर्ग आदि होने से इन पांच महाव्रतोंमें कुछ दोष लगता है न कि अपनी इच्छा से। और उपसर्ग शांत होने पर प्रायश्चित्त से शुद्ध होकर फिर अपने अट्ठाईस मूलगुणों को पालने में तत्पर रहता है। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डांस मच्छर आदि परीषहों को सहन करते हुये इससे आगे जो उत्तरगुण हैं, उनको पालनेकी भावना रखता है लेकिन पाल नहीं सकता। उत्तरगुण न पालने से मुनिपना नहीं रहता यह बात नहीं है। मुनियों के लिये अट्ठाईस मूलगुण पालना आवश्यक है। इस प्रकार पुलाक मुनि का लक्षण है।

वकुश मुनि दो प्रकार के होते हैं उपकरण वकुश और शरीर वकुश। उपकरण वकुश मुनिके मन में कमण्डलु, शास्त्र, पीछी को साफ उज्वल रखने आदि का मोह रहता है। इसके सिवाय और उनमें कोई दोष नहीं है। नोकषाय का कुछ उदय होने से ऐसे सजावट के परिणाम हो जाते हैं।

शरीर वकुश जो संघ की वैयावृत्य आदि करने के हेतु से अथवा पठन पाठन आदि करने के हेतु से एकान्तर वेला तेला उपवासादि नहीं करता है, केवल दिन में आगमानुसार एकबार खड़ा होकर आहारादि ग्रहण करता है इसमें कमी वेशी नहीं करता है तथा घुटने से ऊपर पैर अथवा हाथ धोने का निषेध है किन्तु वह मुनि घुटनेसे ऊपर हाथ पैर धोता तो नहीं है किन्तु गीले हाथों से घुटने के ऊपर के शरीर पर उष्णता गर्मी के कारण से हाथ फेरता है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ शरीर का संस्कार नहीं करता है।

कुशील मुनि के भी दो भेद हैं, एक प्रतिसेवन कुशील, दूसरा कषाय कुशील। प्रतिसेवन कुशील मुनि के उत्तरगुणों में कभी कारणवश दोष लगता है जैसे वृक्षमूल आतापन वगैरह कार्योंमें, इसके सिवाय इसमें और कुछ दोष की सम्भावना नहीं रहती।

कषाय कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक इन तीनों में कोई दोष नहीं है। किन्तु कषाय कुशील से निर्ग्रन्थ मुनि की अवस्था ऊंची है। गुणस्थान, सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इन पांचों की अपेक्षा से पांचों में भेद है। इसके सिवाय और कोई मौलिक भेद नहीं हैं अतः ये पांचों सम्यग्दृष्टि, निर्ग्रंथ दिगम्बर होते हैं। कुछएक दो भव लेकर और कुछ उसी भव से मोक्ष जाते हैं। इस प्रकार नय निक्षेप प्रमाण इत्यादिकों से ग्रन्थ यथार्थ समझे बिना अर्थ विसंगत और विपरीत बैठ जाता है।

राजवार्तिक पृष्ठ ३५८ पर स्पष्ट लिखा है:—

कश्चिदाह—यथागृहस्थः चारित्र-भेदान्निर्ग्रंथव्य-पदेशभाग् न भवति तथा पुलाकादीनामपि प्रकृष्टा-प्रकृष्टमध्यमचारित्रभेदान्निर्ग्रंथत्वं नोपपद्यते।

न वैष दोषः, कुतः-यथा जात्या चारित्राध्ययनादि भेदेन भिन्नेषु ब्राह्मणशब्दोवर्तते तथा निर्ग्रंथशब्दोऽपि। किं च—सम्यग्दर्शनं निर्ग्रंथरूपं च भूषावेशायुधविर-हितं तत्सामान्ययोगात्सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रंथ-शब्दो युक्तः।

यदि भग्नव्रतेऽपि निर्ग्रंथशब्दो वर्तते श्रावकेऽपि स्यादित्यतिप्रसङ्गः।

नैष दोषः, कुतो रूपाभावात्, निर्ग्रन्थरूपमत्र नः प्रमाणं, न च श्रावके तदस्तीति नातिप्रसङ्गः।

स्यादेतत्, यथारूप प्रमाणं अन्यस्मिन्नपि सरूपे निर्ग्रन्थव्यपदेशः प्राप्नोतीति।

तन्न किं कारणं ?

दृष्ट-यभावात्, दृष्ट-या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रंथ-व्यपदेशः, न रूपमात्रे, इति।

पाठक महोदय भगवान् अकलंकाचार्य के वाक्यों पर गौर कीजिये वे पांचों पुलाकादिकों को सम्यग्दर्शन और निर्ग्रंथरूप से युक्त मानते हैं, वस्त्रधारी श्रावकों को वे निर्ग्रंथ नहीं मानते, चाहे कौपीन मात्रधारी उत्कृष्ट श्रावक ही क्यों न हो। फिर धोती, दुपट्टे, कम्बल पहनने और ओढ़ने वालों की बात बड़ी दूर जा पडती है।

निर्ग्रंथ शब्द की व्याख्या भी वे भूषा, वेश, आयुध रहित करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पुलाकादि पांचों निर्ग्रंथ भूषा, अर्थात् आभूषणों से, वेष अर्थात् वस्त्रों से, आयुध अर्थात् शस्त्र अस्त्र आदि से रहित नग्न हैं।

फिर भी कमाल है कि प्रोफेसर जी कहते है 'सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक टीका के अनुसार कहीं भी वस्त्रत्याग अनिवार्य नहीं पाया जाता है। इत्यादि' आचार्य विद्यानन्दि तो स्पष्ट शब्दों में निर्ग्रंथ शब्द का अर्थ 'यथाजात, भूषा, वेष आयुध से रहित' करते हैं यथा—

निर्ग्रंथरूपं हि यथाजात-रूपमसंस्कृत भूषावेशा—युधविरहितम्।

श्लोकवार्तिक पृष्ठ ५०७।

भगवान अकलंकदेव और विद्यानन्द आचार्य की यह मान्यता गणधरगौतम की मान्यता के अविरुद्ध है।

देखिये चैत्यभक्ति पृष्ठ २३२।

हे भगवन्! आपका रूप रागभाव का उदय न होने से आभरण रहित होते हुये भी भासुर अर्थात् ऊंची शोभा को लिये हुये है। आपका स्वाभाविक रूप निर्दोष है इस लिये वस्त्र रहित होते हुए भी मनोहर है। आपका यह रूप न तो औरो के द्वारा हिंस्य है और न औरो का हिंसक है इसलिये आयुध रहित होने पर भी अत्यन्त निर्भय स्वरूप है। तथा नाना प्रकार की क्षुत्पिपासादि वेदनाओं के विनाश हो जाने से आहार न करते हुये भी तृप्तिमान है।

यथा—निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदया -
न्निरम्बरमनोहरं प्रकृतिरूपनिर्दोषतः।
निरायुधसुनिर्भयं विगतहिंस्यहिंसक्रमात्,
निरामिषसुतृप्तिमद्विविधवेदनानां क्षयात्॥३२॥

इस चैत्यभक्ति के श्लोक मे भगवान तीर्थंकर का स्वरूप आभरण रहित, वस्त्र रहित और आयुध रहित कहा गया है। तथा यह भी इस श्लोक मे कहा गया है कि 'भगवान कवलाहार से रहित हैं'। गणधरदेव ने भी भगवत्प्रतिमा का स्वरूप ऐसा लिखा है।

विगतायुधविक्रियाविभूषाः,
प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणाम्।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्या,
प्रतिमाः कल्मषशांतयेऽभिवन्दे॥१३॥

आयुध विकार आभूषणों से रहित अपने स्वरूप मे स्थित, कांतिकर अनुल्य, कृतकृत्य जिनेश्वरो की चैत्यालयो मे विराजमान प्रतिमाओ की मैं गौतम वन्दना करता हू। अर्थात् जैसे जिनेश्वर का स्वरूप व उनकी प्रतिमा का जैसा स्वरूप है वैसा ही उनके शिष्य-प्रशिष्यो का स्वरूप होना चाहिये इसमें आश्चर्य क्या?

भर्तृहरि लिखते हैं—

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शांतिश्चिरं गेहिनी,
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनस्संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्,

ह्यते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्वयं योगिनः ॥

हम प्रोफेसर जी से पूछते हैं कि अपवादलिंग का धारक शुद्ध होता है या नहीं? यदि होता है तो किस उपाय से? उत्तर देखिये—

अववादियलिंगकदोवि सत्तिं, अगूहमाणोय।
णिंदणगरहण जुत्तो उवधिं परिहरंतो ॥८७॥

विजयोदया टीका—अचेलक्कं गदं। अववादियलिंगकदो वि अपवादलिंगस्थोऽपि। करोति स्थानार्थेवृत्तिरिह परिगृहीतः। यथा च प्रयोगः एवं च कृत्वा एव च स्थित्वेत्यर्थं शुध्यति च। कर्ममलापायेन शुध्यति। कीदृक् सन् यः स्वां शक्तिं, अगूहमानः सन परिग्रहं परिहरंतो परित्यजन् योगत्रयेण। सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गः मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिकः परिग्रहः परीषहभीरुणा गृहीतः, इत्यन्तःसंतापो निंदा ताभ्यां युक्तः निंदागर्हाक्रियापरिणतः इति यावत्।

उक्त सब गाथाओं में अचेलता का कितना ऊंचा माहात्म्य दिखाया है। जो माहात्म्य अचेलता में है वह सचेलता मे नहीं है यह बात भी अचेलता के माहात्म्य से स्पष्ट हो जाती है। 'मुक्ति का उपाय भी अचेलता, नग्नता, निर्वस्त्रता ही है इससे विपरीत अ—नग्नता, यानी सवस्त्रता मुक्ति का उपाय नहीं है।' यह बात उक्त गाथा सूत्रो पर से तथा विजयोदया टीका पर से निर्भ्रान्त सिद्ध होती है। जो महोदय भगवती आराधना के अपवादलिंग से मुक्ति कह रहे हैं, उन्हें भगवती आराधना शास्त्र को कम से कम देखना तो चाहिये।

अपवादलिंगधारण करनेवाले आर्यादिक अर्थात ऐलकादिक शुद्ध नहीं होते हैं क्या? ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर 'उनकी भी शुद्धि आगे कहे गये क्रम से होती है' ऐसा आचार्य कहते हैं। अपवादलिंग—धारी ऐलकादिक भी अपनी चारित्र धारण शक्ति को न छिपाते हुए कर्ममल निकल जाने पर शुद्ध होते हैं क्योंकि वे अपनी निंदा, गर्हा इत्यादि करते हैं और मन वचन शरीर ऐसे तीनों योगपूर्वक परिग्रह त्याग करते हैं। 'सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना ही मुक्ति का मार्ग है, परन्तु परीषहों के भय से पापोदय से मैं ने वस्त्र परिग्रह का ग्रहण किया है ऐसी मनमे वह निंदा करता है तथा गुरु के समीप अपनी निंदा करता है, निन्दा और गर्हा ऐसे दो परिणामों से युक्त होकर परिग्रह अल्प करता है। अतएव उसकी पूर्व कर्म की निर्जरा होकर आत्मशुद्धि होती है।

टीकाकार अपराजित सूरि निंदा गर्हा को निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट स्पष्ट करते हैं।

सकलपरिग्रहत्यागो मुक्तेर्मार्गो मया तु पातकेन वस्त्रपात्रादिकः परिग्रहः परीषहभीरुणा गृहीत इत्यंतः सन्तापो निन्दा।'

अर्थात—सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग मुक्ति का मार्ग है। मुझ परीषह भीरु पापीने वस्त्र पात्र आदि परिग्रहण कर रखा है।

अब पाठक सोचिये यदि अपवादलिंग में मुक्ति प्राप्ति का गुण होता तो मूलकर्ता शिवार्य क्यों उसकी निन्दा-गर्हा का विधान करते और विजयाचार्य क्यों उसे स्पष्ट करते। जब परिग्रह से मुक्ति हो सकती है तो शिवार्य उसका त्याग क्यों कराते हैं और नग्नता का इतना स्पष्ट रीत्या गुणगान करते-हुये उसे मुक्ति का मार्ग क्यो मानते हैं?

भगवतीकार यों तो महर्द्धिक आदि मनुष्यों को और स्त्रियों को अपवादलिंग धारण करने का और मरणकाल में उन्हें उत्सर्गलिंग प्रदान करने का विधान कर गये हैं तथा सामान्यतः अविरत अर्थात

श्रावकों के अपवादलिंग का भी विधान कर गये हैं। परन्तु स्पष्ट सरल शब्दो मे उनका नाम ग्रहण कर रहे हैं। टीकाकारभी प्रायः उनके अनुकूल प्रतीत हो रहे हैं। हा, 'तपस्विनीनां और श्राविकाणां' इन पदो का प्रयोग वे अवश्य करते हैं इस से यह विदित होता है कि अपवादलिंगधारी तपस्विनी, और उत्कृष्ट श्राविका होती है। 'इससे अपवादलिंग के दो भेद सूचित हो जाते हैं।

सारांश यह निकलता है कि उत्सर्गलिंग के धारी मुनि होते है तथा अपवादलिंग के धारी उत्कृष्ट श्रावक, श्राविकाएं और आर्यिकाएं होती है। इस प्रकार अपवादलिंग के दो भेद हो जाते हैं एक उत्कृष्ट श्रावकलिंग और दूसरा आर्यिकालिंग।

भगवती आराधना का यह उपदेश कुन्दकुन्द प्रभृति के उपदेश का ही अनुसरण करता है कुंद-कुंददेव भी कहते है कि एक लिंग तो जिनेन्द्र का नग्न रूप है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावको का रूप है और तीसरा आर्यिकाओ का रूप है इन तीन लिंगो को छोड़ कर जिनागम में अन्य कोई चौथा लिंग नहीं है। यथा—

एगं जिणस्स रूवं वीयं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुणलिंग दंसणे णत्थि॥

तब कहिये ! मुक्ति पहुचानेवाला वस्त्रधारी चौथा लिंग कहां से आया यह समझ मे नहीं आता। कुन्द-कुन्दाचार्य उत्सर्ग और अपवाद भेद न करके उन्हीं के जिनलिंग, उत्कृष्ट श्रावकलिंग और आर्यिकालिंग ऐसे तीन भेद करते है इसलिये दोनों आचार्यों के शासन मे शब्द भेद छोड़कर अर्थ भेदमे अविरोध है यह बात सिद्ध हुई। अशाधर जी का प्रमाण—

यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिंगमुक्तं जिनैः स्त्रियाः।
पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः॥३८॥

टीका—यल्लिंगमौत्सर्गिकमन्यद्वा पदादिकं स्त्रिया जिनैरुक्त तन्मृत्युकाले तस्या स्वल्पीकृतोपधेः विविक्त-वसत्यादिसम्पत्तौ सत्यां वस्त्रमात्रमपि त्यक्तवत्याः श्रुतज्ञैरिष्यते अभिमन्यते। कस्येव पुंवत्। अयमर्थः पुंसोयदौत्सर्गिकलिंगम्य मृत्यावौत्सर्गिकमेवलिंगमिष्यते आपवादिकलिंगस्य चानन्तरमेव व्याख्यात-प्रकारं तदा योषितोपि।

अब औत्सर्गिकलिंगके गुण बतलाते हैं जो भगवती आराधना के कर्ता शिवकोटि के द्वारा कहे गये हैं। लिंगग्रहण मे यह गुण हैं—

यात्रासाधन चिह्नकरण यह पहला गुण है, इसको टीकाकार इन शब्दो मे स्पष्ट करते हैं कि यात्रा नाम शरीरकी स्थितिका कारणभूत भोजन क्रिया है उसका साधन चिह्न लिंग है क्योंकि गृहस्थ वेशमे भी जिनके समस्त उपधि परिग्रह नष्ट हो चुके हैं ऐसे स्त्रीजीव को भी मृत्यु समय मे ग्रहण करने के लिये कुछ हर्ज नहीं है, इस प्रकार शास्त्रज्ञ मुनिको सम्मत है। इसका खुलासा आगे की गाथा मे किया जायगा।

जत्तासाधणचिह्नकरणं खु जगपच्चयादठिदिकरणं।
गिहभावविवेगोवि य लिंगग्गहणे गुणा होंति॥७२॥
—भगवती आराधना

विजयोदया—यात्रा शरीरस्थितिहेतुभुजि क्रिया। तस्याः साधन यल्लिंगजात तस्य करणं। न हि गृहस्थ-वेषेण स्थितो गुणी इति सर्व जनताधिगम्यो भवति। अज्ञातगुणविशेषश्च दान न प्रयच्छति। ततो न स्याच्छरीरस्थितिः। असत्या तस्या रत्नत्रयभावना-प्रकर्षः क्रमेणोपचीयमानो न स्यात्। विना तं न मुक्तिरित्यभिलपितकार्यसिद्धिरेव न स्यात्। गुणव-त्तायाः सूचनं लिंगं भवति। ततो दानादिपरम्परया

कार्यसिद्धिर्भवतीति भावः। अथवा यात्राशब्दो गति-वचनः यथा देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम्। गतिसामान्यवचनादप्ययं शिवगतावेव वर्तते। दारकं पश्यसीति यथा यात्रायाः शिवगतेः साधनं रत्नत्रयं तस्य चिह्न-करणं ध्वजकरणं। जगच्छब्दोऽत्र चेतनाचेतनद्रव्य-संहतिवचनो 'जगन्नैकावस्थं युगपदखिलानन्तविषयम्' इत्येवमादौ। इह प्राणिविशेषवृत्तिः। यथा-अर्हत-स्त्रिजगद्वंद्यान्' इति। प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः। क्वचि-ज्ज्ञाने वर्तते यथा—'घटस्य प्रत्ययो' घट—ज्ञानमिति यावत्। तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययो-ऽनन्तः संसारः' इति गदिते मिथ्यात्वहेतुकः इति प्रतीयते। तथा श्रद्धावचनोपि 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' श्रद्धेति गम्यते। इहापि श्रद्धावृत्तिः जगतः श्रद्धेति। ननु श्रद्धा प्राणिधर्मः अचेलादिकं शरीरधर्मो लिंगं तत्किमुच्यते 'लिंगं जगत्प्रत्ययः' इति। सकलसङ्ग-परिहारो मार्गो मुक्ते' इत्यत्र भव्यानां श्रद्धां जनयति। लिंगमिति जगत्प्रत्यय इत्यभिहितं। न चेत्सकल-परिग्रहत्यागो मुक्तिलिंगं किमिति नियोगतोऽनुष्ठी-यते इति।

आत्मनः स्वस्य अस्थिरस्य स्थिरतापादनं। क्व? मुक्ति वर्त्मनि व्रजने। किं मम परित्यक्तवसनस्य रागेण, रोषेण, मानेन, मायया, लोभेन वा। वस-नामेसराः सर्वा लोकेऽलंक्रियाः तच्च निरस्तं। को मम रागस्यावसर इति। तथा परिग्रहो निबंधनं कोपस्य। तथा हि पित्रा सुतो युध्यते धनार्थितया ममेदं भवति तवेदमिति। तत्किमनेन स्वजनवैरिणा रिक्थेन, लोभं, आयासं, पापं, दुर्गतिं च वर्द्धयताइति सकलः परित्यक्तो वसनपुरःसरः परिग्रहो रोष-विजि-तये। हसन्ति च मां परे साधवो रोषमुपयातम्। कोयमवसनता मुमुक्षोः कायमस्य कोपहुताशनः ज्ञान-जलसेकपरिवृद्धतपोवनविनाशनबद्धविभ्रम इति। तथा च माया धनार्थिभिः प्रयुज्यते साच तिर्यग्गतिं प्रापय-तीति भीत्वा मायोन्मूलनायैवेदमनुष्ठितम्।

अर्थ—उत्सर्गलिंग अर्थात् नग्नता यह यात्रा का साधन है अर्थात् शरीर स्थिर रहने के लिये कारणी-भूत जो आहार उसकी प्राप्ति होने के लिये कारणरूप चिह्न है। गृहस्थवेश से ही यदि भिक्षु भी रहने लगें तो 'यह गुणी है' ऐसे न समझे जायेंगे तथा उनका आदर न होगा। गृहस्थ वेश से उनके विशिष्ट गुण ज्ञात न होने से गृहस्थ उनको दान न देंगे। दान न मिलने से उनके शरीर की स्थिरता न होगी। शरीर-स्थिति के विना रत्नत्रय भावनाका प्रकर्ष कैसे होगा?

रत्नत्रय के प्रकर्ष से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है उसके बिना वह मुक्ति न मिलेगी। अत एव अभि-लषित कार्य अर्थात् मुक्ति प्राप्ति गृहस्थ वेश से होती नहीं। इसलिये यह नग्नता गुणीपना का सूचक चिह्न है। इस नग्नता गुण से दानादि कार्य परम्परा की सिद्धि होती है। अथवा यात्रा सामान्य गति वा-चक है जैसे 'देवदत्तस्य यात्राकालोऽयम्' अर्थात् यह देवदत्त का गमनकाल है। यहां यद्यपि यात्रा शब्द सामान्य गति वाचक है तो भी प्रस्तुत प्रकरण में वह शिवगति—मोक्ष गमन इस अर्थ में रूढ़ समझना चाहिये 'दारक पश्यसि' इस वाक्य में दारक शब्दका सामान्य अर्थ लड़का ऐसा होने पर भी जो लड़केको देख रहा था उसका हो वह लड़का है ऐसा अभिप्राय सिद्ध होता है उसी तरह 'जत्तासाधणचिह्नकरणं' इस समुच्चय का अर्थ यात्रा का अर्थात् मोक्ष गति का साधन रत्नत्रय उसका नग्नता यह लिंग ध्वज के समान है।

इस लिंग मे जगत्प्रत्ययता यह गुण है 'जगत्प्र-

त्यय:' अर्थात् सर्व जगत की इसके ऊपर श्रद्धा होती है। चेतन अचेतनरूप सम्पूर्ण द्रव्य समूहको जगत कहते हैं ऐसा अन्य प्रकरण मे जगत शब्द का अर्थ होगा। 'जगन्नैकावस्थं युगपदखिलानन्तविषयम्' अर्थात चेतनाचेतनरूपी इस जगत की एक अवस्था नहीं है, यह सम्पूर्ण और अनन्त पर्यायो को धारण करने वाला है। परन्तु प्रस्तुतप्रकरणमे जगत शब्द का अर्थ प्राणि विशेष ही करना चाहिये। जैसे अर्हन्तस्त्रिजगद्वन्द्यान्' अर्थात् इंद्र, देव, मनुष्य व सिंहादितिर्यंच ऐसे विशिष्ट प्राणियो से वंदनीय जिनेश्वर को हम नमस्कार करते हैं। यहां जगत शब्द का 'विशिष्ट प्राणी' ऐसा अर्थ होता है। प्रत्यय शब्द के भी अनेक अर्थ होते है जैसे 'घटस्य प्रत्यय:' यानी घट का ज्ञान, यहां प्रत्यय शब्द कारण वाचक भी है जैसे 'मिथ्यात्वप्रत्यय: अनन्तसंसार:' अर्थात् इस अनन्तसंसार का मिथ्यात्व कारण है। प्रत्यय शब्द का 'श्रद्धा' ऐसा भी अर्थ होता है जैसे 'अयं अत्रास्य प्रत्यय:' इस मनुष्य की इसके ऊपर श्रद्धा है। यहा प्रस्तुत प्रकरण में प्रत्यय शब्द का 'श्रद्धा' यह अभीष्ट अर्थ है। साधुको नग्नता देखकर उनमे सब जगत का श्रद्धान होता है ऐसा जगत्प्रत्यय शब्द का अभिप्राय समझ लेना चाहिये।

शका—श्रद्धा प्राणियों का स्वभाव है और अचेतनादिक शरीर का धर्म है अतएव लिंग का जगत्प्रत्यय यह विशेषण कैसे उपयुक्त है?

उत्तर—सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग ही मुक्ति का मार्ग है ऐसी नग्नता देख कर श्रद्धा उत्पन्न होती है अतएव लिंग का यह विशेषण सार्थकहै, सम्पूर्ण परिग्रह त्याग ही मुक्ति का लिंग यदि नहीं होता तो नियोग से क्यो उसकी आराधना की जाती है?

नग्नता में 'आदर्ठिदिकरण' नामक एक गुण है 'अपने मे अस्थिरता को निकाल कर स्थिरता उत्पन्न करना' यह आदठिदिकरण इस शब्द का अर्थ है, मुक्ति मार्ग में प्रयाण करने में स्थिर होना ऐसा इस का अभिप्राय है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मुनि विचार करते है मैंने वस्त्र का त्याग किया है अतएव राग, द्वेष, अभिमान, माया और लोभ इनसे मेरा क्या प्रयोजन है? वस्त्र की इच्छा ही अलङ्कार आदि इच्छाओ को प्रगट करती है अर्थात वस्त्र यदि पास होवे तो अलङ्कारादिक भी मुझे मिलेंगे तो अच्छा ही होगा ऐसी इच्छा होती है मैंने, वस्त्र ही फैंक दिया है अब रागभावना से मेरा क्या प्रयोजन है ऐसा विचार करते हैं।

तथा परिग्रह क्रोध उत्पत्ति का कारण है धन की आवश्यकता पडने पर पुत्र भी अपने पिता से लड़ता है यह धन मेरा है यह धन तेरा है इस रीति से झगड़ा करता है, अतएव स्वजनो मे वैर उपस्थित करने वाले धन को लेकर मैं क्या करू? यह परिग्रह लोभ, आयास, पाप व दुर्गति को उत्पन्न करता है इसलिये मैंने वस्त्र प्रमुख समस्त परिग्रह को इस क्रोध को जीतने केलिये छोड़ दिया है, मैं यदि रोषवश होऊं तो मुझे इतरसाधु हसेंगे, वे कहेंगे देखिये इनकी नग्नता और देखिये इनकी कोपाग्नि। यह कोपाग्नि ज्ञान जलसे सींचा और वृद्धिगत हुआ, ऐसे तपरूपी वन का नाश करने केलिये तयार हुआ है।

धनिक लोग सदा कपट व्यवहारमे लगे रहतेहैं। वह उनको तिर्यग्गति में पटकता है। अतएव ऐसे घोर कपट से भयभीत होकर उसका नाश करने के लिये ही मैंने यह मुनिपद धारण किया है, ऐसा विचार मुनि मन में करते है। अतएव नग्नता

आत्मस्थिति करण गुणों को उत्पन्न करती है, ऐसा कहना युक्तिसङ्गत है इस नग्नता से मुनि गृहस्थों से भिन्न है ऐसा भी व्यक्त होता है।

गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्त च।
संसज्जणपरिहारो परिकम्मविवज्जणाचेव ॥८३॥

टीका—गथच्चाओ परिग्रहत्याग:। लाघव हृदय-सम रोपित—शैल इव भवति परिग्रहवान् कथमिद-मन्येभ्य श्चौरादिभ्यः पालयामि इति दुर्धरचित्तखेद-विगमाल्लघुता भवति।

अर्थ—ग्रन्थत्याग लाघव, अप्रतिलेखन, गतभय-त्व, समर्गपरिहार, परिकमविवर्जन ऐसे गुण मुनि-लिंग मे समाविष्ट हुए हैं।

ग्रन्थत्याग—मुनिलिंग धारण करने से परिग्रह त्याग होता है, लाघव—परिग्रहवान मनुष्य को परि-ग्रह छाती पर रखे हुये पर्वत से समान बहुत कष्टप्रद होता है, परन्तु जो परिग्रह रहित है उसको अपने ऊपर से बड़ा भारी परिग्रह का बोझ उतर गया सा ज्ञात होता है। अतएव मुनिलिंग में लाघव गुण है यह बात सिद्ध हो जाती है। इस परिग्रह का मैं चोर आदि से कैसे रक्षा करूं? ऐसी चिंता निष्परिग्रही को नहीं होती, अतएव तद्विषयक खेद का नाश होने से लघुता गुण प्राप्त हो जाता है।

अप्रतिलेखन—जो सवस्त्र लिंग धारण करते हैं उनको वस्त्रखण्डादिक को बहुत शोधना पड़ता है परन्तु मयूरपिच्छि मात्र जिनके पास है उनको बहुत सोधने की आवश्यकता नहीं रहती है अतएव अप्रति-लेखन गुण उनको प्राप्त होता है।

परिकर्मवर्जना—वस्त्रके विषयमें याचना करना, उसको सीना, धूप मे सुखाना, जल से धोना, वगैरह अनेक क्रियायें करनी पड़ती है, तपध्यान, स्वाध्याया-दि कार्य में विघ्न उपस्थित होता है परन्तु जो मुनि अचेल हैं वस्त्र के त्यागी हैं उनको याचनादि कार्य नहीं करने पड़ते हैं। अतएव उनके ध्यान स्वाध्याया-दि क्रियायें निर्विघ्न होती रहती हैं।

गतभयत्व—निर्वस्त्र मुनीश्वरको परिग्रह न होने से भय नही रहता भय से जिसका चित्त व्याकुल हो उठा है उसकी रत्नत्रय में प्रवृत्ति नहीं होती, सवस्त्र मुनि वस्त्र में यूकादि सम्मूर्च्छन जीवों का परिहार करने के लिये व्याकुल रहता है किन्तु निर्वस्त्र मुनि के पास वस्त्रही नहीं अत: जूं आदि सम्मूर्च्छन जीवो का परिहार करने की उसमें आकुलता भी नहीं यह भी इसमें विशेषता है।

परीषहअधिवासना—नग्नमुनि शीत उष्ण, दंश-मशकादि परीषह सहन करते हैं किन्तु वस्त्रवेष्टित यति को शीतादि वाधा नहीं होती अतएव वे शीतादि परीषह विजयी नहीं है पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा करने के लिये परीषह सहन करने चाहिये ऐसा आ-गमवचन है इस लिये निर्जरार्थी मुनियों को परीषह सहन करनी चाहिये।

विस्सासकरं-रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा,परिसहअधिवासणा चेव ॥८४॥

टीका—विश्वासकारि जनानां रूप अचेलता-त्मकं। एवं असङ्गा नैतेऽन्यद्गृह्णन्ति नापि परोपघात-कारि शस्त्रग्रहणं प्रच्छन्नमात्र सम्भाव्यते। विरूपेसु चामीषु नास्मदीयाः स्त्रियो रागमनुबध्नतीति। अणा-दरो विसयदेहसुक्खेसु। विषयजनितेषु शरीरसुखेषु प्रेताकारस्य किं मम वामलोचनाविलोकितेन। तासां कलगीतश्रवणेन। ताभिर्जुगुप्सनीयस्य शरीरस्य का वा रतिक्रीडेति भावना चैवानादरः अथवा शरीर सुखे विषय सुखे-चानादरः। विषयसुखव्यतिरेकेण न

शरीरसुखं, नाम किंचिदिति चेत् शरीरदुःखाभावः शरीरसुखं । इन्द्रियविषयसन्निधानजनिता प्रीतिर्विषयसुखमिति महाननयोर्भेदः । सव्वत्थ सर्वस्मिन्देशे, अप्पवसदा आत्मवशता । स्वेच्छया आस्ते, गच्छति, शेते वा । इहासनादिकरणे इदं मम विनश्यति वस्त्विति तदनुरोधकृता परतन्त्रता नास्ति संयतस्य । परिग्रह विनाशभीरुरात्मनोऽयोग्येपि उद्गमादिदोषोपहते प्राणिसंयमविनाशकारिणि वा आसनस्थानशयनादिकं सपादयति । त्रसस्थावरबाधामावहता वर्त्मना-व्रजति । एतद्दोषपरिहारोऽसंगस्य भवति । परीसह अधियासणा चेव पूर्वोपात्तकर्मनिर्जरार्थिना यतिना सोढव्याः परीषहाः नियोगेन क्षुदादयो बाधाविशेषः द्वाविंशतिप्रकारः तत्रायं सामान्यवचनोऽपि परीषह-शब्दः प्रकरणादचेलाख्यात्तदनुरूपपरीषहवृत्तिर्ग्राह्यः । तेन नाग्न्य-शीतोष्ण-दंशमशकपरीषह-सहनमिह कथितं भवति । सचेलस्य हि सप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्ण-दंशमशकजनिता पीड़ा यथा अचेलस्येति मन्यते ।

अर्थ—निर्वस्त्रता ही विश्वास उत्पन्न करानेवाली है इसका कोई हरण नहीं करता । निर्वस्त्र मुनि के पास शस्त्रादिक छिपे हुये नहीं रह सकतेहैं । अर्थात् शस्त्रादि परोपघातक वस्तु उनके पास रहती भी नहीं है, अतएव उनके ऊपर लोगो का विश्वास उत्पन्न होता है, वस्त्ररहित होने से विरूप ही दीखने वाले मुनियो पर स्त्रियां मोहित नहीं होती हैं । अतएव उन पर लोग विश्वास करते हैं ।

अनादर—परिग्रह का त्याग करनेसे विषयजनित सुखो से आदर नष्ट होता है, 'मैं प्रेत के समान हूं' अतएव स्त्रियो की ओर देखना मुझे योग्य नहीं है, उनका मधुर गीत सुनना उचित नहीं है, मेरा शरीर ग्लानि उत्पन्न करने वाला है । अत उससे उनके साथ रतिक्रीड़ा करना क्या योग्यहै?' इस तरह भावनाओ से अनादर गुण उत्पन्न होता है, अथवा इस निर्वस्त्रता से शरीर सुख मे व विषयसुख मे अनादर उत्पन्न होता है । विषय सुख को छोड़कर शरीर सुख भिन्न पदार्थ नहीं है, इस प्रश्न का उत्तर इस तरह समझना कि शरीर के दुःखों का अभाव होना शरीर सुख कहलाता है । व इन्द्रियो के विषयों से जो मनमें प्रेम आल्हाद उत्पन्न होता है, वह विषय सुख है । इस प्रकार इन दोनों में महान भेद है ।

आत्मवशता—गुण भी प्राप्त होता है, मुनि के पास कोई परिग्रह न होने से वे स्वेच्छा से बैठते हैं, जाते हैं, तथा सोते हैं । बैठने में 'मेरी अमुक वस्तु नष्ट हुई, अमुक वस्तु मुझे चाहिये' इस प्रकार की चिन्ता उनको नहीं होती है, अतएव परिग्रह विषयक परतन्त्रता से वे छूट गये हैं मेरे परिग्रह का विनाश हो जायगा, ऐसा भय यदि मुनि को उत्पन्न हो जाय तो वे अपने को अयोग्य तथा उद्गमादि दोषों से सहित, प्राणिसयम का नाश करने वाले ऐसे आसन शयनादिको का सम्पादन करेंगे, परिग्रह को चौरादिक हरण करेंगे इस भीति से त्रस स्थावर जीवोंको जिसमें दुःख पहुचेगा ऐसे मार्ग से वे जायेंगे, किन्तु जो परिग्रह रहित हैं ऐसे मुनिराज उपर्युक्त दोष से अलिप्त रहते हैं ।

परिसह अधि आसणा—पूर्व कर्म की निर्जरा करने की इच्छा जिनको है ऐसे मुनिराज को परीषह सहन करने ही चाहिये । क्षुधादिक बाईस परीषह हैं, यद्यपि परीषह शब्द सामान्यतया प्रयुक्त किया है तो भी यहां अचेलत्व का प्रकरण होने से उनके अनुरूप परीषहो का ग्रहण हो जाता है, इस लिये नग्नता,

शीत, उष्ण, दशमशक, इतने परीषहों को सहन करना चाहिये ऐसा अभिप्राय सिद्ध हुआ। निर्वस्त्र-मुनि को शीत, उष्ण, दंशमशकों से जैसी पीड़ा होती है, वैसी वस्त्र ओढ़े हुये मनुष्य को नहीं होती है।

अचेलताया गुणांतरसूचनाय—

जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं।
इच्चेवमादिबहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ॥८५॥

टीका—जिणपडिरूवं जिनानां प्रतिबिंबं चेदं अचेललिंगं। ते हि मुमुक्षवो मुक्त्युपायज्ञा यद्गृहीत-वन्तो लिंगं तदेव तदर्थिनां योग्यमित्यभिप्रायः। यो हि यदर्थी विवेकवान् नासौ तदनुपायमादत्ते यथा घटार्थी तन्तुरित्येवमादीन्। मुक्त्यर्थी च यतिर्न चेल गृह्णाति मुक्तेरनुपायत्वात्। यच्चात्मनोऽभिप्रायस्योपाय-स्तन्नियोगत उपादत्ते, यथा चक्रादिकं तथा यतिरपि अचेलतां तदुपायतां वा अचेलताया जिनाचरणादेव ज्ञानदर्शनाचारयोरिव विरियायारो—वीर्यान्तराय-क्षयोपशमजनितसामर्थ्यपरिणामो वीर्यं, तदविगूह-नेन रत्नत्रयवृत्तिर्वीर्याचारः। स च पञ्चविधेष्वा—चारेष्वेकः स च प्रवर्तितो भवति। अचेलतामुद्वहता-ऽशक्यचेलपरित्यागस्य कृतत्वात्। परित्यागो हि पंचमं व्रतं तन्नाचरितं भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत्।

रागादिदोसपरिहरणं। लाभे रागोऽलाभे कोपः। लब्धेममेदंभावलक्षणो मोहः। अथवा मृदुत्वं दार्ढ्य-मित्येवमादिषु वसनाच्छादनगुणेषु रागो मृदुस्पर्श-नादिषु द्वेष इत्येषां परिहारः। इच्चेवमादि इत्येवमा-दयः बहुगा महांतः महाफलतया अच्चेलक्के अचेल-तायां सत्यां होंति याञ्चादीनतासंक्लेशादिपरिहारः आदिशब्देन गृहीताः।

अर्थ—जिनप्रतिरूप यह अचेलत्व का गुण है। मुक्ति प्राप्ति के अभिलाषी तीर्थङ्करों को मुक्ति का उपाय विदित था अतएव उन्हों ने जो लिंग धारण किया था वही मुमुक्षु मुनियों को धारण करना चाहिये। जो जिस वस्तु को चाहता है वह विवेक-वान् उसकी प्राप्ति के लिये जो उपाय हैं उनका ही आलम्बन करता है, उसके उपाय रूप न होने वाली वस्तु को वह ग्रहण नहीं करता। जैसे जिसको घट की चाह है तो वह मृत्पिण्ड, चक्र, इत्यादि कारकों को ही ग्रहण करेगा।

वह कदाचिदपि वस्त्रोत्पत्ति के कारण सूत आदि को स्वीकार न करेगा। उसी तरह वस्त्र मोक्ष प्राप्ति का उपाय नहीं है, अतएव मुमुक्षुजन उसका ग्रहण नहीं करते हैं।

जैसे श्री जिनेश्वरों ने ज्ञानाचार और दर्शना-चार धारण किये थे, वैसे उन्होंने नग्नता भी धारण की थी।

वीर्याचार—अचेलता से वीर्याचार गुण की प्राप्ति होती है। वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम होने से जो आत्मा में सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको 'वीर्य' कहते हैं इस वीर्य को न छिपाकर रत्नत्रय में प्रवृत्ति करना वीर्याचार है। जिसने अचेलता धारण की है उसने अशक्य वस्त्रत्याग को शक्य करके दिखाया है। यदि वस्त्रत्याग मुनियों ने नहीं किया तो परिग्रह त्याग नाम का पांचवा महाव्रत उन्होंने नहीं पाला है, ऐसा समझना चाहिये। सामर्थ्य होकर भी वस्त्रत्याग न करने से परिग्रहत्याग महाव्रत कैसे पाला जायगा?

रागादिदोसपरिहरण-यह भी गुण अचेलता से ही मिलता है, वस्त्र का लाभ होने से उसमें आसक्ति हो जाती है, उसकी प्राप्ति न होने से कोप होता है।

वस्त्र मिलने से 'वह वस्त्र मेरा है' ऐसी मोह भावना उत्पन्न होती है, अथवा ओढ़ने पहनने के वस्त्रों में मृदुता, दृढ़ता वगैरह गुण देख कर प्रेम उत्पन्न होता है, तथा उसके कठोरस्पर्श, जल्दी फट जाने से द्वेष पैदा होता है। वस्त्र का त्याग करनेसे ये सर्व रागादि दोष नहीं होते हैं अर्थात् अचेलता को धारण करने से पूर्वोक्त गुण मुनिराज को मिलते है वस्त्र का त्याग करने से याचना दोष नष्ट होता है, दीनता और संक्लेशपरिणाम विलीन हो जाते हैं।

और भी देखिये—

इयसव्वसमिदकरणोठाणासणसयणगमणकिरियासु
णिगिण गुत्तिमुवगदो पग्गहिददर परक्कमदि ।८६।

टीका—इय एवं। सव्वसमिदकरणो सम्यगिता-नि प्रवृत्तानि, क्रियते रूपाद्युपयोग एभिरिति करणानि इंद्रियाणि, समितानि च तानि करणानि च समित-करणानि, सर्वाणि च तानि समितकरणानि च सर्व-समितकरणानि, सर्वसमितकरणास्येति सर्वसमित—करणः। रागद्वेषरहिता भावेन्द्रियाणां प्रवृत्तिः समी-चीना तस्याश्च अचेलता निबंधनं। रागादिविजयाय गृहीतासङ्गत्वात्कथमिव रागादौ प्रेक्षावान्यतेत।

ठाणासणसयणगमणकिरियासु एकपादसमपा-दादिका स्थानक्रिया, उत्कटासनादिका आसनक्रिया, दंडायतशयनादिका शयनक्रिया। सूर्याभिमुखगमना-दिका गमनक्रिया एतासु। पग्गहिददरं प्रगृहीततर। परक्कमदि चेष्टते कः ? णिगिण नग्नतां। गुत्तिं गुप्तिं। उवगदो उपगतः प्रतिपन्नः। कृतवसनत्यागस्य शरीरे निःस्पृहस्य मम किं शरीरतर्पणेन तपसा निर्जरामेव कर्त्तुमुत्सहते इति। तपसि यतते इति भावः।

अर्थ—इस अचेलता के प्रभाव से ही मुनिराज की स्पर्शनादि पाचो इंद्रियां रूपादिक विषयो मे समिति युक्त प्रवृत्ति करती हैं, अर्थात् उनके इंद्रियों की स्पर्शनादि विषयों में रागद्वेष रहित प्रवृत्ति होती है। अचेलता रागादि को जीतने केलिये ही मुनियों ने ग्रहण की है, अतएव वे रागादि विकारों में कैसे प्रवृत्त होंगे ?

अचेलता धारण करने से ही वे एक पांव से खड़े होना, समपाद रख कर कायोत्सर्ग करना, इत्यादिरूप स्थानक्रिया, उत्कटासनादि आसन क्रिया, दण्ड के समान शयन करना, एक पार्श्व से शयन करना इत्यादिक शयन करना, सूर्याभिमुख गमन करना इत्यादिक गमन क्रिया, वस्त्रत्याग करने वाले व गुप्ति को पालने वाले मुनि शरीर से प्रेम दूर करते हैं। वे निःस्पृह होकर 'शरीर को खुश करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, मैं तपश्चरण के द्वारा कर्म को निर्जीर्ण करूंगा' ऐसा विचार करके तपश्चर्या मे प्रयास करते है।

वयसमिइकसायाणं दंडाणं तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजया सजमो भणिओ ॥

—धवल ख० १ पृष्ठ १४५

जो इतने पर समस्त मुख्य व्रतों को नहीं समझ पाते हैं, उनके लिये अट्ठाईस मूल गुणो का कथन किया गया है उन अट्ठाईस मूल गुणो मे यह एक नग्नत्व व्रत भी है। उक्त गाथा के अनुसार अट्ठाईस मूल गुणों की गिनती इस प्रकार है पंचमहाव्रत, पचसमिति, पांच इंद्रियनिरोध क्षितिशयन. अदन्त-धावन, स्थितिभोजन, सकृद्भुक्ति, लोच, छह आ-वश्यक, अचेलता और अस्नान इन अट्ठाईस मूल गुणो को संक्षेप से, चौरासी लाख गुणो तथा अठारह हजार शीलो के साथ पालन करने को संयम कहा है, अत निर्वस्त्रता ही मुनियों के लिये

अनिवार्य सिद्ध होती है। इससे भी विस्तार देखना हो तो मूलाचार भगवती आराधना इत्यादि में देखा जा सकता है।

योगभक्ति को देखिये—

गिरिकंदरदुर्गेपु ये वसन्ति दिगम्बराः।
पाणिपात्रपुटाहारास्ते यान्ति परमां गतिं॥

दिशारूपी वस्त्र ओढ़नेवाले व हस्तरूपी पात्र में आहार करने वाले दिगम्बर महामुनि पर्वत की गुफा और भयानक वन मे निवास करके घोरानुघोर उत्कृष्ट तपश्चरण करके मरणोत्तर समय में परम-गति अर्थात् मोक्षको जाते हैं, इत्यादि सूत्रप्राय ग्रन्थों में वस्त्र त्याग का ही उपदेश है, भगवती आराधना की विजयोदया टीका तो वस्त्र धारण में दोप और वस्त्रत्याग मे गुण विस्तार से प्रतिपादन करती है।

पूर्व पक्ष के उत्तर में ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका और क्षुल्लिका केलिये वस्त्र स्वीकार करती हुई पूर्वपक्ष के जिनागमानुसार ही मुनिराजों के लिये वस्त्रत्याग का प्रतिपादन करती है। विस्तारभय से उन समस्त उद्धृत वृत्तांत को यहां नहीं लिखा है, जिन्हें अव-लोकन करना हो तो 'आचेलक्कुदेसिय' इस गाथा की विजयोदया टीका अवलोकन कर परीक्षा कर लेवें। अथालंदकसंयम, परिहारविशुद्धिसंयम, भक्त-प्रत्याख्यान, इगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण, जिन-कल्प, स्थविरकल्प इन सबमें एक औत्सर्गिकलिंग कहा गया है और अपवादलिंग का तो नामोल्लेख भी नहीं किया गया है, प्रतिपादित सब पंच परमे-ष्ठियो के नग्नलिंग ही होता है। गृहस्थ सग्रन्थ होते हैं जिनागम प्रतिपादित इन दो के अतिरिक्त तीसरा लिग मानना अनुचित, असत्य है।

किसी भी दिगम्बर जेन शास्त्र में मुनि के लिये वस्त्र का विधान नहीं है, वस्त्र का त्याग ही प्रत्येक ग्रन्थ में मिलता है, मुनि के औत्सर्गिक लिंग ही होता है। अतः पुलाकादि पांच भी निर्ग्रंथ,नग्न ही होते हैं, अपवादलिंग का अर्थ सग्रंथलिंग है उससे मोक्ष नहीं होती इस लिये भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों को अप्रमाण कहना उचित नहीं हैं श्री कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थ द्वादशांग के अंशभूत होनेसे प्रामाणिक है।

इस प्रकार प्रमाण आदिकों द्वारा सवस्त्रमुक्तिका, स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया है। इस प्रकार यह सवस्त्रमुक्ति नाम का निषेधात्मक दूसरा प्रकरण समाप्त हुआ।

—केवली कवलाहार निषेध—

अब पाठक महाशय तीसरे प्रकरण पर आइये! इसमें प्रोफेसर जी ने 'तत्वार्थ के' प्रतिकूल 'केवली के भूख-प्यास आदि की वेदना' होती है इस कल्पना को पुष्ट करने का यत्न किया है। क्या मोक्ष शास्त्र को अभी तक किसी ने समझा ही नहीं? तत्वार्थसूत्र पर वीसों टीकायें अनेक भाषाओंमें बड़े २ आचार्यों तथा विद्वानों ने लिखी हैं। क्या पूर्वाचार्यों में कोई भी परीक्षाप्रधानी नही था?

भगवान समन्तभद्राचार्य, भट्टाकलंकदेव, सैद्धां-तिक चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य और स्याद्वादविद्यापति भगवानविद्यानंदाचार्य इत्यादि तार्किकचूड़ामणिमहा-विद्वद्वर सभी श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के अविरोधी थे। भावी तीर्थंकर आचार्य समन्तभद्र इन सबमें प्रथम परीक्षा-प्रधानी माने गये हैं। इन सबने स्पष्ट लिखा है कि भगवान केवली में क्षुधादि दोप नहीं होते हैं ऐसा प्रतिपादन भगवान समन्तभद्रप्रभृति ने स्वयम्भू-स्तोत्र, रत्नकरण्ड, आदि महासूत्रप्राय शास्त्रो मे किया है प्रतिभाशाली तार्किक प्रभाचन्द्राचार्य ने श्री

अपने प्रमेयकमलमार्तंडमें बहुत अच्छी तरह स्त्रीमुक्ति केवली कवलाहार इत्यादि का निषेध किया है।

धर्मसंग्रह श्रावकाचार में श्री जिनचन्द्राचार्य ने पृष्ठ ३७ पर लिखा है।

क्षुधादिदोषनिर्मुक्तः सर्वातिशयभासुरः।
प्राप्तानन्तचतुष्कोसौ कोट्यादित्यसदृक्प्रभः ॥६५॥
प्रातिहार्याष्टभूतीशस्त्रिसन्ध्यं क्षणदांतरे।
प्रभुःषण्णाडिका यावत्सूत्रार्थं ध्वनिता वदेत् ॥६६॥

अर्थात्—क्षुधा, पिपासा, जरा, आतङ्क, जन्म, मरण, शोक, भय, चिन्ता, प्रस्वेदादि अठारह प्रकार के दोषो से रहित तथा दश जन्म के, दश केवलज्ञान के, और चौदह देवताओ के इस तरह चौंतीस अतिशयो से विराजमान, जिन्हें अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य ये अनन्त चतुष्टय प्राप्त हो गये हैं, अष्टप्रातिहार्यों से शोभित, और जिनकी शरीर की कांति कोटि सूर्य से भी अधिक है ऐसे त्रिभुवन स्वामी श्री जिनदेव अपनी मेघ समान दिव्य ध्वनि से प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल, और आधी रात्रि में तत्व का उपदेश नियम पूर्वक करते रहते हैं। रात्रि के समय जो दिव्यध्वनि होती है वह छह नाड़िका तक होती है। एक नाड़ी एक घड़ी (२४ मिनट) की होती है।

इन श्लोकोमें सर्वज्ञ देव का स्वरूप वर्णन किया गया है। सर्वज्ञ के पहले विशेषण में उन्हें क्षुधादि अठारह प्रकार के दोपों से रहित बताया है।

परन्तु हमारे प्रोफेसर जी जैसे व्यक्ति तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले उसे ठीक नहीं बताते हैं। वे कहते हैं—जब यह बात हम अपनी दृष्टि से देख रहे हैं कि आहारादि के बिना शरीरिक स्थिति नहीं रह सकती फिर केवली भगवान के शरीर की स्थिति क्यो कर आहार के बिना रह सकेगी?

परन्तु यह उनकी कल्पना बिल्कुल असङ्गत है। यह बात हम भी मानते हैं कि संसारी जीवों की शरीर की स्थिति आहारादि के बिना रहना मुश्किल ही नहीं किन्तु नितांत असम्भव है, रहे? परन्तु क्या इस कथन से श्वेताम्बरी लोग यह भी स्वीकार करेंगे कि केवली भगवान् भी ससारी लोगों के समान हैं यदि वे इसे स्वीकार करें तो फिर उनका केवली को प्रभु मानना निरर्थक है। यदि वे इसे नहीं मानेंगे तो उन्हें और कितने केवली भगवान के अतिशय मानना पड़ते हैं। उसी के अनुसार आहारादिक की निवृत्तिरूप भी एक और अतिशय मानना पड़ेगा।

दूसरे जिन भगवान को जब अनन्त चतुष्टय का अधिपति कहते हैं, फिर उनसे हमारा इतना ही पूछना है कि केवली भगवान को क्षुधादिकों की प्रवृत्ति मानने से अनन्तशक्तिपने का उनमें निर्बाध निर्वाह हो जायगा या नहीं? खेद तो इस बात का है कि अनन्त चतुष्टय भी बताना और आहारादिक की कल्पना भी करना, यह कैसे बन सकता है मेरी समझ में तो ये माता को वन्ध्या कहने के समान है। इसे कौन बुद्धिमान मानेगा।

और भी यह बात है कि जब हमलोग भोजनादि करते हैं उसी के साथमे हमारे पीछे शौचादि की भी बाधाओ का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है। केवली भगवान् को भी यह बाधा स्वीकार करना पड़ेगी। कदाचित् यह कहो कि यह तो उनका अतिशय है जो भोजन के करने पर भी उन्हें ये बाधायें बाधित नहीं करतीं तो फिर उसी तरह आहारादिकों का अभाव स्वरूप ही एक और अतिशय क्यो न मान लिया जाय जिससे इतनी विडम्बना का पहले से ही सूत्रपात न हो।

अच्छा यह तो कहो कि जब केवली भगवान आहार करते हैं, वह समवशरण में ही करते हैं या कहीं अन्यत्र ? और समवशरण में भी गन्धकुटी से कोई दूसरा स्थान है अथवा गन्धकुटी के ऊपर ही। मैं नहीं कह सकता इन लोगों की कैसी असङ्गत कल्पनायें हैं, जिनके देखने से दांतों के नीचे अंगुली दबाना पड़ती है। हा, इसी सम्बन्ध में हमें एक बात और स्मरण हो आई है। वह यह है—हम यह पूछना चाहते हैं कि ये लोग जिस तरह गृहस्थों तथा मुनियों के आहार के समय अन्तरायों की कल्पना करते हैं। उसी तरह केवली भगवान के अन्तरायों की कल्पना करते हैं या नहीं ? यदि स्वीकार करेंगे, तब जो दिगम्बरी लोगों का केवली को आहारादिका नहीं मानना है वही सुतरां सिद्ध हो जायगा। क्योंकि केवली भगवान त्रैलोक्य के जानने वाले और देखने वाले हैं। इसमें न तो श्वेताम्बरियों का कुछ विवाद है और न दिगम्बरी लोगों को। इससे यह सिद्ध होगा कि संसार में जितना अच्छा वा बुरा कृत्य उस समय में होता होगा, वह चराचर केवली भगवान को मालूम पड़ता ही होगा। कहीं पर जीवों को दुष्ट लोग हिंसा करते हैं, कहीं कोई किस तरह का दुष्कृत्य कर रहा है इत्यादि, कर्मों को प्रत्यक्ष देखते हुये करुणासागर केवली भगवान आहारादि कभी नहीं कर सकते। इतने पर भी यही दुराग्रह बना रहे तो हम फिर कभी इनमें जिनत्व की कल्पना ही नहीं कर सकते। यदि कदाचित् अन्तराय स्वीकार न करें तो भी कितनी बुरी बात है जिस खोटे काम के देखने से गृहस्थ लोग तक आहार का परित्याग कर देते हैं उसी में त्रैलोक्य के नाथ को घृणा न आवे यह कितने आश्चर्य की बात है।

इन लोगों की केवल यही कल्पना नहीं है किन्तु ऐसी सैंकड़ो असङ्गत कल्पनायें हैं यदि मौका मिला तो 'श्वेताम्बर पराजय' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में खूब खुलासा वर्णन करेंगे। सच बात तो यह है कि जिन लोगों की कल्पनायें आधुनिक होती हैं वे कहां तक ठीक कही जा सकेंगी ? यह बात विचारणीय है।

णट्ठपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा।
सेसा कम्मत्थित्तेणुवयारेणत्थि ण हि कज्जे ॥१३६॥

टीका—नष्टप्रमादे-अप्रमत्तसंयताद्युपरितनगुण—स्थानेषु प्रथमासंज्ञा आहारसंज्ञा न भवति। कुतः कारणात् तत्राप्रमत्तादौ आहारसंज्ञाकारणस्य असातावेदनीयोदीरणाख्यस्याभावात्। सातासातावेदनीय-मनुष्यायुष्याणां त्रिप्रकृतीनां प्रमत्तविरते एव उदीरणा भवतीति परमागमे प्रसिद्धत्वात्। शेषा भयमैथुन-परिग्रहसंज्ञा अप्रमत्तसंयतादि-गुणस्थानेषु तत्तत्कारण भयवेदलोभकर्मोदीरणानां तत्तदुदय-व्युच्छित्तिचरम-समयपर्यंतमस्तित्वेन निमित्तेनोपचारेण सन्ति स्व स्व कार्यपलायनरतिक्रीड़ा-परीग्रह स्वीकाररूपे प्रवृत्त्यभावात्। मन्दमन्दतरमन्दतमातिसूक्ष्मानुभागोदयसहित-संयमविशेषसमाहितध्यानोपयुक्तानां महामुनीनां भयादिसंज्ञा मुख्यवृत्त्या न सन्त्येव, अन्यथा कदाचिदपि शुक्लध्यान घातिकर्मक्षयो वा न घटते ....। ततो मोक्षमिच्छतां स्याद्वादिनां क्षपक श्रेण्यामाहारादि चतुः संज्ञानामभाव एव सम्भावनीय इति केवलिनां कुतः केवलाहारभुक्तिराहारसंज्ञानिषेधात्।

मन्दप्रबोधिकायां अभयचन्द्रः। इति—

यहां मूल में अप्रमत्तादि गुणस्थानों में प्रथम आहारसंज्ञा का निषेध और उसके कारण का अभाव कहा गया है। अवशिष्ट तीन संज्ञाओं का यहां पर उपचार से सद्भाव कहा है, उपचार का कारण है उन

उन कर्मों की उदीरणा का अस्तित्व और कार्यरूप से वहां संज्ञायें नहीं होतीं। टीका में तो प्राधान्यरूप से होने का कारण भी कह दिया गया है। तात्पर्य यह है कि अप्रमत्त आदि गुणस्थानो में उपचार से ये संज्ञायें हैं परमार्थिक में वे नहीं हैं। ऐसी प्रवृत्ति अर्थात् प्रथा केवली भगवान के क्षुधादि परीषहों के सम्बन्ध में है। केवली के वेदनीयकर्म के उदय का अस्तित्व है, कार्यरूप से या प्रमुखपन से अथवा स्पष्ट रूप से नहीं है। वक्तव्य कहीं उपचार से या शक्ति की अपेक्षा से होता है, और कहीं पर प्राधान्यरूप या सामर्थ्य की अपेक्षा से होता है। केवली में क्षुधादिका सद्भाव उपचार से या सामर्थ्य की अपेक्षा से कहा गया है। इसलिये कहा जाता है कि 'तत्वार्थमहाशास्त्र में भी और प्रस्तुत आगम में भी ग्यारह परीषह केवली भगवान में उपचार से हैं। वास्तविक उनका अभाव ही है। ऐसा उद्धरण शास्त्रोंमें विद्यमान होते हुए भी आजकल के प्रोफेसर जी के समान मनुष्य स्वीकार नहीं करते हैं यह बड़ी दुःख की बात है।

जिस तरह सम्पूर्ण मोहनीय कर्म नष्ट होने पर और वेदनीय का सद्भाव होने से केवली भगवान को ग्यारह परीषह उपचार से मानी जाती हैं न कि पारमार्थिक न्याय से। इसी तरह ज्ञानावरण के नष्ट हो जाने पर युगपत् सम्पूर्ण पदार्थों का प्रकाशन करने वाले केवल ज्ञान रूप अतिशय के होते हुये भगवान के चिन्तानिरोध का अभाव है। उसके होते हुये भी उसका फल कर्मोदय की निर्जरारूप फल की अपेक्षा से ध्यान का उपचार किया जाता है। इसी प्रकार वास्तव में क्षुधादिको का अभाव है किन्तु वेदनीयकर्म का सद्भाव होने से 'एकादश जिने' यही संज्ञा उपचार से कही है।

मथितार्थ यह है कि ध्यान भी जिस तरह उनमें उपचार से है, उसी तरह परीषह भी उपचार से हैं, वास्तविक मे ग्यारह-परीषह उनमें नहीं है। अतएव क्षुधादि वेदना का भगवान में अभाव है। यथा—

ननु मोहनीय-सहायाभावात् क्षुधादिवेदनाभावे परीषहव्यपदेशो न युक्तः, सत्यमेवमेतत्, वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परीषहोपचारः क्रियते। निरवशेषनिरस्ताज्ञानावरणे युगपत्सकल-पदार्थावभासिकेवलज्ञानातिशये चिन्तानिरोधाभावेऽपि तत्फल कर्मनिर्हरणापेक्षया ध्यानोपचारवत्। अथवा एकादश जिने न सन्तीति वाक्य शेषः कल्पनोयः सोपस्कारत्वात् सूत्राणां। मोहोदयसहायीकृतक्षुधादिवेदनाभावात्।" इति।

यहां टीका में ग्यारह परीषहों का सद्भाव और अभाव कह दिया गया है, द्रव्य कर्म के सद्भाव की अपेक्षा से उपचार से सद्भाव और मोहनीय के उदय की सहायता न होने से कार्य रूप से उनका अभाव। यही बात अकलंकदेवने राजवार्तिकमे और आचार्य विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक में 'एकादश जिने' सूत्र मे कही है आदि पुराण पृष्ठ २५ देखिये—

न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवानन्तसुखोदयात्।
क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तुः कवलाहारभुग्भवेत् ॥१॥
असद्वेद्योदयाद्भुक्तिं त्वयि यो योजयेदधीः।
मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृतं ॥२॥
असद्वेद्यविषं घातिविध्वंस ध्वस्तशक्तिकं।
त्वय्यकिंचित्करं मन्त्रशक्त्येवापबलं विषं ॥३॥
असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायतः।
त्वय्यकिंचित्करो नाथ सामग्र्या हि फलोदयः ४

आचार्य देवसेन कवलाहार का निषेध मार्मिकता से व विस्तार के साथ करते हैं, वे कहते हैं कि

श्वेताम्बर लोग केवली में कवलाहार कहते हैं सो भगवान में वह नहीं है, क्योंकि उस परमभट्टारक अर्हन्त भगवान के मन नष्ट हो गया है। इन्द्रियों के व्यापार से जिनका चित्त रहित हो गया है और जिन के भावेन्द्रिय की प्रधानता है, उनके निश्चल ध्यान होता है। उस ध्यान से उस आत्मा के आत्मा और मन का एकीभाव होता है, और फिर एकी भाव से संवित्ति होती है। उस सवित्ति से तृष्णा, निद्रा और क्षुधा, नष्ट हो जाते हैं तब वह ध्यानी पुरुष क्षपक-श्रेणि मे आरूढ़ होता है वह निद्रादि के कारण, मोहकर्म का सम्पूर्ण क्षय करता है। उसके क्षय हो जाने से केवलज्ञान प्रगट होता है, वह केवलज्ञान समस्त अठारह दोष प्रलय हो जाने से होता है। वे अठारह दोष क्षुधादिक है, वे केवली भगवान के नहीं होते हैं।

नोकर्माहार, कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मनाहार इस प्रकार छह प्रकार का आहर होता है। इनमें से नोकर्माहार और कर्माहार ये दो तो समस्त चतुर्गति वाले जीवो के होते हैं, कवलाहार मनुष्यों और पशुओं के होता है, वृक्षों के लेपाहार होता है। अण्डों में रहने वाले पक्षियों के ओजाहार होता है। और देवों के मानसिकाहार होता है। इन छहो आहार में से कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार, और मानसिकाहार ये चार प्रकार के आहार केवली के नहीं होते। जो नोकर्माहार और कर्माहार केवली के होते हैं। वे भी जिनागम में उपचार से कहे गये है। निश्चय से तो वे भी नहीं हैं। क्योंकि—केवली भगवान उत्कृष्ट वीतराग परमेष्ठी हैं।

जो भोजन करता है वह सोता है, सोता हुआ अन्य विषयों का भी भोगोपभोग करता है। किन्तु विषयों का भोग करने वाला वीतरागी कैसे हो सकता है? इसलिये केवलीके कवलाहार प्रमाण-विरुद्ध है। प्रमेयकमल मार्तंड में प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखा है—

'ये श्वेतपटाः प्रतिपादयन्ति-आत्मनो जीवन्मुक्तौ कवलाहारं प्रेच्छन्ति, तेषां—अनन्तचतुष्टयस्वभावा भावोऽनन्तसुखविरहात्। तद्विरहश्चबुभुक्षापीडाक्रान्तत्वात्। तत्पीडाप्रतिकारार्थो हि निखिलजन्तूनां कवलाहारग्रहणप्रसङ्गः।'

अर्थ—जो श्वेताम्बर लोग कहते हैं कि आत्मा के जीवन्मुक्तावस्था में अर्थात् केवली भगवान के अनन्तचतुष्टय व वीतराग दशामें कवलाहार होता है, उन लोगो के प्रति अनेकांतमय, स्याद्वादसप्तभंगी-गर्भित स्यात्पदालकृतपरमागम के प्रमाण, नय, निक्षेप, तर्क और युक्तियों के द्वारा निषेध किया जाता है।

केवली को कवलाहार मानने से उनके अनन्त-चतुष्टय स्वभाव का अभाव हो जाने पर उन भगवान के 'घातिकर्म चतुष्टय के अभाव से' पैदा होने वाले नैसर्गिक अनन्तसुखादिकों का सुतरां विनाश होता है। और उसका अभाव होने से उन परमात्मा में भी क्षुधादि अठारह दोषो का सद्भाव हो जाने से वे भगवान् रागी, द्वेषी, मोही होने से उनमें वीतराग व सर्वज्ञत्व न रहेगा यह बड़ा भारी दोष उपस्थित हो जायगा और उस भूख के प्रतिकार करने के लिये सांसारिक जीवो को कवलाहार ग्रहण करना पड़ता है। क्या केवली भी ऐसे ही हैं?

अर्हंत भगवान में अनन्तचतुष्टय के सद्भाव और अठारह दोषों के अभाव होनेसे वीतरागता सर्वज्ञता

और हितोपदेशता प्रगट होती है। यानी—अर्हन्त-भगवान् राग, द्वेष, मोह आदि दोष न रहने के कारण वीतराग कहलाते हैं। तदनुसार वे किसी पदार्थ पर राग, द्वेष यानी प्रेम और बैर नहीं करते हैं। केवलज्ञान हो जाने से वे समस्त लोक, समस्त काल की सब बातो को एक साथ स्पष्ट जानते है इस कारण वे सर्वज्ञ कहलाते हैं। और इच्छा न रहने पर भी वचनयोग के कारण तथा भव्यजीवो के पुण्य कर्मों के निमित्त से उन जीवों को कल्याण करने वाला उपदेश देते हैं। इस कारण हितोपदेशी कहलाते है।

ये तीनों बाते दिगम्बरीय अभिमत अर्हंत में तो बन जाती हैं किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायानुसार अर्हंत भगवान् में वीतरागता तथा सर्वज्ञता नहीं बनती है। सो आगे दिखलावेंगे।

इस प्रकार अर्हंतदेव का ठीक सच्चा-स्वरूप दिगम्बर सम्प्रदायके सिद्धांतानुसार तो ठीक बन जाता है किन्तु श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय के सिद्धांतानुसार अर्हंतदेव का सच्चा स्वरूप ठीक नहीं बनता।

क्या केवली कवलाहार करते हैं ?

अब यहां इस विषय पर विचार चलता है कि, अर्हंत भगवान जो कि मोहनीय कर्म का समूल नाश करके वीतराग हो चुके हैं, केवलज्ञान हो जाने से जिनको केवली भी कहते हैं कवलाहार (हमारे तुम्हारे समान ग्रास वाला भोजन) करते हैं या नहीं ?

इस विषय मे दिगम्बर सम्प्रदाय का यह सिद्धांत है कि, केवली भगवान् वीतरागी और अनन्त-सुखधारी होने के कारण कवलाहार नहीं करते हैं क्योकि उनके 'भूख' नामक दोष नहीं रहा है। श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय का यह कहना है कि केवली भगवान् के वेदनीय कर्म का उदय विद्यमान है इस कारण उनको भूख लगती है जिससे कि उनको भोजन करना पड़ता है। बिना भोजन किये केवली भगवान जीवित नहीं रह सकते।

ऐसा परस्पर मतभेद रखते हुये भी तीनो सम्प्रदाय केवली भगवान को वीतरागी और अनन्तसुखी निर्विवादरूप से मानते हैं। इस समय हमारे सामने आये हुये प्रश्न का समाधान करने के पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि, भूख लगती क्यो है ? किन किन कारणो से जीवो के उदर मे भूख आकुलता को उत्पन्न कर देती है ? इस विषय में सिद्धांत ग्रन्थ गो० जीवकाण्ड में यो लिखा है। यथा—

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओम्मकोठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहार सण्णाओ ॥

अर्थात्—अच्छे २ भोजन देखने से, भोजन का स्मरण कथा आदि करने से, पेट खाली हो जाने से, और असाता वेदनीय की उदीरणा होने पर आहार-संज्ञा यानी भूख पैदा होती है। इन चार कारणो मे से अन्तरङ्गमुख्य कारण असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा (अपकपाचनं उदीरणा—यानी—आगामी समय मे उदय आने वाले कर्म निषेको को बलपूर्वक वर्तमान में उदय ले आना। जैसे वृक्ष पर आम बहुत दिन में पकता; उसे तोड़ कर भूसे के भीतर रखकर जल्दी पहले ही पका देना) है। बिना असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा हुए भूख लगनी नहीं है।

इस कारण अर्हंत भगवान को यदि भूख लगे तो उनके असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा अवश्य

होनी चाहिये किन्तु वेदनीय कर्म की उदीरणा तेरहवें गुणस्थान में विराजमान अर्हंत भगवान के है हीं नहीं। क्योंकि वेदनीय कर्म की उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही है, आगे नहीं है।

श्वेताम्बरीय ग्रन्थ प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग के षडशीति नामक चौथे खण्ड की ६४वीं गाथा ४०२ पृष्ठ पर लिखी है कि—

उइरंति पमत्तंता सगट्ठ मीसट्ठ वेअ आउविणा ।
छग अपमत्ताइ तऊ छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ।६४।

अर्थात्—मिश्र गुणस्थान के सिवाय पहले से छठे गुणस्थान तक आठों कर्मों की उदीरणा है। उसके आगे अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीन गुणस्थानों में वेदनीय, आयु कर्म के बिना छह कर्मोंकी उदीरणा होती है। दशवें तथा ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय, वेदनीय, आयु के बिना शेष पांच कर्मों की उदीरणा होती है।

आगे की ६५वीं गाथा इसी पृष्ठ पर यों है—

"पण दो खीण दुजोगीऽणुदीरगु अजोगिथोव उवसंता'

यानी-बारहवें गुणस्थान में अन्त समय से पहले ग्यारहे गुणस्थान की तरह पांच कर्मों की उदीरणा होती है। अन्तसमय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय. वेदनीये, आयु इन छह कर्मों के सिवाय शेष नाम. गोत्र इन दो कर्मों की ही उदीरणा होती है। सयोग केवली १३वे गुणस्थान में नाम, गोत्रकर्म की ही उदीरणा होती है। १४वें गुणस्थान में उदीरणा नहीं होती है।

इस प्रकार जब कि वेदनीय कर्म की उदीरणा छठवें गुणस्थान तक ही होती है तो नियमानुसार यह भी मानना पड़ेगा कि भूख भी छठे गुणस्थान तक ही लगती है। उसके आगे के गुणस्थानों में न तो उदीरणा है और न इस कारण उनके भूख ही लगती है।

तदनुसार जब कि तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हंत भगवान को वेदनीय कर्म की उदीरणा न होनेसे भूख ही नहीं लगती फिर वे भोजन ही क्यों करेंगे, अर्थात नहीं करेंगे, क्योंकि कवलाहार (भोजन) भूख मिटाने के लिये ही भूख लगने पर ही किया जाता है। अन्यथा नहीं।

इस कारण कर्मग्रन्थों के सिद्धान्तानुसार तो केवली भगवान के कवलाहार सिद्ध नहीं होता है। यदि फिर भी श्वेतांबरी भाई वेदनीय कर्म के उदय से ही भूख लगती बतलाकर केवली भगवान के कवलाहार सिद्ध करेंगे क्योंकि केवली भगवान के साता या असाता वेदनीय कर्म का उदय रहता है। परन्तु वेदनीय कर्म का उदय प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय रहता है। सोते जागते कोई भी ऐसा समय नहीं जब कि वेदनीय कर्मका उदय न होवे, इस कारण आपके कहे अनुसार हर समय क्षुधा लगी ही रहना चाहिये और उसको मिटाने के लिये प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय भोजन करते ही रहना चाहिये। इस तरह सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक जो मुनियों के धर्मध्यान शुक्लध्यान की दशा है उस समय भी वेदनीयकर्मके उदय होने से आपके कहे अनुसार भूख लगेगी। उसको दूर करने के लिये उन्हें आहार करना आवश्यक होगा। इस लिये उनके ध्यान भी नहीं बन सकेगा।

तथा केवली भगवान के भी हर समय वेदनीय कर्म का उदय रहता है इस लिये उनको भी हर समय भूख लगेगी जिसके लिये कि उन्हें हर समय भोजन

करना आवश्यक होगा। बिना भोजन किये वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुई क्षुधा उन्हें हर समय व्याकुल करती रहेगी। ऐसा होने पर श्वेतांबरीय भाइयों का कहना यह ठीक नहीं रहेगा कि केवली भगवान दिन के तीसरे पहर में एक बार भोजन करते हैं। इस लिये मानना पड़ेगा कि भूख असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा होने पर लगती है। यदि फिर भी इस विषय में कोई महाशय यह कहें कि वेदनीय कर्मके तीव्र उदय होने पर ही भूख लगती है वेदनीय कर्म का जब तक मन्द उदय रहता है तब तक भूख नहीं लगती है।

तो इसका उत्तर यह मिलता है कि भूख लगाने वाले वेदनीय कर्म का उदय केवली भगवान के तीव्र हो नहीं सकता क्योंकि वे यथाख्यात चारित्रके धारक हैं तदनुसार उनके परिणाम परम विशुद्ध हैं। विशुद्ध परिणामों से दुख देने वाले अशुभ कर्मों का उदय मंद रहता है यह कर्म सिद्धांत अटल है। इस लिये केवली भगवान के मोहनीय कर्म न रहने से परम पवित्र परिणाम रहते हैं और इस कारण स आपके कहे अनुसार भाव पैदा करने वाले अशुभ कर्मों का बहुत मन्द उदय रहता है। इस लिये भी केवली भगवानको भूख नहीं लगती जिससे कि वे कवलाहार भी नहीं कर सकते।

इसका उदाहरण यह है कि छठे, सातवें, आठवें तथा नवम गुणस्थान में कुछ स्थानो मे स्त्री, पुरुष, नपुंसकभाव वेदो का मंद उदय है इस कारण उन गुणस्थान वाले मुनियो के विषय सेवन करने की इच्छा नहीं होती है।

यदि वेदनीय कर्म के मन्द उदय से केवली को भूख लग सकती है तो श्वेताम्बरी भाइयों को यह भी कहना पड़ेगा कि वेदो के मन्द उदय होने से छठे, सातवे, आठवें तथा नवम गुणस्थानवर्ती साधुओं के भी विषय सेवन की (मैथुन करने की) इच्छा उत्पन्न होती है। और इसी कारण उनके धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान नहीं है।

वेदनीय कर्म केवली के भूख उत्पन्न नहीं कर सकता—असाता वेदनीय कर्म के उदय से केवली भगवान को भूख इस लिये भी नहीं लग सकती कि उनके मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है। वेदनीय कर्म अपना फल मोहनीय कर्मकी सहायता से ही देता है। मोहनीय कर्म के बिना वेदनीय कम वेदना उत्पन्न नहीं कर सकता। गोम्मटसार कमकांड मे लिखा है—

घादिव वेयणीयं मोहस्स वलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्मि पढिदत्तु ॥१८॥

अर्थात्–वेदनीय कर्म घाती कर्मके समान जीवके अव्याबाध गुण को मोहनीय कर्म की सहायता स घातता है। इसी कारण वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म के पहले एवं घाति कर्मो के बीच मे तीसरी सख्या पर रक्खा गया है।

जब कि केवली भगवान को मोहनीय कर्म बिलकुल नहीं रहता तब वेदनीय कर्मको सहायता भी कहां से मिल सकती है ? और जब कि वेदनीय कर्म को मोहनीय कर्म की सहायता न मिले तब वह वेदना भी कैसे उत्पन्न कर सकता है ? यानी नहीं कर सकता।

मोहनीय कर्म जब रहता है तब साता वेदनीय के उदय से इन्द्रियजनित सुख होता है जो कि रागभाव से वेदन किया जाता है। और असाता वेदनीय कर्म के उदय होनेसे जो दुख होता है उसका द्वेषभाव

मे वेदन किया जाता है। केवली भगवान के जबकि राग, द्वेष ही नहीं रहा तब इन्द्रिय सुख दुःख रूप वेदन ही कैसे होवे? और जब दुःखरूप वेदन नहीं, फिर भूख कैसे लगे? जिससे कि केवली को भोजन अवश्य करना पड़े। भूख शब्दका शुद्धरूप बुभुक्षा है जिसका कि अर्थ 'खाने की इच्छा' होता है। केवली के जब मोहनीय कर्म नहीं तब उसके खाने की इच्छा भी नहीं हो सकती। खाने की इच्छा उत्पन्न हुये बिना उनके भूख का कहना व्यर्थ तथा असम्भव है। इसलिये भी केवली के कवलाहार नहीं बनता है।

भूख लगे दुख होय अनन्तसुखी कहिये किमि केवलज्ञानी, ३" अन्य सब बातों को छोड़कर मूल बात पर विचार चलाइये कि अनन्तसुख के स्वामी अर्हंत भगवान को भूख लग भी कैसे सकती है? क्योंकि भूख लगने पर जीवों को बहुत भारी दुःख होता है। केवलज्ञानी को दुःख लेशमात्रभी नहीं है। इस कारण हमारे श्वेताम्बरी भाई या तो केवली भगवान को 'अनन्त सुखधारी' कहें—भूख वेदना से दुखी न बतलावें। अथवा केवली को भूख की वेदना से दुखी होना कहें इस लिये अनन्त सुखी न कहें। बात एक बनेगी दोनों नहीं।

भूख की वेदना कितनी तीव्र दुःखदायिनी होती है इसको किसी कवि ने अच्छे शब्दों में यों कहा है—

आदौ रूपविनाशिनी कृशकरी कामस्य विध्वंसिनी,
ज्ञानभ्रंशकरी तपः क्षयकरी कर्मस्य निर्मूलिनी।
पुत्रभ्रातृकलत्रभेदनकरी लज्जाकुलच्छेदिनी,
सा मां पीडति विश्वदोपजननी प्राणापहारी क्षुधा॥

अर्थात—क्षुधा पीड़ित मनुष्य कहता है कि भूख पहले तो रूप बिगाड़ देती है यानी मुख की आकृति फीकी कर देती है, फिर शरीर कृश (दुबला) कर देती है, कामवासना का नाश कर देती है, भूख से ज्ञान चला जाता है, भूख तप को नष्ट कर देती है, धर्म का निर्मूल क्षय कर देती है, भूख के कारण पुत्र, भाई, पत्नी में भेद भाव (कलह) हो जाता है, भूख लज्जा को भगा देती है, अधिक कहां तक कहें प्राणों का भी नाश कर देती है। ऐसे समस्त दोष उत्पन्न करने वाली क्षुधा (भूख) मुझे व्याकुल कर रही है।

भूखे जीव की क्या दशा होती है. इसको एक कवि ने इन मार्मिक शब्दों में यों प्रगट किया है—

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं, खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम्। बुभुक्षितः किं न करोति पापं, क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति॥

यानी—भूखसे तड़फड़ाती हुई माता अपने उदर से निकाले हुये प्रियपुत्र को छोड़ देती है। भूख से व्याकुल सर्पिणी अपने ही अण्डों को खा जाती है। विशेष क्या कहें भूखा मनुष्य कौन सा पाप नहीं कर सकता? (यानी-सभी अनर्थ कर सकता है) क्योंकि भूखे मनुष्य निर्दय हो जाते हैं। ऐसी घोर दुखदायिनी भूख परीषह यदि केवलज्ञानी को वेदना उत्पन्न करे तो फिर केवली का अनन्त सुख क्या कार्यकारी होगा? इसका उत्तर तो प्रोफेसर साहब जी देवें। भूख अपनी दुखवेदना केवली को भी आपके अनुसार कष्ट तो देती है क्योंकि आप उनके क्षुधा परीषह नाम मात्र को ही नहीं किन्तु कार्यकारिणी भी बतलाते हैं। फिर जबकि केवली भूख की वेदना से दुखी होते हैं तब उनको पूर्ण सुखी बतलाना व्यर्थ है। हमारे तुम्हारे समान अल्पसुखी हुये। जैसे हमको भूख, प्यास लगती है खा पी लेने पर शान्त हो जाती है आपके कहे अनुसार केवली की भी ऐसी ही दशा रही।

खात त्रिलोकत लोकालोक,

देखि कुद्रव्य भखे किमि ज्ञानी?

तथा—अर्हंत भगवान् को समस्त लोक अलोक को हाथ की रेखा समान बिना उपयोग लगाये ही स्पष्ट जानने वाला केवलज्ञान प्राप्त हो चुका है जिसके कारण वे लोक में भोजन के अन्तराय उत्पन्न करने वाले अनन्त अपवित्र पदार्थों को प्रत्येक समय बिना कुछ प्रयत्न किये साफ देख रहे हैं फिर वे भोजन कर भी कैसे सकते हैं?

साधारण मुनि भी मांस, रक्त, पीव, गीला चमड़ा गीली हड्डी किसी दुष्टके द्वारा किसी जीव का मारा जाना देखकर, शिकारी आततायी आदि द्वारा सताये गये जीवों का रोना विलाप सुनकर भोजन छोड़ देते हैं फिर भला उनसे बहुत कुछ ऊंचे पद मे विराजमान, यथाख्यात् चारित्रधारी केवलज्ञानी अपवित्र पदार्थों को तथा दुःखी जीवों को केवलज्ञन से स्पष्ट जान कर भोजन किस प्रकार कर सकते हैं? अर्थात् अन्तराय टालकर निर्दोष आहार किसी तरह नहीं कर सकते।

मांस, खून, पीव. निरपराध जीव का निर्दयता से कतल (बध) आदि देखकर भोजन करते रहना दुष्ट मनुष्य का कार्य है, क्या केवलज्ञानी सर्व कुछ जान देख कर भी भोजन करते है सो क्या वे भी वैसे ही हैं?

केवलज्ञानी के असाता का उदय कैसा है?

कोई भी कर्म हो अपना अच्छा बुरा फल बाह्य निमित्त कारणों के मिलने पर ही देता है। यदि कर्म की प्रकृति अनुसार बाहरी निमित्त कारण न होवें तो कर्म बिना फल दिये झड़ जाता है। जैसे किसी मनुष्य ने विष खाकर उसको पचा जाने वाली प्रबल औषध भी खा ली हो तो वह विष अपना काम नहीं करने पाता है।

कर्मसिद्धांत के अनुसार इस बात को यों समझ लेना चाहिये कि देवगति मे (स्वर्गों मे) असाता वेदनीय कर्म का उदय होता है। अहमिन्द्र आदि उच्चपद प्राप्त देवो के भी पूर्व बन्धे हुये असाता वेदनीय कर्म का स्थिति अनुसार उदय होता है किन्तु उनके पास बाहर के समस्त कारणकलाप सुखजनक हैं इस कारण वह असाता वेदनीय कर्म भी दुःख उत्पन्न नही करने पाता। साता वेदनीय रूप होकर चला जाता है।

तथा नरको में नारकी जीवो के समय अनुसार कभी साता वेदनीय कर्म का भी उदय होता है किन्तु वहां पर द्रव्य क्षेत्रादि की सामग्री दुख--जनक ही है इस कारण वह साता वेदनीय कर्म नारकियों को सुख उत्पन्न नहीं कर पाता, दुख देकर ही चला जाता है।

एवं तेरहवें गुणस्थान मे यानी केवल--ज्ञानियो के ४२ कर्मप्रकृतियोंका उदय होता जिसमेंसे अस्थिर अशुभ, दुस्वर, अप्रशस्त विहायोगति तथा तैजस-मिश्र आदि अनेक ऐसी अशुभ प्रकृतिया हैं जो कि उदय मे तो आती हैं किन्तु बाहरी कारण अपने योग्य न मिल सकने के कारण बिना बुरा फल दिये चली जाती हैं। क्योकि अस्थिर प्रकृति के उदय मे केवलज्ञानी के धातु उपधातु अपने स्थान से चलाय-मान होकर शरीर को बिगाड़ते नहीं हैं। (श्वेताम्बरीय सिद्धांतानुसार) न अशुभ नामकर्म के उदय से केवलज्ञानी का शरीर खराब हो जाता है. और न दुःस्वर प्रकृति के उदय से केवलज्ञानी का असुन्दर स्वर हो पाता है। इत्यादि।

इसी प्रकार केवली भगवान के यद्यपि असाता

वेदनीय कर्म का उदय होता है किन्तु केवलज्ञानी के निकट दुःख उत्पन्न करने वाला कोई निमित्त नहीं होता है, सब सुख उत्पन्न करने वाले ही कारण होते हैं। अनन्त सुख प्रगट हो जाता है। इसी कारण वह असाता वेदनीय निमित्त कारणों के अनुसार साता-रूप में होकर बिना दुःख दिये चला जाता है।

श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती ने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रन्थ की २७४-२७५वीं गाथाओं में कहा है कि—

समयट्ठिदिगो बन्धो सादस्सुदयप्पिगो जुदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ, सादसरूवेण परिणमदि २७४
एदेण कारणेण दु सादस्सेव हु णिरन्तरो उदओ।
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि।२७५।

अर्थात्—क्योंकि केवलज्ञानी के सिर्फ साता वेदनीय कर्म का बंध एक समय स्थिति वाला होता है जो कि उस ही समय आ जाता है। इस कारण उस साता वेदनीय के निमित्त से सातारूप होकर ही चला जाता है। इसी कारण केवलज्ञानी के सदा साता वेदनीय का उदय रहता है। अतएव असाता वेदनीय के उदय होने से क्षुधा आदि ११ परीषह नहीं हो पाती हैं।

इस प्रकार कर्म सिद्धांत से भी स्पष्ट सिद्ध होगया कि केवलज्ञानी को न तो भूख लग सकती है और न वे इसके लिये भोजन ही करते हैं।

भोजन करना क्षुधाजनित दुःख का प्रतीकार है।

केवलज्ञान के प्रगट होने पर अर्हंत भगवान् में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त-बल यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं जिससे कि केवलज्ञानी, अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शनधारी, अनन्त-सुखी और अनन्त आत्मिक शक्ति—सम्पन्न होते हैं। तदनुसार केवली भगवान को कवलाहारी माननेवाले श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समक्ष यह प्रश्न स्वयमेव खड़ा हो जाता है कि 'जब केवलज्ञानी पूर्णतया अनन्तसुखी होते हैं तो फिर उनको भूख का दुःख किस प्रकार हो सकता है जिसको कि दूर करने के लिये उन्हें विवश (लाचार) होकर साधारण मनुष्यों के समान भोजन अवश्य करना पड़े?

इस प्रश्न का उत्तर यदि कोई प्रोफेसर सरीखे सज्जन यह दें जैसा कि कतिपय सज्जनों ने दिया भी है कि 'केवली वास्तव मे अनन्तसुखी ही होते हैं। उनके आत्माको लेशमात्र भी किसी दुख का अनुभव नहीं हो सकता। हां, केवली भगवान को असाता वेदनीय कर्म के उदय से भूख अवश्य लगती है किन्तु वह भूख का दुःख शारीरिक होता है उनके शरीर को दुःख होता है आत्मा को नहीं। इस कारण भूख लगने के समय भी केवली भगवान अपने आत्मा के अनन्त सुख का अनुभव करते रहते हैं। जिस प्रकार ध्यानमग्न साधु के ऊपर असह्य शारीरिक वेदना देने वाला उपसर्ग होता है किन्तु उनको वह दुःख रञ्चमात्र भी नहीं मालूम होता। वे अपने आत्मा के अनुभव में लीन रहते हैं। श्वेताम्बरीय भाइयों का यह उत्तर भी निःसार है अतएव उपहास जनक है। क्योंकि भूख से यदि केवलज्ञानी के आत्मा को असह्य कष्ट न होवे तो उनको भोजन करने की आवश्यकता ही क्या? भोजन मनुष्य तब ही करते हैं जबकि उनका आत्मा व्याकुल हो जाता है, वह किसी भी कार्य करने में समर्थ नहीं होता। ज्ञानशक्ति विद्यमान रहने पर भी क्षुधा की असह्य

वेदना से किसी विषय का विचार नहीं कर सकते।

इस कारण केवलज्ञानी को कवलाहारी माना जाय तो यह भी निःसन्देह मानना होगा कि उनको भूख का असह्य दुःख उत्पन्न होता है इसको दूर करने के लिये ही वे भोजन करते हैं। इस मानने से वे अनन्त अविच्छिन्न सुख के अधिकारी नहीं माने जा सकते।

केवलज्ञानी को भूख कैसे मालूम होती है? हम सरीखे अल्पज्ञ जीवो को तो भूख लगने पर बहुत भारी व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस कारण हमारा मन हमको खबर दे देता है। उसकी सूचना पाते ही हम भोजन सामग्री एकत्र करने में लग जाते हैं। भोजन बन जाने पर खाना आरम्भ कर देते हैं और तब तक खाते पीते रहते हैं जब तक हमारा मन शान्ति न पा ले। मन की शान्ति देखकर हम खाना बन्द कर देते हैं।

इसी प्रकार केवलज्ञानी को जब भूख लगे तब उन्हें मालूम कैसे हो कि हमको भूख लगी है? क्योंकि उनके मन (भावरूप) रहा नहीं है। इस कारण मानसिक ज्ञान नहीं यदि वे केवलज्ञान से अपनी भूख को जानकर भोजन करते हैं तो बात कुछ बनती नहीं क्योंकि केवलज्ञान से तो वे सब जीवो की भूख को जान रहे हैं। फिर वे औरों की भूख जानने के समय भी भोजन क्यो नहीं करते हैं क्योंकि दोनों जानने बराबर हैं उनमें कुछ अन्तर नहीं।

तथा—जब उन्हें केवलज्ञान से यह बात मालूम हो कि मुझे भोजन अमुक घर का मिलेगा, फिर भिक्षा शुद्धि कैसे बनेगी? एवं भोजन ग्रहण करने वे स्वय जाते नहीं। दूसरों द्वारा लाये हुये भोजन को खा लेते हैं। फिर उनके भिक्षाशुद्धि कैसे बने, और भिक्षाशुद्धि के बिना निर्दोष आहार कैसे हो?

तथा—भोजन करते-करते केवली की उदरपूर्ति को मन बिना कौन बतलावे? केवलज्ञान तो सभी मनुष्यों के भोजन द्वारा पेट भर जाने को बतलाता है।

मोह के बिना खाना पीना कैसे?

मनुष्य अपने लिये कोई भी कार्य करता है वह बिना मोह के नहीं करता है। यदि वह अपने किसी इस लोक परलोक सम्बन्धी लाभ के लिये कोई काम करता है तो उसके राग भाव होते हैं। और जहां जान बूझकर अपने या दूसरों के लिये बुरा कार्य करता है तो वहां द्वेषभाव होता है। तदनुसार जिस समय वह अपनी भूख मिटाने के लिये भोजन करने को तैयार होता है उस समय उसको अपने प्राणो से तथा उन प्राणो की रक्षा करने वाले उस भोजन से राग (प्रेम) होता है। वह समझता है कि यदि मैं भोजन नहीं करूंगा, तो मर जाऊंगा। इस कारण मरने के भय से भोजन करता है।

केवलज्ञानी जिनको लेश मात्र भी मोह नहीं रहा है, राग द्वेष जड़ मूल से दूर हो चुके हैं, उनके फिर भोजन करने की इच्छा किस प्रकार हो सकती है? और बिना इच्छा के अपने प्राण रक्षणार्थ भोजन भी वे कैसे कर सकते हैं?

उन्हें अपने औदारिक शरीर रक्षाकी इच्छा तथा मरने से भय होगा तो वे भोजन करेंगे। बिना इच्छा के भोजन से हाथ क्यों लगावे? भोजन का ग्रास (कौर-कवल) बनाकर मुख में कैसे रक्खें? बिना इच्छा के उसे दांतों से चबाने का श्रम (मिहनत) तथा कष्ट क्यों करें, और बिना इच्छा के उस चबाये

हुये मुख के भोजन को गले के नीचे कैसे उतारें ? यानी— ये सब कार्य इच्छा—राग भाव से ही हो सकते हैं।

यह तो है नहीं कि विहायोगति कर्म के उदय से तथा अन्य देशवर्ती जीवोंके पुण्य विपाक के निमित्त से जैसे उनके गमन होता है या वचन योग के वश से तथा भव्य जीवों के पुण्य विपाक से जैसे दिव्य-ध्वनि होती है उसी प्रकार केवली भगवान के भोजन भी बिना इच्छा के वेदनीय कर्म के उदय से अपने आप हो जायगा, क्योंकि आकाशगमन और दिव्य-ध्वनि में एक तो केवली भगवान का कोई निजी स्वार्थ नहीं जिससे उनसे उस समय इच्छा अवश्य होवे। वे दोनों कार्य कर्मके उदय से परवश उन्हें करने पड़ते हैं, और वह नामकर्म कराता है। परन्तु वेदनीय कर्म तो ऐसा नहीं कर सकता।

वेदनीय कर्म यदि आपके कहे अनुसार कार्य भी करे तो अधिक से अधिक यही कर सकता है कि असह्य (न सहने योग्य) भूख वेदना उत्पन्न कर दे किन्तु वह भोजन करने की इच्छा तो किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि इच्छा वेदनीय का कार्य नहीं है। और न बलपूर्वक (जबरदस्ती) भोजन ही करा सकता है। क्योंकि वह (असाता वेदनीय) केवल दुःख उत्पादक है। दुःख हटाने की चेष्टा मोह-नीय कर्म कराता है। इस कारण केवली भगवान के यदि वे भोजन करें तो मोह अवश्य मानना पड़ेगा।

तथा—एक बात यह भी है कि केवलज्ञानी यदि भोजन करें तो अपनी२ जठराग्नि के (पेटकी भोजन पचाने वाली अग्नि के) अनुसार कोई केवली थोड़ा भोजन करेंगे और कोई बहुत करेंगे, क्योंकि ऐसा किये बिना उनके पूर्ण तृप्ति नहीं होगी। पूर्ण तृप्ति हुए बिना उन्हें शान्ति, सुख नहीं मिलेगा। अतएव यदि वे पेट पूरा भरकर भोजन करें तो अव्रती लोगों के समान भोगाभिलाषी हुये। यदि भूख से कुछ कम भोजन करें तो दो दोष आते हैं, एक तो यह कि उन का पेट खाली रह जाने से पूरी तृप्ति नहीं होगी अत एव सुख में कमी रहेगी। दूसरा यह कि—जब वे यथाख्यात चारित्र पा चुके हैं तब उन्हें ऊनोदर (भूख से कम खाना) तप करने की आवश्यकता ही क्या रही ?

तथा यदि भोजन कर लेने पर कुछ भोजन शेष रह जाय तो उसे क्या फिकवा देंगे ? या किसी को खिला देंगे ? यदि फेंकवा देंगे तो उस भोजन में सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होंगे, हिंसा के साधन बनेंगे। यदि उस बचे हुए भोजनको कोई खा ले तो उच्छिष्ट (जूठा) भोजन कराने का दूषण केवली को लगेगा।

सारांश—यह है कि भोजन कराने पर केवली भगवान मोही तथा दोष वाले अवश्य सिद्ध होंगे। इसी कारण गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा है—

णट्ठायरायदोसा इंदियणाणं च केवलिस्स जदो।
तेणदु सातासातज सुहदुक्खं णत्थि इंदियजं १२७

यानी—केवली भगवान के रागद्वेष तथा इन्द्रिय-ज्ञान नष्ट हो चुके हैं इस कारण साता वेदनीय तथा असाता वेदनीय के उदय से होनेवाला इंद्रिय जन्य सुख या दुःख केवली के नहीं है।

इस कारण मोहनीय कर्म बिलकुल नष्ट हो जाने से भी केवली भगवान भोजन नहीं कर सकते हैं—

केवली भोजन करें भी क्यों ?

मनुष्य भोजन मुख्यतया चार कारणों से करते हैं। १-भूख लगने से दुःख होता है उस दुःख को दूर करने के लिये भोजन करना आवश्यक है।

२-भोजन न करनेसे भूखके मारे बुद्धि कुछ काम नहीं करती है। ३-भोजन न करने से बल घट जाता है। ४-भोजन न करने से मृत्यु भी होती है। इन चार कारणों से विवश (लाचार) होकर मनुष्य भोजन किया करते हैं।

किन्तु केवली भगवान में तो ये चारों ही कारण नहीं पाये जाते क्योंकि पहला कारण तो इसलिये उन के नहीं है कि उनके मोहनीय कर्म के अभाव से अनन्त सुख (अतींद्रिय सच्चा) प्रगट हो गया है इस कारण उनको किसी प्रकार का लेशमात्र भी दुःख नहीं हो सकता। क्योंकि अनन्त सुख वह है जिमसे कि किसी तरह का जरा भी दुःख न हो फिर भूख का बड़ा भारी दुःख तो उनके होवे ही क्यों? और जब कि उनको भूख का कुछ दुख ही नहीं लगता तब उन्हें भोजन करनेकी क्या आवश्यकता? यानी कुछ आवश्यकता नहीं।

दूसरा कारण इसलिये नहीं है कि अर्हन्त भगवान के ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो जानेसे अनन्त, अविनाशी केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है वह कभी न तो कम हो सकता है और न नष्ट हो सकता है जिससे कि उनको भोजन करना आवश्यक है।

तीसरा कारण इसलिये नहीं है कि अन्तराय कर्म न रहने से उनके अनन्त बल उत्पन्न हो गया है इस कारण वे यदि भोजन न भी करें तो उनका बल कम नहीं हो सकता।

चौथा कारण इस लिये नहीं है कि वे आयु कर्म नष्ट होनेके पहले किसी भी प्रकार शरीर छोड़ (मर) नहीं सकते क्योंकि केवली भगवान की अकालमृत्यु नहीं होती है ऐसा आप श्वेताम्बरी भाई भी मानते हैं। फिर जबकि उनकी आयु पूर्ण होने के पहले केवली भगवान की मृत्यु ही नहीं हो सकती तब भोजन करना व्यर्थ है। भोजन न करने पर भी उन का कुछ बिगाड़ नहीं।

इस कारण केवली भगवान्‌को कवलाहार मानना निरर्थक है। भोजन करने से उन्हें कुछ लाभ नहीं। फिर वे निष्प्रयोजन कार्य क्यों करें। क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते' यानी बिना मतलब विचारा मूर्ख (अल्पबुद्धि) आदमी भी किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता है।

—केवली की भोजन विधि—

श्वेताम्बरी भाई कहते हैं कि केवली भगवान अपने लिये भोजन लेने स्वयं नहीं जाते किन्तु उनके लिये गणधर या इतर कोई मुनि भोजन ले आते हैं। उस भोजन को अर्हंत भगवान दिन के तीसरे पहर यानी १२ बजे के पीछे ३ बजे तक के समय में खाते हैं। अर्हंत भगवान के भोजन करने के लिये 'देवच्छन्दक' नाम का स्थान बना होता है उस पर बैठकर भोजन करते हैं। अतिशय से भोजन करते हुये इन्द्र या दिव्यज्ञान धारी मुनि के सिवाय किसी को दिखलाई नहीं देते।

इस प्रकार भोजन करने से केवली के एक तो भोजन करने की इच्छा सिद्ध होती है जिससे कि वे प्रत्येक दिन तीसरे पहर अपने स्थान (गन्धकुटी) से उठकर उस देवच्छन्दक स्थानपर जाकर बैठते हैं और भोजन करते हैं तथा भोजन करके फिर अपने स्थान पर चले जाते हैं।

दूसरे उनके परिणामों में व्याकुलता आ जाना सिद्ध हो जाता है क्योंकि उनके परिणामों में जब भूख से व्याकुलता होगी तभी वे उठकर और कार्य छोड़कर भोजन करने जाते हैं।

तीसरे—भोजन करना केवली के लिये इस कारण भी अनुचित सिद्ध होता है कि वे भोजन करते हुये साधारण जनता को दिखाई नहीं देते हैं। जैसे उपदेश देते समय दे सबको दिखलाई देते। जो कार्य कुछ अनुचित होता है वह ही छिपकर किया जाता है। तथा लोग उस देवच्छन्दक स्थान को जानते तो होंगे ही। तदनुसार सिंहासन खाली देखकर समझ भी लेते होंगे कि भगवान भोजन करने गये हैं।

चौथे भोजन करने के पीछे साधुओं को भोजन सम्बन्धी दोष हटाने के लिये कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण करना पड़ता है सो केवली स्वयं करते हैं या नहीं? यदि करते हैं तो भोजन करना दोष ठहरा। यदि नहीं करते तो भोजन बनने में जो गृहस्थ से त्रस स्थावर जीव का घात हुआ तथा भोजन लाने वाले मुनि से जाने आने में जो हिंसा हुई वे दोष केवली ने कैसे दूर किये?

पांचवे भोजन करने से उनको नीहार यानी पाखाना और पेशाब भी आता है ऐसा आप मानते हैं। किन्तु वे पाखाना तथा पेशाब करते दिखलाई नहीं देते।

इस प्रकार भोजन करने से उनके शरीर में टट्टी पेशाब सरीखे गन्दे मैल और पैदा हो सकते हैं जिनके कारण अनन्त सुखी केवली भगवान को एक दूसरी घृणित आफत तयार हो गई।

मुनि आत्माराम जी का उसी ५७१वें पृष्ठ में यह भी कहना है कि "सामान्य केवलियों के तो विरक्त देश में (एकान्त में) मलोत्सर्ग (टट्टी पेशाब) करने से दोष नहीं है" इसलिये यह भी मालूम हुआ कि सामान्य केवलियो के टट्टी पेशाब करने को मनुष्य उस एकान्त स्थान में जाकर देख भी सकते हैं।

छठे केवली भगवान को भोजन कराने के लिये कोई मुनि पास रहता होगा जो केवली भगवान के हाथ में भोजन रखता जाता होगा क्योंकि केवली पाणिपात्र (हाथमें भोजन करने वाले) होते हैं, पात्रों में भोजन नहीं करते। जैसा कि आत्माराम जी ने तत्वनिर्णय प्रासाद के ५६७ पृष्ठ पर लिखा है कि 'अर्हंत भगवन्तों को पाणिपात्र होने से'। इस लिये भोजन पान कराने वाले एक मनुष्य की आवश्यकता भी हुई।

सातवें बात, पित्त कफ के विषम हो जाने से अथवा आहार रूखा, सूखा, ठण्डा, गर्म आदि मिलने से केवली के पेट में कुछ गड़बड़ भी हो सकती है जिससे कि केवली भगवान को पेचिष आदि रोग भी हो सकते हैं। तब फिर उन रोगों को दूर करने के लिये औषध लेने की आवश्यकता भी केवली को होगी जैसे कि आप श्वेताम्बरी भाइयों के कहे अनुसार महावीर स्वामी को हुई थी।

आठवें नगर में या इधर उधर अग्नि लगने युद्ध आदि उपद्रव होने से अन्तराय हो जाने के कारण किसी दिन आहार नहीं भी मिल सकता है जिससे कि उस दिन केवली भगवान भूखे भी रह सकते हैं।

नौवें वैक्रियिक शरीरी देव ३२-३३ पक्ष यानी सोलह साढ़े सोलह मास पीछे थोड़ा सा आहार लेते हैं। औदारिक शरीर वाले भोग भूमिया मनुष्य तीन दिन पीछे बेर के बराबर आहार करते हैं और टट्टी

+ देखो मुनि आत्माराम जी कृत वि० सं० १६५८ के छपे हुये तत्वनिर्णय प्रासाद की ५७१ वां पृष्ठ "अतिशय के प्रभाव से भगवन्त का नीहार भी मांस चक्षुओं वाले के अदृश्य होने से दोष नहीं है।"

पेशाब आदि मल मूत्र नहीं करते। किन्तु केवली प्रति दिन उनसे कई—गुणा अधिक आहार करते हैं तथा प्रति दिन टट्टी पेशाब भी उन्हें करना पड़ता है। इसलिये अनन्त सुख वाले केवली भगवान से तो वे देव और भोगभूमिया ही हजारों गुण अच्छे रहे। वेदनीय कर्म ने केवली भगवान को उनकी अपेक्षा बहुत कष्ट दिया।

दशवां एक अनिवार्य दोष यह भी आता है कि केवली भगवान मल मूत्र करने के पीछे शौच (गुदा आदि मल युक्त अङ्गों को साफ) कैसे करते होंगे? क्योंकि उनके पास कमण्डलु आदि जल रखने का बरतन नहीं होता है जिसमें कि पानी भरा रहे।

इत्यादि अनेक अटल दोष केवली के कवलाहार करने के विषय में आ उपस्थित होते हैं जिनके कारण श्वेताम्बरी भाइयों का अर्थात प्रोफेसर जी का पक्ष बालू की भींत के समान अपने आप गिरकर धराशायी हो जाता है। हमें दुख होता है कि श्वेताम्बरीय प्रसिद्ध साधु आत्माराम जी आदि ने केवली का कवलाहार सिद्ध करने में असीम परिश्रम करके व्यर्थ समय खोया। वे यदि केवली-भगवान के वीतराग पद का तथा उनके अनन्त चतुष्टयों का जरा भी ध्यान रखते तो हमारी समझ से निष्पक्ष हो कर इतनी भूल कभी नहीं करते।

—सारांश—

यह सब लिखने का सारांश यह है कि क्षुधा (भूख) एक असह्य दुख है जो कि अनन्त सुखधारक केवली के नहीं हो सकता, क्योंकि या तो वे असह्य दुखधारी ही हो सकते हैं या अनन्त सुखधारी ही हो सकते हैं। तथा भोजन करना रागभाव से ही होता है। बिना राग-भाव के भोजन करके अपना उदर तृप्त करना बनता नहीं। केवली भगवान मोहनीयकर्म को नष्ट कर चुके हैं इस कारण रागभाव उनमें लेश-मात्र भी नहीं रहा है। अतएव वे राग भाव के अभाव में भोजन भी नहीं कर सकते। इसलिये या तो उनके कवलाहार का अभाव कहना पड़ेगा।

एवं भोजन न करने पर भी केवली भगवान का ज्ञान न तो घट सकता है और न बल कम हो सकता है तथा न उनकी भोजन न करने के कारण मृत्यु ही हो सकती है, एवं न उन्हें कोई किसी प्रकार की व्याकुलता ही उत्पन्न हो सकती है। क्योंकि वे ज्ञानावरण मोहनीय और अन्तराय कर्मों का बिलकुल क्षय करके अविनाशी, अनन्तज्ञान, सुख और बल प्राप्त कर चुके हैं। इस कारण केवली को कवलाहार (ग्रासवाला भोजन) करना सर्वथा निष्प्रयोजन है।

वेदनीय कर्म विद्यमान रहता हुआ भी मोहनीय कर्म की सहायता न रहने से केवली भगवान को कुछ फल नहीं दे सकता। तथा—वेदनीय कर्म में स्थिति, अनुभाग (फल देने की शक्ति) कषाय के निमित्त से पड़ते हैं सो केवली भगवान के कषाय बिलकुल न रहने से वेदनीय कर्म में बिलकुल स्थिति नहीं पड़ती है। पहले समय में आकर उसी समय में कर्म झड़ जाता है। वह एक समय भी आत्मा के साथ नहीं रहने पाता।

दूसरे उसमे अनुभाग शक्ति जरा भी नहीं होती भस्म किये हुये (प्रयोग द्वारा मारे हुये) संखिया के समान वह कर्म अपना कुछ भी फल नहीं दे सकता। इसलिये वेदनीय कर्म का उदय कर्मसिद्धांत के अनुसार क्षुधा, तृषा, आदि परीषहों को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये श्वेताम्बरीय ग्रन्थकार स्वयं केवली से अक्षय, अतींद्रिय, अनुपम, अनन्त, अप्रतिहत,

स्वाधीन सुख मानते हैं। फिर भला वे ही बतलावें कि ऐसा सुख रहते हुए भी उन्हें क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परीषह किस प्रकार कष्ट दे सकती हैं।

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि अपने पक्ष में अटल दूषण आते भी देखकर हमारे श्वेताम्बरी भाई केवली भगवान के वेदनीय कर्म के उदय से ११ ग्यारह परीषहों का होना हठकर बतलावें तो उन्हें इस बात का भी उत्तर देना होगा कि क्षुधा, तृषा परीषह मिटाने के लिये तो आपने सदोष कवलाहार करने की कल्पना कर ली किन्तु शेष ९ परीषहों का कष्ट केवली भगवान के ऊपर से टालने के लिये क्या प्रबन्ध कर छोड़ा है।

क्या केवली भगवान को शीत, उष्ण, परीषह से सर्दी गर्मी का कष्ट होता रहता है, उसको हटाने का कोई उपाय नहीं? क्या उन्हें दंशमशक परीषह के अनुसार डांस, मच्छर आदि कष्ट देते रहते हैं, कोई उन्हें बचाता नहीं है? चर्या शय्या परीषह के अनुसार क्या केवली भगवान को चलने और लेटने का कष्ट सहना पड़ता है? बध परीषह के अनुसार क्या कोई दुष्टमनुष्य, देव तिर्यञ्च उन्हें आकर मारता भी है? रोग परीषह क्या उनके शरीर में रोग पैदा कर देती है? तृणस्पर्श परीषह के निमित्त से क्या उनके हाथ पैरों में तिनके कांटे आदि चुभते रहते हैं, और क्या मल परीषह उनके शरीर पर मैल उत्पन्न करके केवली को दुख देती रहती है।

इन दुखोंके दूर करने का भी कोई प्रबन्ध सोचा होगा यदि केवली के उक्त ९ परीषहों के द्वारा ९ प्रकार के कष्ट होते हैं, तो उनके निवारण का उपाय क्या होता है?

यदि इन ९ परीषहों का कष्ट केवली महाराज को होता ही नहीं तो क्षुधा, तृषा का ही क्यों कष्ट उन्हें अवश्य होना माना जाय?

इसी कारण स्वर्गीय कविवर प० द्यानतराय जी ने एक सवैया में कहा है—

भूख लगे दुख होय, अनन्तसुखी किमि केवलज्ञानी। खात विलोकत लोकालोक देख कुद्रव्य भखे किमि ज्ञानी॥ खाय के नींद करें सब जीव न स्वामि के नींद की नाम निशानी। केवली कवलाहार करैं नहिं सांची दिगम्बर ग्रन्थ की बानी॥

यानी—भूख लगने पर बहुत दुःख होता है फिर भूख लगनेसे केवलज्ञानी अनन्तसुखी कैसे हो सकते हैं? तथा केवली भगवान भोजन करते हुये भी समस्त लोक, अलोक को स्पष्ट देखते हैं फिर वे मल, मूत्र, रक्त, पीव आदि अपवित्र घृणित लोक के पदार्थों को देखकर भोजन कैसे कर सकते हैं? एवं भोजन करने के पीछे सभी कोई आराम करने के लिये सोया करते हैं किन्तु केवलज्ञानी सोते नहीं। इस कारण केवली भगवान के कवलाहार नहीं है यह कथन दिगम्बर जैन ग्रन्थों में है और वह बिलकुल ठीक है।

—केवली भगवान का स्वरूप—

अब हम संक्षेपरूप से केवली भगवान के स्वरूप का उल्लेख करते हैं।

जिस समय दशवें गुणस्थान के अन्त में अथवा बारहवें गुणस्थान के आदि में मोहनीयकर्म का और उसके अन्तमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म का क्षय हो जाता है उस समय साधु तेरहवें गुणस्थान में पहुंच जाते हैं और उनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य यह अनन्त-

चतुष्टय उत्पन्न हो जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेसे उन्हें केवली तथा सर्वज्ञ भी कहते हैं क्योंकि वे उस समय समस्त काल और समस्त लोक के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते हैं।

उस समय उनमें जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, आश्चर्य, पीड़ा, खेद, रोग, शोक, मान, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, पसीना, राग, द्वेष और मरण ये १८ अठारह दोष नहीं रहते हैं? तथा १० अतिशय प्रगट होते हैं। उनके आस पास चारों ओर सौ योजन तक दुर्भिक्ष नहीं होता है, उनके ऊपर कोई उपसर्ग नहीं होता है, उनके कवलाहार नहीं होता है, उनके नख और केश नहीं बढ़ते हैं न उनके नेत्रों के पलक झपकते हैं उनके शरीर की छाया भी नहीं पड़ती वे ऊंचे निराधार गमन करते हैं उनके आस पास रहने वाले जाति विरोधी जीव भी विरोधी भाव छोड़कर प्रेम से रहते हैं इत्यादि।

केवली भगवान का शरीर मूत्र, पाखाना, आदि मल रहित होता है, न उसमें निगोद राशि रहती है और न उसमें रक्त मांस आदि धातुएं बनती हैं।

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्॥

यानी—दोष रहित केवली भगवान का शरीर शुद्ध स्फटिक मणि के समान तेजस्वी और सप्तधातु रहित होता है केवली भगवान यद्यपि कवलाहार (भोजन) नहीं करते हैं किन्तु लाभान्तराय कर्म का क्षय हो जाने से उनको क्षायिक लाभ नामक लब्धि प्राप्त हो जाती है इस कारण उनके शरीर पोषण के लिये प्रति समय असाधारण, शुभ अनन्त नोकर्म वर्गणायें आती रहती हैं। इस कारण कवलाहार न करने पर भी नोकर्म और कर्माहार उनके होता है। इसलिये उनका परम औदारिक शरीर निर्बल नहीं होने पाता।

इसी कारण कवलाहार न होने पर भी केवलज्ञानी भगवान का परमौदारिक शरीर नोकर्म और कर्माहार से ठहरा रहता है यह सिद्ध हुआ।

इस प्रकार प्रोफेसर साहब तथा उन सरीखे श्रद्धा तद्धा कहने वाले सभी महाशयों का निराकरण करने वाला यह तृतीय कुसुम (प्रकरण) समाप्त हुआ।

—: सारांश :—

प्रोफेसर जी कहते हैं कि, श्री अनादि अनिधन सनातन जैन धर्म प्रस्थापक श्री कुन्दकुन्दाचार्य ही हैं, और कुन्दकुन्द के गुरु भद्रबाहु, कहना यह बात बिलकुल युक्ति शून्य व गलत है, क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु जिनचन्द्राचार्य होने पर भी जिनागम युक्त अन्वर्थक नाम ढककर कपोल कल्पित कहना यह मुख को शोभा नहीं है। और कुन्दकुन्द को इस युग के समस्त आचार्यों में प्रथम और प्रधान बतलाने में स्वार्थ है, इत्यादि—

मङ्गलं भगवान वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

इस प्रस्तुत मङ्गलाचरण का क्या अभिप्राय है? अर्थात्—सभी पूर्वाचार्यों से भी प्रथम कुन्द—कुन्दाचार्य हैं यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है।

आगे लिखते हैं कि—स्थविरावली के अनुसार शिवभूति के शिष्य और उत्तराधिकारी 'भद्र' हुये। इस लिखावट से आपने 'भद्र' से द्वितीय 'भद्रबाहु' को समझा है, जिसकी कि पुष्टि आपने श्रवणबेल—गोला शिलालेख नं० ४० (६४) से की है। किन्तु उस शिला लेख का अर्थ आपने बिलकुल उलटा (विपरीत) ही किया है। शिला लेख निम्न लिखे

अनुसार है—

शिलालेख नं० ३

श्री भद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः ।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः ।
चन्द्रप्रकाशोज्ज्वलसान्द्रकीर्तिः ।
श्रीचन्द्रगुप्तोजनि तस्य शिष्यः ।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभिराराधितः
स्वस्य गणो मुनीनाम् ॥

भावार्थ—सर्व प्रकार से कल्याण कारक श्रुत—केवलियों में अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहु परम मुनि हुये। उनके शिष्य चन्द्रगुप्त हुये जिनका यश चन्द्र समान उज्ज्वल है और जिनके प्रभाव से बन देवता ने मुनियों की आराधना की थी।

इस शिलालेख से यह बात प्रमाणित होती है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त जिन भद्रबाहु मुनीश्वर के शिष्य थे वे श्री भद्रबाहु अन्तिम श्रुत केवली ही थे, दूसरे भद्रबाहु नहीं।

शिलालेख नं० ४

वर्ण्यः कथन्तु महिमा भण भद्रबाहोः,
मोहोरुमल्लमदमर्दनवृत्तबाहोः ।
यच्छिष्यताप्तसुकृतेन च चन्द्रगुप्तः,
शुश्रूषते स्म सुचिरं बनदेवताभिः ॥

अर्थ—भला कहो तो सही कि मोहरूपी महामल्ल के मद को चूर्ण करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी की महिमा कौन कह सकता है जिनके शिष्यत्व के प्राप्त पुण्य प्रभाव से बन-देवताओं ने चन्द्रगुप्त की बहुत दिनों तक सेवा की।

शिलालेख नं० ५

तदन्वये शुद्धमतिप्रतीते समग्रशीलामलरत्नजाले ।
अभूद्यतींद्रो भुवि भद्रबाहुः पयः पयोधाविव पूर्णचंद्रः ।
भद्रबाहुरग्रिमस्समग्रबुद्धिसम्पदा,
शुद्धसिद्धशासनः सुशाब्दबन्धसुन्दरम् ।
इद्धवृत्तिरत्र बद्धकर्मभित्तपोद्ध,
ऋद्धिवर्द्धित प्रकीर्तिरुद्धधीमर्हद्धिकः ॥
यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां,
मुनीश्वराणामिह पश्चिमोपि ।
अपश्चिमोऽभूद्विदुषां विनेता,
सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन ॥
यदीयशिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः समग्रशीलानतदेववृद्धः
विवेश यत्तीव्रतपः प्रभावात् प्रभूतकीर्तिर्भुवनांतराणि

भावार्थ—जिसमें समस्त शीलरूपी रत्नसमूह भरे हुये हैं और जो शुद्धबुद्धि से प्रख्यात है उस वंश समुद्रमें चन्द्रमासमान श्री भद्रबाहु स्वामी हुये ।१।

समस्त बुद्धिशालियों में श्री भद्रबाहु स्वामी अग्रेसर थे। शुद्ध सिद्ध शासन और सुन्दर प्रबन्ध से शोभा सहित बढ़ी हुई है व्रत की सिद्धि जिनकी तथा कर्मनाशक तपस्या से भरी हुई है कीर्ति जिनकी ऐसे ऋद्धिधारक श्री भद्रबाहु स्वामी थे ।२।

जो भद्रबाहु स्वामी श्रुत केवलियों में अन्तिम थे किन्तु शास्त्रोंका प्रतिपादन करनेवाले समस्त विद्वानों में प्रथम थे ।३।

जिनके शिष्य चन्द्रगुप्त ने अपने शील से बड़े २ देवों को नम्रीभूत बना दिया था। जिन चन्द्रगुप्त के घोर तपश्चरण के प्रभाव से उनकी कीर्ति समस्त लोकों में व्याप्त हो गई है ।४।

इन शिलालेखों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि सम्राट् चन्द्रगुप्त अन्तिम-श्रुत केवली के शिष्य होकर मुनि हुये थे। और उनके साथ चन्द्रगिरि पर्वत पर उन्होंने तपस्या की थी। पूर्व अवस्था में चन्द्रगुप्त एक अच्छे प्रसिद्ध शूरवीर सम्राट् थे इस कारण राजा-

लेखों में भी उनका नाम प्रभाचन्द्र (मुनि-दीक्षा के समय का नाम) न लेकर अधिकांश चन्द्रगुप्त ही लिया गया है। तथा उनके नाम के ऊपर ही कटवप्र पर्वत का नाम चन्द्रगिरि रख दिया गया। एवं उन के पौत्र सम्राट् अशोक द्वारा निर्माण कराये गये इस पर्वत के जैन मन्दिरों का नाम 'चन्द्रगुप्त बस्ती' प्रसिद्ध हुआ।

इसके सिवाय गौतम क्षेत्र के अपर भाग में बहने वाली कावेरी नदीके पश्चिम भागमें जो रामपुर ग्राम है उसके अधिपति सिङ्करी गौडाके खेतमें जो दो शिलालेख मिले हैं वे इस प्रकार हैं।

शिलालेख नं० ६

श्री राज्यविजय सम्वत्सर सत्यवाक्य परमानदि-गलु आलुत नाल्किनेय वर्षात मार्गशीर्ष मासद पेर-वले दिवास भागे स्वस्ति समस्तविद्यालक्ष्मी प्रधान—निवास प्रभव प्रणत सकल सामन्त समूह भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मुनिपति-चरणलाञ्छनांचित विशिलसिर-कलवप्पु गिरिमनाथ बेल्गुलाधिपति गण धा श्री वर मतिसागर पण्डितभट्टार वेसदोल, अन्नयनु देवकुमार-नु घोटनु इलदुर आरयणो वाणपल्लिय कोण्ड श्रीके सिग... .. . तले नेरिपुल कट्टन कट्ट सुड़के।

कोट्टस्थिति क्रमवण्न्तुत्र यन्दोदे वंड़र नियनीर वयगीय गिड़ वरिस पत्तेन्दि ऐरदनेय वरिमभेड़ अजनिसुरनेयवरिस दन्दिगे यड़लत्रीयेलाकलां क यल्लं इल्व यल्लु सलगु।

अर्थ—समस्त लक्ष्मी तथा सरस्वती का निवास-स्थान और समस्त सामन्तों द्वारा नमस्कृत श्री भद्र-बाहु और चन्द्रगुप्त महामुनि के चरणों से मण्डित कटवप्र सदा विजयशील रहे।

सत्यवाक्य परमानदी महाराज के राज्य के चौथे वर्ष में मार्गशीर्ष शुक्लाष्टमी को श्री मतिसागर पण्डित भट्टारक की आज्ञानुसार अन्नय्या, देवकुमार और घोर इन तीनों ने वेनपल्लिके खरीददार केशी के लिये तेल्लुरमें सेतु निर्माणके बदले में निम्नलिखित दान दिया है।

सब ग्राम निवासियों ने खेती के लिये इस सेतु से जल लेने का प्रयोग किया प्रथमवर्ष में बिना कुछ दिये ही जल का उपयोग करना। दूसरे वर्ष में कुछ देकर उपयोग करना और तीसरे वर्ष में जो कुछ दिया जायगा वह निश्चित रूप से निर्धारित कर समझा जाय।

शिलालेख ७

(९वीं शताब्दी)

भद्रमस्तु जिनशासनाय। अनवरत......अखिल सुरासर नश्यति मौलिमाला......चरणारविन्द युगल

सकल श्री राज्य युवराज्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मुनिपति मुद्राङ्कित विशाल जगल ललामायित श्री कलवप्पु तीर्थसनाथ बेलगुलनिवासि... अव (म) णसङ्घ स्याद्वादाधार भूतरप्पा श्रीमत्स्वस्ति सत्यवा-क्योङ्गुणि वर्मा धर्म महाराजाधिराजकु वलाल पुरव-रेश्वर नन्दिगिरिनाथ स्वस्ति समस्त भुवनविनुतगङ्ग-कुलगगननिर्मलता गपतिजलधिजलविपुल विलयमेख-लाकलापालङ्कृतैलाधिपत्य लक्ष्मी स्वयम्वृत पतिवद्य अगणितगुणगणभूषण भूषितविभूति श्रीमत्परमान-दिगलु येरेयप्पसरं इलुचगि परमनदि गल कलाव—साद आय्यरप्पा परपिगे कुमारसेन भट्टारकपदे स्थिति विलय अकिरय सोल्लुगेय विट्टिडनट्टपर मन यल्ला-कलकम् सर्वबाधा परिहरं आगे विदिसिदार इदन—लिड़ अड़ोन कोड़न पशुवं परवरं केरेय अर्मेयं वना-सियुनं आलिड़ पंच महापातकं।

देवस्वं तु विषं घोरं न विषं विषमुच्यते ।
विषमेकाकिनं हन्ति देवस्वं पुत्रपौत्रकं ॥

यह शिलालेख क्यातनहल्ली ग्राम के दक्षिण भाग में जो बस्ती है वहां पर है ।

तात्पर्य—जैनधर्म का कल्याण हो । समस्त देव राक्षस तथा राजा लोगों के मस्तक झुकाने से मुकुट-मणि की चमक से प्रकाशमय चरणकमल वाले श्री भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार करो । मोक्ष राज्य के युवराज, स्याद्वाद के संरक्षक, बेलगुलस्थ श्रमणसङ्घ के अधिपति अपने चरणकमल से जगद् भूषण कट-वप्र पर्वत को पवित्र करने वाले श्रीमान भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त मुनि हमारा संरक्षण करें । गङ्ग राजकुलाकाश के निष्कलङ्क चन्द्रमा और कुवलयपुर तथा नन्दगिरि के स्वामी श्रीसत्यवाकोङ्गुणि वर्मा धर्ममहाराधिराज की स्तुति समस्त संसार ने की है । समुद्रमेखला से परिवेष्टित तथा पृथ्वी के स्वयम्वरित पति सकलगुणविभूषित श्रीपरमानदी एयेरप्पसरप्पाने जिनेन्द्र भवन के लिये श्री कुमारसेन भट्टारक को निम्नलिखित दान दिया है ।

एक ग्राम स्वच्छ चावल बेगार घी इन दान दी हुई वस्तुओं के अपहरण करनेवालो को हिंसा और पंच महापाप का पातक लगेगा ।

केवल विष ही विष नहीं होता है किन्तु देव धन को भी घोर विष समझना चाहिये क्योंकि विष तो भक्षण करने वाले केवल एक प्राणी को मारता है किन्तु देवधन सारे परिवार का नाश कर देता है ।

इन शिलालेखों से भी हमारी पूर्वोक्त बात पुष्ट हो गई । इस कारण तात्पर्य यह निकला कि अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी के समय मालवा आदि उत्तर देशों में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष अवश्य पड़ा था । उसके प्रारम्भ होने से पहिले ही भद्रबाहु स्वामी अपने मुनि-संघसहित दक्षिण देश को रवाना हो गये थे । वहां कटवप्र पर्वत के समीप निमित्त ज्ञान से उनको अपना मृत्यु समय निकट मालूम हुआ इसलिये अपने पास केवल नव दीक्षित चन्द्रगुप्त अपरनाम प्रभाचन्द्र को अपने पास रखकर कटवप्र पर्वत पर समाधिमरण धारण कर ठहर गये और समस्त मुनिसङ्घ को चोलपांड्य देश की तरफ भेज दिया ।

—शास्त्रीय-प्रमाण—

अब हम इस विषय में पुरातन ग्रन्थों का प्रमाण उपस्थित करते हैं जिससे कि पाठक महानुभावों को उक्त कथा की सत्यता और भी दृढ़रूप से मालूम हो जावे । 'राजवली कथा—नामक कर्नाटक भाषा में एक अच्छा प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ है जो कि देवचन्द्र ने सम्वत् १८०० में लिखा है । उस ग्रन्थमें ग्रन्थ लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि—

"सम्राट् चन्द्रगुप्त अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्र-बाहु का शिष्य था । संसार से विरक्त होकर भद्र-बाहु से मुनिव्रत की दीक्षा लेकर मुनि हुआ था । मुनि दीक्षा देते समय श्री भद्रबाहु स्वामी ने उसका नाम 'प्रभाचन्द्र' रक्खा था । बारह वर्ष के दुष्काल के समय वह भद्रबाहु के साथ दक्षिण देश आया था और वहां पर भद्रबाहु के समाधिमरण करने के समय उनकी वैयावृत्य के लिये कटवप्र (कलवप्पु) पर्वत पर रहा था ।"

श्री हरिषेणाचार्यकृत 'बृहत्कथाकोष' नामक ग्रन्थ में भी जो कि सम्वत ६३१ में बना है श्री भद्रबाहु स्वामी और सम्राट् चन्द्रगुप्त के विषय में उपर्युक्त लेख के अनुसार ही उल्लेख है ।

श्री रत्ननन्द्याचार्यने सम्वत् १४५० में जो भद्रबाहु चरित्र नामक ग्रन्थ बनाया है उसमें लिखा है—

चन्द्रावदातसत्कीर्तिश्चन्द्रवन्मोदकर्तृणाम् ।
चन्द्रगुप्तिनृपस्तत्राचकच्चारुगुणोदयः ॥७॥

द्वितीय परिच्छेद,

राजात्त्वदीयपुण्येन भद्रबाहुः गणाग्रणीः
आजगाम तदुद्याने मुनिसन्दोहसंयुतः ॥२१॥

तृतीय परिच्छेद,

चन्द्रगुप्तिस्तदावादीद्विनयान्नवदीक्षितः ।
द्वादशाब्दं गुरोः पादौ पर्युपासेऽतिभक्तितः ॥२॥
भयसप्तपरित्यक्तो भद्रबाहुर्महामुनिः ।
अशनाय पिपासोत्थं जिगाय श्रममुल्वणम् ॥३७॥
समाधिना परित्यज्य देहं गेहं रुजां मुनिः ।
नाकिलोकं परिप्राप्तो देवदेवीनमस्कृतः ॥३८॥
चन्द्रगुप्तिर्मुनिस्तत्र चंचच्चारित्रभूषणम् ।
आलिख्य चरणौ चारु गुरोः संसेवते सदा ॥४०॥

भावार्थ—चन्द्रसमान उज्वल कीर्तिधारक, चन्द्रमा तुल्य आनन्द करनेवाले, सुन्दर गुणों से विभूषित महाराज चन्द्रगुप्त उज्जनी में हुए।

हे राजन्! आपके पुण्य बल से मुनि संघ के नेता अपने संघ सहित नगर के बाहर उद्यान में आये हैं।

तब नव दीक्षित चन्द्रगुप्त मुनि विनय से बोले कि मैं बारह वर्ष से अपने गुरु श्री भद्रबाहु स्वामी के चरणकमलों की उपासना करता हूं।

तदनन्तर सात भय छोड़कर महामुनि भद्रबाहु स्वामी ने बलवती क्षुधा और पिपासा को रोका।

श्री भद्रबाहु स्वामी रोगों के घर इस शरीर को समाधिपूर्वक छोड़कर देव व देवियों से नमस्कृत स्वर्ग लोक मे पहुंच गये। दीप्तिमान मुनि चारित्र से विभूषित चन्द्रगुप्ति मुनि वहां पर अपने गुरु श्री भद्रबाहु स्वामी के चरणों को लिखकर उनकी सेवा करने लगे।

इसके आगे इसी ग्रन्थ में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का वर्णन पीछे लिखे अनुसार किया है।

इस प्रकार पुरातन ग्रन्थों से भी दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार ही श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का वृतान्त मिलता है।

—विदेशी इतिहासवेत्ताओं की सम्मति—

मिस्टर बी० लुईस राइस महाशय ऐपिग्राफिका कर्नाटिका में लिखते हैं कि—चन्द्रगुप्त निःसन्देह जैन था और श्री भद्रबाहु स्वामी का समकालीन तथा उनका शिष्य था।

इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन में लिखा हुआ है कि "सम्राट् चन्द्रगुप्त ने बी०सी० २६० में (ईसवीय सन से २६० वर्ष पहले) संसार से विरक्त होकर मैसूर प्रान्त के श्रवण बेलगुल में जिन दीक्षा से दीक्षित होकर तपस्या की और तपस्या करते हुये स्वर्ग को पधारे।

इस प्रकार इस विषय में जितनी भी खोज की जावे ऐतिहासिक सामग्री हमारे कथन को ही पुष्ट करती है। इस कारण निष्पक्ष पुरातत्व-खोजी महानुभावों को स्वीकार करना पड़ेगा कि श्री भद्रबाहु स्वामी तथा सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में बारह वर्ष का घोर दुष्काल पड़ा था इसके निमित्त से जो जैन साधु उत्तर प्रांत में रहे वे विकराल काल के निमित्त से वस्त्र, पात्र, लाठी धारी हो गये और जो साधु श्री भद्रबाहु स्वामी के साथ दक्षिण देश को चले गये वे पहले के समान नग्न वेश में दृढ़ रहे। अर्थात बारह वर्ष के दुष्काल ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के

समय में जैनमत में श्वेताम्बर नामक एक नवीन पंथ तयार कर दिया।

इस प्रकार विक्रम संवत से भी लगभग २०१ वर्ष पहिले लिखे गये इस लेख से भी यह बात सत्य प्रमाणित होती है कि श्री भद्रबाहु स्वामी के समयमें भारतवर्ष के उत्तर प्रांत में १२ वर्ष का घोर दुष्काल पड़ा था और उस समय भद्रबाहु स्वामी अपने मुनि सङ्घ को साथ लेकर दक्षिण देशों में विहार कर गये थे। इसके सिवाय "दिगम्बर मत विक्रम सम्वत १३८ से प्रचलित नहीं हुआ बल्कि विक्रम सम्वत से भी पहले विद्यमान था" इस बात को सिद्ध करने के लिये अनेक पुष्ट सत्य प्रमाण विद्यमान हैं। देखिये, ज्योतिष शास्त्र के प्रख्यात विद्वान् वराहमिहिर राजा विक्रमादित्य की (जिनके कि स्मारक रूप में विक्रम सम्वत उनकी मृत्यु होने के पीछे चला है।) राज सभा के नौ रत्नों में से एक रत्न थे। जैसाकि निम्न लिखित श्लोक से भी सिद्ध होता है—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्पर कालिदासः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।

इन ही वराहमिहिर ने अपने प्रतिष्ठा काण्ड में एक स्थान पर यह लिखा है कि—

विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्राविदुर्ब्राह्मणां,
मातृणामिति मातृमंडलविदः शम्भोः सभस्माद्विजाः।
शाक्याः सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनानां विदु। ये यं देवमुपाश्रिता स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम्।

अर्थात्—वैष्णव लोग विष्णु की, मय लोग सूर्यदेव की, विप्र लोग ब्राह्मण क्रिया की, मातृ—मण्डल के जानकार ब्रह्माणी, इन्द्राणी आदि माता—ओं की उपासना करें। बौद्ध लोग बुद्ध का उपासना करें। और नग्न लोग (दिगम्बर साधु) जिन भग—वान का पूजन करें। अभिप्राय यह है जो जिस देव के उपासक हैं वे विधिपूर्वक उसकी उपासना करें।

वराहमिहिर के इस लेख से सिद्ध होता है कि दिगम्बर साधु राजा विक्रमादित्य के जीवनकाल में भी विद्यमान थे इस कारण श्वेताम्बरी ग्रन्थों ने जो विक्रम सम्वत के १३७ वर्ष पीछे दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति बतलाई है वह असत्य है।

तथा—महाभारत जो कि ऋषि वेदव्यास जी ने विक्रम संवत से सैंकड़ों वर्ष पहिले लिखा है उसमें एक स्थान पर ऐसा उल्लेख है—

साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च।

अर्थात्—उत्तङ्क नामक कोई विद्यार्थी कुण्डल ले कर चल दिया उसने रास्ते में कुछ दीखते हुये, कुछ न दीखते हुये नग्न मुनि को देखा।

महाभारत का यह उल्लेख भी सिद्ध करता है कि जैन साधुओं का दिगम्बर रूप ही प्राचीन काल से चला आ रहा है पहले श्वेत वस्त्रधारी जैन साधु नहीं होते थे।

कुसुमांजलि ग्रन्थ के रचयिता उदयनाचार्य अपने ग्रन्थ के १६वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि—

'निरावरणा इति दिगम्बराः'

अर्थात्—वस्त्ररहित यानी नग्नरूप दिगम्बर होते हैं। न्यायमञ्जरी ग्रन्थ के ग्रन्थकार जयन्तभट्ट ग्रन्थ के १६७वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

क्रिया तु विचित्रां प्रत्यागमं भवतु नाम। भस्म—जटा परिग्रहो दण्डकमण्डलुग्रहणं वा रक्तपटधारणं

...ना दिगम्बरता वावलम्ब्यतां कोऽत्र विरोधः ।

अर्थात्—क्रिया अनेक प्रकार की होती है। शरीर से भस्म लगाना शिर पर जटा रखना अथवा दण्ड कमण्डलु का रखना या लाल कपड़े का पहनना अथवा दिगम्बरपने का नग्नरूप अवलम्ब (ग्रहण) करो, इसमें क्या विरोध है। इस प्रकार इन ग्रन्थोंमें भी दिगम्बरमत की प्राचीनता का उल्लेख है।

इस प्रकार चाहे जिस प्राचीन ग्रन्थ का अवलोकन किया जाय उसमें यदि जैन साधु का उल्लेख आया होगा तो उसका स्वरूप नग्न दिगम्बर वेश में ही बतलाया गया होगा। श्वेताम्बर, पीताम्बर, (सफेद पीले कपड़े पहनने वाले) रूपमें कहीं भी जैन साधु का उल्लेख नहीं मिलता है। इस कारण सिद्ध होता है कि श्वेताम्बरमत भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवास हुये पीछे दुर्भिक्ष के कारण भ्रष्ट होने से प्रचलित हुआ है और उसका प्रचार विक्रम सम्वत की दूसरी शताब्दी से चल पड़ा है।

इस प्रकार अनेक शास्त्र प्रमाण, अनेक शिलालेख और अनेक अजैन ग्रन्थों के प्रमाणों से प्राफेसर जी के मन्तव्य का निषेध करने वाला यह चौथा प्रकरण समाप्त।

३०

पं० वर्धमान जी पार्श्वनाथ शास्त्री,

न्यायतीर्थ विद्यावाचस्पति

सोलापुर।

* श्री अकलंकदेवाय नमः *

प्रो० हीरालाल जी का मन्तव्य दि० जैन आर्ष से विरुद्ध है ।

आजकल सङ्गठन का युग है। सङ्गठन को सब चाहते हैं, परन्तु सुधारवादी व धार्मिक विद्वानों के सङ्गठन के दृष्टिकोणों में अन्तर है, धार्मिक विद्वान् तो सङ्गठन, धर्म-अविरोधी चाहते हैं—जिसमें धर्म व समाजकी वृद्धि में कोई बाधा न हो, आगममर्यादा को उल्लङ्घन करने का अवसर जिससे न आता हो और समाज के उत्थान में जहां धर्मोत्थान के दर्शन मिलते हों, किंतु सुधारवादी विद्वान येनकेन प्रकारेण सङ्गठन चाहते हैं जिसमें कोई भी आगम मर्यादा आदि पर लक्ष्य देने की आवश्यकता नहीं।

इतना ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर आगम के अर्थ को भी अपने मतपोषण के अनुकूल लगाने का प्रयत्न करना, यदि किसी आगम ग्रंथ में उनकी मत-पुष्टि का कोई प्रमाण न मिले तो तत्कर्ता आचार्य को उस विषय में अनभिज्ञ बता देना, यदि अपने मत के विरोध में कोई प्रमाण मिले तो ऐतिहासिक झमेले में डालकर तद्विषयक आचार्यों को अमुक से बाद का, अमुक से पहिले का कहकर उनके मत को आम्नाय ठहराने की चेष्टा करना, और यदि कुछ भी नहीं मिले तो ग्रन्थकर्ता को भट्टारक ठहराकर अप्रमाण घोषित कर देना......आदि आदि आज कल की अनुसंधान प्रणाली से काम लेने वाले विद्वानों का उद्देश-आगम को अपनी बुद्धि के अनुकूल बनाने का होता है आगम के अनुकूल अपनी बुद्धि को बनाने का नहीं।

जैन सम्प्रदाय वर्तमान में दिगम्बर, श्वेताम्बर, इस प्रकार दो आम्नाय प्रचलित हैं दोनों ही महावीर शासन के अनुयायी जैन कहलाते हैं फिर भी सैद्धांतिक दृष्टिसे इन दोनों सम्प्रदायों में बड़ा भारी अंतर है। नैतिकदृष्टि से, सत्यशोध की ओर अभिरुचि न होने पर भी, दोनों भाई आपस में न लड़ें, परस्पर ईर्षा द्वेष न रक्खें, और कम से कम, वे सदत्तक पुत्रों के समान, व्यवहार करें यह उचित है। इस शिष्टतापूर्ण व्यवहार से अपनी अपनी मान्यता को कायम रखते हुये भी सङ्गठन की वृद्धि हो सकती है, उसके लिये प्रयत्न करना आवश्यक है।

किन्तु कुछ विद्वान उनकी तात्त्विकता के संरक्षण की बात को भुलाकर केवल सङ्गठन को ही प्रधानता देते हैं और उस सङ्गठन की तीव्र प्रेरणा से अपने सैद्धान्तिक तत्वों का, निसर्ग विरुद्ध तत्वों से, युक्ति आगम—शून्य समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं। इसी का एक उदाहरण, प्रोफेसर हीरालाल जी के द्वारा उपस्थित चर्चा है।

प्रारम्भ में यह कहा जाता था कि प्रो० साहब ने जिज्ञासा बुद्धि से इस चर्चा को उठाया है —मान भी सकते थे, परन्तु सार्वजनिक सभामें अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण, उसके समर्थन में किये गये हर तरह के प्रयत्न तथा पूर्वाचार्यों की आगम-प्रणाली की अवहेलना आदि बातो को देखकर हृदय स्वीकार नहीं करता कि जिज्ञासाबुद्धि से उठाई गई यह चर्चा है। अस्तु, प्रोफेसर सा० के अभिमत से श्वेताम्बरी व दिगम्बरी मान्यताओं में कोई अन्तर नहीं है यही निश्चित मानना पड़ता है।

दिगम्बर मान्यता के उच्च आदर्शों को श्वेताम्बराचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में स्वीकृत किया है, किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय की. समय के प्रभाव से निर्मित शिथिल व निसर्ग विरुद्ध मान्यताओं का समर्थन किसी भी तरह दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्यों ने नहीं किया है। इसलिये दोनो सम्प्रदायों की एक मान्यता सिद्ध करने के लिये प्रो० साहब को आवश्यकता तो इस बात की हुई कि दिगम्बरी मान्यताओं में ही श्वेताम्बर—मान्यताओं की पुष्टि किसी प्रकार की जाय। इसलिये उन्हो ने दिगम्बर आगमों में स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति व केवली कवलाहार सदृश विषयों को ढूंढ निकालने का प्रयत्न किया जैसे कि कोई मक्खन में से तेल निकालने का प्रयत्न करे।

दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं में यद्यपि इन तीनो विषयों के अलावा और भी कई मतभेद हैं और इन तीन विषयों के अन्तर को निकालने पर मतभेद की अन्य बातें ज्यों की त्यों रह सकती हैं, किन्तु अनुसन्धान करने वाले विद्वान् उन बातों में भी दिगम्बर मान्यता को सिद्ध करने की खोज में होंगे, वे बातें फिर कभी बाहर आयेगी, परन्तु आज हमें प्रस्तुत इन तीन बातों पर विचार करना है कि, वस्तुतः क्या महावीर शासन इन तीन बातों को स्वीकार करता है?

—स्त्रीमुक्ति विचार—

मनुष्य पर्याप्त में स्त्री पुरुष भेद निसर्ग-जन्य है, वह कर्म कृत भेद है। पुरुषवेद के निमित्त से पुरुष व स्त्रीवेद के निमित्त से स्त्रियों की निष्पत्ति होती है, तब इन दोनों प्रकृतियों में विभिन्नता का रहना अवश्यम्भावी है। वैसे तो प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि, पुरुष प्रकृति के गाम्भीर्य, औदार्य, शौर्य आदि विशिष्ट गुण स्त्री प्रकृति में, और स्त्री प्रकृति के स्वाभाविक लज्जा, सङ्कोच, छादन शीलता, दौर्बल्य आदि पुरुष प्रकृति में नहीं होते, पुरुष में पौरुष है तो स्त्री में स्त्रैण भाव। इस लिये जो महाशय स्त्री—पुरुषों में समानता देखना चाहते हैं वे निसर्ग को ही बदलना चाहते हैं ऐसा कहना होगा।

मोक्ष प्राप्ति के लिये शुक्लध्यान की आवश्यकता होती है, शुक्लध्यान की प्राप्ति के लिये उत्तम संहनन की आवश्यकता होती है और चित्तैकाग्रता के लिये बाह्य शरीर की योग्यता आवश्यक है। क्योंकि बाह्य संहनन की अयोग्यता में अभेद भक्तिरूप शुक्लध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। स्त्री शरीर की निर्मिति ही इस प्रकार प्रकृति ने की है, जिसमें बुद्धि, बल, वीर्य आदि की न्यूनता होती है। उसमें भेद-भक्ति की पात्रता है चित्त चांचल्य इतना प्रबल है कि वह देह धर्म-ध्यान का ही पात्र बन सकती है शुक्लध्यान की नहीं, क्योंकि ग्रन्थकारों ने, शुक्लध्यान की प्राप्ति के लिये जिन शरीर संहनन की आवश्यकता बतलाई है उन संहननों का सर्वथा निषेध किया गया है।

शुक्लध्यान की प्राप्ति के लिये, निर्ग्रंथलिङ्ग की आवश्यकता है, तिल तुष मात्र परिग्रह रहने पर भी आत्मा में निर्मलता नहीं आ सकती। स्त्रियों के शरीर की रचना, अङ्ग प्रत्यङ्गों के निर्माण का प्रकार तथा उनके पास रहने वाली अपरिहार्य लज्जा आदि बातें, निर्ग्रंथलिङ्ग को धारण करने में सर्वथा बाधक हैं, इसलिये उनको उपचार महाव्रत के अधिकार बताते हुये आचार्यों ने एक वस्त्र रखने का विधान किया है। उन आर्यिकाओं के परिणामों में विशुद्धि हो सकती है, किन्तु धर्म ध्यान के योग्य। शुक्ल विशुद्धि वहां किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

बाह्य परिग्रह का सर्वथा त्याग किये बिना सकल सयम नहीं हो सकता है और सकल सयम के बिना मोक्ष नहीं है। हां, स्त्रियां धर्म्य योग के बल से स्त्री पर्याय को छेद कर पुरुष पर्याय को पा सकती हैं, और उस हालत में मुक्ति प्राप्त करने का कोई विरोध नहीं है।

कुछ महाशयों का आरोप है कि ग्रन्थकार आचार्य, पुरुषवर्ग में से रहे हैं अतः उन्होंने स्त्रीवर्ग के उच्च अधिकारों का अपहरण बलात् कर लिया है। परन्तु यह विचारणीय बात है कि ऐसे अधि-कार तो किसी के द्वारा छीने नहीं जा सकते, यह तो प्रकृति की देन है, जब स्त्रीरूप निंद्य पर्याय में प्रकृति ने अर्थात् कर्म ने उस आत्मा को पहुंचाया तो वह आत्मा उस पर्याय-जन्य विशेषताओं से अलिप्त किस प्रकार रह सकता है? उसे तो उस पर्याय को उसी अवस्था में व्यतीत करना होगा।

मुक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे उठा कर कोई दे सके वह तो परिणामो की अत्यन्त विशुद्धि होने से, आत्मा की बढ़ती हुई निष्कलङ्क एवं निर्वि-कल्प अवस्था की सर्वोत्कृष्ट चरमभूमि है जो स्वयं के द्वारा स्वय को ही प्राप्त होती है।

स्त्रीमुक्ति के समर्थन के लिये जैनागम में कहीं भी प्रमाण नहीं मिल सकता है। अतः प्रयत्न इस बात का होने लगा कि षट्खण्डागम सूत्रों में ही कहीं इस विषय का प्रमाण मिल जाय। दैववशात षट्खण्डागम के सूत्र नं० ९३वें में संजद शब्द का पाठ अधिक मिला ताड़ पत्र की प्रति में उस शब्द के होने से उसका वहां पर होना अत्यन्त आवश्यक बतलाया जा रहा है। यद्यपि वे भी विद्वान् स्त्रीमुक्ति को सिद्ध नहीं करते हैं, उनका कहना है कि यहां पर भाववेद की अपेक्षा से कथन है। भावस्त्री को संयतादिक गुणस्थानों का होना अविरुद्ध है, यहां तक वा भाव सद्भावना पूर्ण है। परन्तु विद्वानों में ही एकवर्ग इस प्रकरण को द्रव्यस्त्री का प्रकरण बतला रहा है एवं अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर चुका है। साथ में प्रोफे० हीरालाल जी भी इसे द्रव्यस्त्री का ही प्रकरण समझ रहे हैं व प्रकट कर चुके हैं। ऐसी परिस्थिति में यह भाववेद का प्रकरण है, और भाव-स्त्रियों के लिये मोक्ष हो सकता है आदि बातें भले ही ग्रन्थकारों से अविरुद्ध हों परन्तु जबकि प्रकरण द्रव्यवेद को सूचित करता है, एवं स्त्रीमुक्ति समर्थक व विरोधक दोनों प्रकार के विद्वान उसे द्रव्यस्त्री का ही प्रकरण समझ रहे हैं तो आज 'उसे भाववेद के अर्थ में मान लेना चाहिये।' इतना कहकर समय टालने से कैसे काम चलेगा? हमें तो भावी परिणाम पर विचारना चाहिये। दूसरी बात यह है कि भाववेदा-पेक्षया यहां सर्वत्र कथन इष्ट हो तो जहां द्रव्यस्त्री के भाव मे पौरुष भाव हो तो उस भाव पुरुष को भी १४ गुणस्थान मानना होगा अन्य प्रकरणो में इसी प्रकार

का अर्थ स्वीकार करना होगा, ऐसी दशा में द्रव्यस्त्री को १४ गुणस्थान होते हैं इसका समाधान क्या है। द्रव्यवेद का प्रकरण तो सिद्ध हो गया। अब संजद शब्द के अस्तित्व मे द्रव्यवेद का प्रकरण रहे तो कितनी गड़बड़ी पैदा होगी यह विचारणीय विषय है। भाववेद के अर्थ को स्वीकार करने वाले विद्वान् प्रोफेसर साहब के इस मन्तव्य पर क्यों नहीं ध्यान देते हैं कि सजद शब्द के अस्तित्व मे भी प्रोफेसर साहब उसे भाववेदी स्त्रियों का प्रकरण क्यों नहीं मानते हैं ? यही तो मुद्दे की बात है; इसलिये इसके परिणाम पर बहुत गभीरता से दृष्टि—पात करना चाहिये।

दूसरी एक महत्त्व की बात यह है कि षट्खण्डागम सदृश महत्व पूर्ण व प्राचीन राद्धांत ग्रन्थ में द्रव्यस्त्रियों के लिये गुणस्थानों की व्यवस्था ही न हो यह कैसे माना जा सकता है? कुछ विद्वान 'गुणस्थान भाव की अपेक्षा से ही होते हैं, द्रव्यवेद का उसमें सम्बन्ध ही नहीं है' ऐसा कह कर अपने सिद्धांत विषयक अगाध (?) ज्ञान को व्यक्त करते हैं। परन्तु उनको सोचना चाहिये कि आगमों मे तिर्यञ्चों को देवो को व नपुंसको को गुणस्थान की व्यवस्था कर सीमित कर दिया गया है फिर द्रव्यस्त्रियों को ही क्यों नहीं ? वहां पर भावात्मक गुणस्थान क्यों नहीं। इस लिये ऐसी बातों को लिखकर जनता को भ्रम में डालना उचित नहीं है। अनुसंधान इस बात का होना चाहिये कि षट्खण्डागम मे द्रव्यस्त्रियों केलिये गुणस्थान की स्पष्ट व निश्चित व्यवस्था कहां पर है? यदि वह उपलब्ध नहीं होता है तो प्रकृत प्रकरण को भाववेद सूचक मानकर ही सतोष नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रत्येक विषय का भावी परिणाम क्या होता है इस बात पर दूर-दर्शिता से विचार करना विद्वानों का कर्तव्य है सार्वजनिक पत्रों मे आये हुये विषयों में अपने मतलब के शिथिलाचार पोषक विषयों को चुनने में जन साधारण को अधिक हर्ष होता है, इस लिये इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।

—सवस्त्र मुक्ति विचार—

स्त्रीमुक्ति के निषेध से ही सवस्त्रमुक्ति का भी निषेध हो जाता है, सकलसंयम के अभाव में किसी भी तरह मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती और बाह्य आभ्यंतर दोनों ही प्रकार के परिग्रह सकल संयम में पूर्ण बाधक हैं। परिग्रहों का अस्तित्व, मोहनीयकर्म के अस्तित्व की ही सूचना है इसलिये आचेलक्य में ही मोक्ष मार्ग सन्निहित है रत्नत्रय की पूर्ति सकल चारित्र के बिना नहीं हो सकती है, सकल चारित्र वा आदर्श नैग्रन्थ्य लिंग में ही प्रगट होता है अतः आत्म विशुद्धि की चरम सीमा में जो पहुंचना चाहते हैं उनको सर्व बाह्य व अन्तरङ्ग-परिग्रहों का परित्याग करना चाहिये।

परिग्रह ही आत्मा में मोह, मद, माया को उत्पन्न करने में सहायक है—निमित्त है। और इन परिग्रहों के सम्बन्ध से ही आत्मा अपने वस्तु स्वरूप से च्युत है, ऐसी परिस्थिति में तिल तुष मात्र परिग्रह की स्थिति भी उस आत्मा की विशुद्धि में शङ्का उत्पन्न कर सकती है।

आचेलक्य के आदर्श को श्वेताम्बर समाज ने भी स्वीकार किया है, वे अपने ग्रन्थों में स्थान स्थान पर जिनकल्पि-स्थविरकल्पि भेद से साधुओं के भेद करते हुये आचेलक्य को आदर्श पद लिखते हैं। फिर प्रोफेसर साहब को ही इसमें न्यूनता का क्यों अनुभव हुआ समझ में नहीं आता।

आपने भगवती आराधना के उल्लेख देते हुये सवस्त्रमुक्ति का समर्थन किया है किन्तु इसमें पहली बात तो यह है कि भगवती आराधना का वह कथन अपवाद मार्ग का है विशिष्ट अवस्था का है। अपवाद मार्ग के आदेश को हमेशा विधानात्मक समझना नहीं चाहिये। क्योंकि वह तो विशिष्ट किसी समयमे परवशगत रूप प्राप्त विषय है उसे सरासर वैधानिक राजमार्ग समझना भूल है। परिस्थिति—वश उसे मनुष्य को जबरदस्ती करना पड़ता है। उस हालत में वैसा करने से ही चित्त क्षोभ का अभाव हो सकता है इस हेतु को सामने रखकर यदि आचार्योंने प्रतिपादन किया तो वह सबके लिये राजमार्ग ही हुवा, ऐसा अर्थ क्यों लिया जाय ?

दूसरी बात महत्व की यह है कि उस हालत मे मुनि को मुक्ति हो जाती है ऐसा विधान तो आचार्यों ने वहां पर किया नहीं है फिर उस उद्धरण से प्रोफे० साहब क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? साधुओं के अनेक भेद हैं, इन्हीं में यह भी एक विशिष्ट अवस्था गत साधु का भेद है इससे मोक्ष प्राप्ति का क्या सम्बन्ध है।

जैन सिद्धांत के किसी भी ग्रन्थ में इस बात का पोषण नहीं मिल सकता है केवल शिथिलाचार के वशीभूत सम्प्रदाय वालों ने इसे अपनाया है यदि वस्त्रादि परिग्रहो को रखते हुये भी मोक्ष प्राप्ति सुलभ है तो फिर इन सांसारिक परिग्रहों को छोड़ने केलिये कौन प्रयत्न करेगा ? और उसकी आवश्यकता भी क्या है ? यदि घर बैठे ही मुक्ति हो सकती है तो संपत्ति, वैभव, पुत्र कलत्रआदिको के परित्याग की क्या आवश्यकता है, फिर तो महाव्रत, समिति, गुप्ति परीषह जय आदि सभी बातें व्यर्थ ठहरेंगी उनकी आवश्यकता है ही नही।

मोक्षगत उन परमात्माओं में कोई अन्तर तो है नहीं कि, यह तो सपरिग्रह मुक्त हुवा है और यह त्यक्तपरिग्रह।

इस प्रकार दिगम्बर मान्यता के अनुसार परिग्रहों के अस्तित्व में मुक्ति का होना असम्भव है।

—केवली कवलाहार—

घातिचतुष्टय के क्षय के पश्चात भी केवली भगवान् को सांसारिक प्राणियों के समान ही भूख प्यास की वेदना होती है, यह विधान परिहास पूर्ण है। जहां अरहंत भगवान के अनन्त सुख का प्रादुर्भाव हुआ वहांपर उन्हें वेदना का अनुभव क्यों कर होता है ? इन परम्पर-विरुद्ध बातो का सामञ्जस्य क्या है।

वेदनीय कर्म का सद्भाव मात्र कवलाहार के लिये कार्यकारी नहीं हो सकता है क्योंकि 'अत्थाण अणुभवणं वेयणियं' ऐसा जहां वेदनीयकर्म का लक्षण निर्देश किया है वहां स्पष्ट रूप से समझ में आना चाहिये कि वेदनीयकर्म-मोहनीयकर्म के सद्भाव मे ही अपने कार्य को कर सकता है यदि मोहनीयकर्म की क्रिया इसके साथ न हो तो वेदनीयकर्म कुछ भी नहीं कर सकता है। उदाहरणार्थ—हमारी थाली मे अनेक भक्ष्य पदार्थ है, उनमें किसी पदार्थ के प्रति हमारा चित्त आकृष्ट हुआ कि अमुक मिष्टान्न को खाऊं जो मुझे अभीष्ट है, बाद में हम उसे उठा कर खा लेते हैं, हमें बड़ा अनन्द आता है, वह आनन्द ही वेदनीय है परन्तु उसे खाने के पहले जो यह अभिलाषा हुई कि अमुक मिष्टान्न को खाऊ यह तो मोहनीयकर्म का कार्य है।

हमें कोई व्यक्ति गाली दे रहा है, हम उस तरफ ध्यान न देवें तो कोई बुरा नहीं मालूम होता है,

परन्तु हमारा चित्त जब उधर आकृष्ट हो जाता है और हम यह समझने लगते हैं कि यह मुझे गाली दे रहा है, तो हमें बहुत बुरा मालूम होता है, दुःख होता है, वह दुख वेदनीय है, परन्तु यह मुझे गाली दे रहा है, यह आकर्षण मोहनीय है। इस लिये यह निश्चय है कि मोहनीयकर्म के अस्तित्व में ही वेद-नीयकर्म अपना कार्य करता है, उसके अभाव में वह दग्धरज्जुवत् कार्यकारी नहीं हो सकता।

जहां अर्हत केवली को लाभान्तराय के अत्यन्त क्षय होनेसे अनन्त लाभ की प्राप्ति हुई है, एवं अनंत वीर्य जागृत हुवा है, वहां पर इस भौतिक आहार की आवश्यकता ही क्या है? उनका परमौदारिक दिव्य शरीर तो प्रति समय प्राप्त होने वाले, शुभ, सूक्ष्म और अनन्त परमाणुओं के कारण से ही स्थिरता को प्राप्त करता है, ऐसी हालत में, भगवन्त में भी सामान्य मनुष्योंके समान आहार की कल्पना करना, भगवन्त का उपहास करना है।

अब इस विषय पर अधिक ऊहापोह करने की आवश्यकता इस लिये नहीं है कि, यह तीनों विषय, सूर्य के प्रकाश के समान स्पष्ट हैं, इन तीन विषयों के कारण से ही दिगम्बर श्वेताम्बर मान्यता में प्रधान अन्तर है। इस मान्य, आदर्श अथ च सिंहवृत्ति के समान कठिन व्रत से घबराकर लोगोंने शिथिलाचार के मार्ग को निकाला। परन्तु आत्म संयमी दि० जैनाचार्य अपने मार्ग में डटे ही रहे।

ऐसी अवस्था में फिर से उस आदर्श मार्ग को निम्नपंथ में मिलाकर आत्म विशुद्धि के मार्ग को रोक देना, यह विद्वानों का कर्तव्य नहीं है। प्रोफेसर साहब ने तो यहां तक लिखने का अतिसाहस किया है कि भगवान कुन्दकुन्द ने इन विषयों पर आगम के दृष्टिकोण से विचार नहीं किया है।

आचार्य-प्रवर कुन्दकुन्दस्वामी सदृश आगमवेत्ता आद्यप्रवक्ता महर्षि के कथन को भी अविचारित कहने का यत्न करना सचमुच में आश्चर्य—जनक विषय है। बड़ेर आचार्य जिन्हें ग्रन्थारम्भ में आदर के साथ स्मरण करें सूरि मङ्गल के स्थान में सर्व संसार जिनकी आद्य वंदना करे ऐसे कुन्दकुन्द भग-वान को आगम के मर्म तत्वों से अनभिज्ञ बताकर उन महर्षियों की अवहेलना करना उचित नहीं है समाज मे कुछ विद्वान अपने विषयों के समर्थन के लिये जिन आचार्यों का प्रमाण बहुत गौरव के साथ पेश करते हैं, उन्हीं आचार्यों को, क्वचित अपने विचारों से न मिलते देखकर, अप्रमाण कोटि में भी ढकेल देते हैं यह नीति क्या है समझ में नहीं आती।

जैन धर्म के सत्यतत्वों में आस्था रखने वाला व्यक्ति कभी भी जैनाचार्यों की अवहेलना नहीं कर सकता है, एवं दूसरों के द्वारा किये जाने पर स्वयं सहन भी नहीं कर सकता है, इसलिये इस प्रसङ्ग में बम्बई के दिगम्बर जैन समाज ने धर्मरक्षार्थ जो तत्परता दिखलाई है वह प्रशंसनीय है, धर्म संकट के समय धर्मात्मा ही उसके संरक्षण के लिये तैयार होते हैं।

वैसे जैनधर्म ऐसी चीज नहीं है जो कहीं हवा में उड़ जाये जबकि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को कथन करने वाला वह तत्व है या यों कहिये कि वस्तु स्वरूप का ही नाम जहां धर्म की परिभाषा में कहा गया है, वहां पर किसी के द्वारा उस सम्बन्ध में विपर्यस्त विचार प्रगट हो जाय तो धर्म का इसमें बनता बिगड़ता क्या है।

स्त्रीमक्ति, सपरिग्रहमुक्ति व केवलि जिन आहार ग्रहण यदि यथार्थ धर्म का विकृत रूप है, निसर्ग से विरुद्ध विषय है तो इस सम्बन्ध मे किसी की कल्पना विपरीत होने पर वस्तु स्वभाव तो वदल नहीं सकता है, वह तो वैसा ही बना रहेगा।

वस्तु स्थिति इसी प्रकार बनी रहने पर भी कई अल्पज्ञ लोगो के विचलित होने की सम्भावना है, एवं उनको आगम कथन में शङ्का पैदा होकर उनका अकल्याण सम्भव है। इस हेतु से केवल उन भव्यात्माओ के स्थितिकरण केलिये बम्बई की पंचायत ने जो प्रयत्न किया है वह स्तुत्य है।

बम्बई समाज में अनेक सज्जन व आगममर्यादा के परम पोषक हैं उनको इस प्रकार धर्म की अवहेलना रंच मात्र भी सह्य नहीं होती है, धर्मात्मा सज्जनों के हृदय में धर्माभिमान होना ही चाहिये, यही जीवन का सार है।

३१
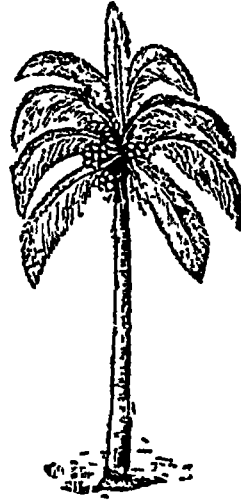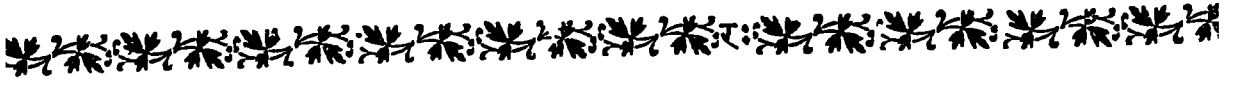
श्रीमान् पं० सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर,

शास्त्री, न्यायतीर्थ बी० ए० एल एल० बी०

सिवनी।
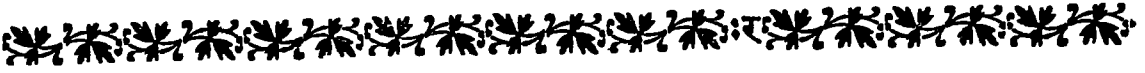
* श्री अकलङ्कदेवाय नमः । *

दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों में तात्विक मतभेद है !

श्रीयुत प्राध्यापक हीरालाल जी ने जो स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति और केवली के कवलाहार की चर्चा अपने अ० भा० प्राच्य सम्मेलन काशी मे उपस्थित विद्वन् मण्डल के समक्ष की थी, उस पर संक्षेप से विचार करना उचित है।

—स्त्री-मुक्ति—

शङ्काकार महोदय दिगम्बर परम्परा के परम पूज्य आचार्य भगवान कुन्दकुन्द द्वारा स्त्री-मुक्ति का स्पष्ट विरोध जानते हुये भी उसे स्वीकार करने में सङ्कोचशील प्रतीत होते हैं क्योंकि उसमें उन्हें गुणस्थान चर्चा और कर्मसिद्धांत के विवेचन का दर्शन नहीं होता। जहां आगमिक विषय आप्तवाणी होने मात्र से ही प्रामाणिकता को प्राप्त होते हैं, वहां यह विचारना कि उसमें हमारी चिंतित अमुक २ बातें और होवीं तो ठीक होता, विचित्र बात मालूम पड़ती है। यद्यपि वृन्दावन जी के शब्दों में 'हुये' न है, न होयगे, मुनि कुन्दकुन्द से' के प्रभावक तथा परमार्थ कथन के होते हुये ग्रन्थांतर के अन्वेषण की आवश्यकता न थी किन्तु शङ्काकार के समाधानार्थ अन्य आगम ग्रन्थों के भी प्रमाण उपस्थित करना आवश्यक है।

स्त्री में जिस प्रकार ७वें नरक में गमनके हेतुरूप अत्यंत हीन परिणामों का अभाव पाया जाता है, उसी प्रकार मुक्ति हेतुक उत्कृष्ट भावो का भी सद्भाव नहीं पाया जाता, जैसे नपुंसकवेद में। दूसरी बात नारी जाति मे ममत्व की मात्रा अधिक होती है, इसलिये मोह का पूर्ण विजय उनसे नहीं हो सकता। स्त्री शब्द की सार्थकता पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि निसर्गतः द्रव्य नारी जाति मे पूर्ण वीतरागता का स्फुरण नहीं होता है। ‡

कर्म भूमियां नारी के वज्रवृषभ नाराच संहनन न होने से श्रेष्ठ निर्वाण योग्य तप नहीं बनता। 'अन्तिम तिय संहडणस्सुदओ पुण कम्म भूमि महिलाण' गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा को क्षेपक मानना उचित नहीं है, कारण प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार पर पूर्ण दृष्टि देने से वह प्रकरण से पूर्ण सम्बद्ध प्रतीत होती है।

स्त्री पर्याय में ऋद्धि विशेष या महान संयम की प्राप्ति नहीं होती। जब सम्यक्दृष्टि जीव § का स्त्री

---

‡ छादयदि संयपिदोसेण यदो छादयदि परपि दोसेण
छादणसीला जम्हा तम्हा सा वण्णिया इत्थी ॥

§ सम्यग्दर्शनशुद्धाः नारकतिर्यग्नपुंसकस्त्रीत्वा न ।
दुष्कुलविकृताल्पायु र्दरिद्रतां न व्रजंत्यव्रतिकाः ॥
रत्न० श्रावका०

पर्याय में उत्पाद निषिद्ध है तब उसके मोक्ष की मान्यता सुखद कल्पना ही कही जायगी। यह बात ध्यान देने की है कि नपुंसक रूप से तो सम्यक्दृष्टि का नरकापेक्षया उत्पाद वर्णित है किन्तु स्त्री रूप से उत्पाद नहीं कहा गया। नारी में वस्त्रत्याग पूर्वक सकल संग त्यागात्मक दिगम्बर रूप मुख्य महाव्रत संयम नहीं बनता।

पुरातन दीक्षिता वृद्धा आर्यिका को नवदीक्षित दिगम्बर मुनि की वंदना करने की आगम में आज्ञा है। इसका कारण मुनि के संयम की उच्चता है।

सूत्रों में प्रयुक्त 'योनिनी' शब्द का अर्थ भाष्यकार वीरसेन स्वामी ने भाव स्त्री किया है, तब उसे द्रव्यस्त्री मानना असङ्गत है। द्रव्यस्त्री के १४ गुणस्थानो का सम्बन्ध आगम और युक्ति के प्रतिकूल है। वेद आठवें तक नहीं, नौवें गुणस्थान के सवेद भाग पर्यंत पाया जाता है।

वेद वैषम्य कर्मसिद्धांत के प्रतिकूल नहीं है, जिस प्रकार हास्य, रति, अरति, शोक आदि प्रकृतियों में परिवर्तन हुआ करता है उसी प्रकार वेदों में भी। द्रव्यवेद कुछ हो और भाववेद कुछ और हो सकता है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में लिखा है ‡ कि पुरुष में स्त्रीवेद का उदय हो सकता है और स्त्री में पुंवेद का भी भाववेद की अपेक्षा हो सकता है। शरीराकार की रचना नामकर्म कृत है, इसलिये वह पर्याय परिवर्तन तक रहता है। भाववेद में ऐसी बात नहीं है। वेद को औदयिकभाव में गिना है और इन्द्रियजनित ज्ञान को क्षायोपशमिक भाव में। अतः शङ्काकार जी का औदयिक भाव के बारे में क्षायोपशमिक भाव कृत व्यभिचार प्रदर्शन यथार्थ में बाधक नहीं है।

स्त्री में पुरुष सम्बन्धी मनोभावों का व्यवहार में भी वर्णन देखा जाता है। वीराङ्गना लक्ष्मीबाई की कीर्ति में कहते हैं—'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी'। इसी प्रकार अन्य वेदों के बारे में कहा जा सकता है।

नपुंसकवेदमें न तो स्त्री के और न पुरुष के पूर्ण चिन्ह पाये जाते हैं इससे उसे स्वतंत्र वेद कहा है। 'वह उहयलिङ्गवदिरित्त' —'उभयलिङ्ग व्यतिरिक्त' कहा गया है।

इन्द्रिय वैषम्य के अभाव में वेद वैषम्य का सद्भाव न मानना ही अयुक्त है। कारण उनमें अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। वेद और इन्द्रिय की व्यवस्था में बहुत अन्तर है। इन्द्रिय के लिये द्रव्येन्द्रियकी अनिवार्य आवश्यकता है। नेत्र कर्ण आदि इन्द्रियों के द्रव्य साधनों में त्रुटि होने पर भावेन्द्रिय अकार्यकारी हो जाती है, किन्तु वेद के विषय मे ऐसी बात नहीं है। द्रव्यवेद के अङ्गोपाङ्ग के क्षत विक्षत होने पर भी भाववेद का कुछ विशेष नहीं बिगड़ता है। द्रव्य शरीराकार के विनष्ट होने पर भी मानसिक विचारों में वेदोदय जनित मलिनता पाई जा सकती है। इस कारण काम भाव को मनसिज, मनोज, मनोभू आदि शब्दों से सङ्कीर्तित किया है इस कारण इन्द्रियों का दृष्टांत विषम है।

‡ यस्योदयात् स्त्रैणात् भावात् मार्दवास्फुटत्वक्लैब्य-मदनावेशनेत्रविभ्रमास्फालन—सुखपुंस्कांमादीन् प्रतिपद्यते स स्त्रीवेदः॥ ..... ननु लोके प्रतीतं योनि मृदु स्तनादि स्त्रीवेद लिंगं? न तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्। अतः पुंसोपि स्त्रीवेदोदयः कदाचितयोषितोपि पुंवेदोदयोप्याभ्यंतरविशेषात् शरीराकारस्तु नामकर्मनिर्वर्तितः (२०५ त० रा.)

—संयमी और वस्त्रत्याग—

संयमी जीव के हिंसा रहित विमल भावों केलिये वस्त्रादि परिग्रह का परित्याग अनिवार्य है। वस्त्रादि धोने सुखाने आदि के निमित्त से असंयम होना अवश्यंभावी है। इसी लिये स्वामी समन्तभद्र ने श्रेष्ठ करुणाशील भगवान को बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह रहित कहा है। *

कुन्दकुन्द स्वामी प्रवचनसार मे युक्तिपूर्वक कहते हैं कि—

ण हि णिखेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसम विसुद्धी। अविसुद्धस्स य चित्ते कह णु कम्मक्खओ विहिओ॥ पृ० २६५॥

यदि परिग्रह की अपेक्षा से सर्वथा रहित परिग्रह त्याग न हो तो निश्चय से मुनि के चित्त की निमलता नहीं होगी। भला मलीन चित्त साधु के कर्मक्षय कैसे होगा।

किधतम्हि णत्थि मुच्छा आरंभोवा असंजमो तस्स।
तध परदव्वाणि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि।२६६।

उस परिग्रहके होते हुये ममत्व परिणाम अथवा आरम्भ वा असंयम क्यों न होगा? ऐसा मुनि पर-द्रव्य में रत होकर किस प्रकार निज स्वरूप की साधना करेगा? इस प्रसङ्ग में कविवर द्यानतराय जी के ये शब्द भी विशेष अनुभवरस से भरे मालूम पड़ते हैं 'चाह लङ्गोटी की दुख भाले। भाले न समता सुख कभी नर बिना मुनि मुद्रा धरे। धन नगन पर तन नगन ठाड़े, सुर असुर पांयन परें॥'

जब परिग्रह के निमित्त से आत्मशांति और नि-राकुलता तथा समता परिणामों को क्षति पहुंचती है तब अखण्ड शांतिमय निर्वाण के लिये सकल सङ्ग त्याग क्यों न आवश्यक होगा?

शङ्काकार महाशय ने जो भगवती आराधना का उल्लेख किया है वह सम्पूर्ण प्रसङ्ग पर दृष्टि डालने से सदोष प्रतीत होता है उस ग्रन्थ मे अपवाद अवस्था में लज्जाशील, बहुकुटुम्बी मिथ्यात्वी परिवार आदि से वेष्टित अव्रती गृहस्थ केलिये भक्तप्रत्याख्यान नामक समाधिमरण के लिये वस्त्र त्याग का विधान नहीं किया है। यह कोई अनोखी बात नहीं। आज भी गृहस्थजन मृत्युकाल में वस्त्र सहित होते हुये भी भक्तप्रत्याख्यान करते हैं — भोजन आदि का त्याग करते हैं, इससे वे मुनि नही हो जाते। जब तक वे विधि पूर्वक उभय परिग्रह का परित्याग करके सकल संयम नहीं धारण करते—तब फिर उनको मुनि कैसे कहा जायगा?

भगवती आराधना गाथा ७४ पृष्ठ २०४ मे कहा है—

अरिहो भत्त पइण्णाइ होदि विरदो अविरदोवा॥

विरत अथवा अविरत भक्तप्रत्याख्यानके योग्य है

अपवादलिङ्ग के अधिकारी के विषय में उसी ग्रन्थ में कहते हैं—

आवसधेवा अप्पे उग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं,
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं॥

७६ पृ २०६

जहां वसतिका अयोग्य है जो व्यक्ति महद्धिक हो, लज्जाशील हो, जिसके मिथ्यात्वी कुटुम्बी हो उसके अपवादलिङ्ग--सचेलकत्व होता है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त परिस्थिति सम्पन्न पुरुष

* अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं, न सा तत्रारम्भोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ। ततः त—त्सिध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं, भवानेवात्याक्षीत् न च विकृत वेषोपधिरतः॥ वृ० स्वयम्भू स्तोत्र।

सवस्त्र भक्तप्रत्याख्यान करे। इसका यह अर्थ नहीं है कि मुनि वस्त्रधारण करे। उपरोक्त कथन में कुंदकुंद-स्वामी के दिगम्बरत्व—समर्थक वाक्य का पूर्णतया समर्थन ही है कि 'णग्गो हि मोक्खमग्गो, सेसं उम्मगया सव्वे'॥

दिगम्बरत्व ही मोक्ष का मार्ग है बाकी सब उन्मार्ग है।

तत्त्वार्थसूत्र में पुलाक आदि पंच निर्ग्रंथ कहे गये हैं इस पर भाष्यकार अकलङ्क स्वामी राजवार्तिक पृ० ३५८ में कहते हैं 'सम्यग्दर्शनं निर्ग्रंथरूपं च भूषा-वेशायुधविरहितं, तत्सामान्ययोगात् सर्वेषु हि पुलाकादिषु निर्ग्रंथशब्दो युक्तः'॥

सम्यक् दर्शनं, भूषण, हथियार विरहित सा—मान्य गुण के योग से पुलाक आदि में निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग पाया जाता है।

श्रावक में निर्ग्रंथ रूप का अभाव है इसलिये उस में निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग नहीं होगा। कहते हैं 'यदि भग्नव्रतेपि निर्ग्रंथ शब्दो वर्तते, श्रावकेपि स्यादिति-अतिप्रसङ्गो। नैषदोषः। कुतो? रूपाभावात्। निर्ग्रंथ-रूपमत्र नः प्रमाणं, न च श्रावके तदस्तीति नाति—प्रसङ्गः॥ त० रा० पृ० ३५८

इससे यह स्पष्ट है कि पांचों प्रकार के मुनियों में दिगम्बरत्व अनिवार्य है शङ्काकार लिखते हैं 'भाव-लिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रंथलिंगिनो भवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः।' गम्भीर विचार तथा प्रकरण को देखते हुये विदित होगा कि यहां भावलिङ्ग के स्थान में द्रव्यलिंगं पाठ होना चाहिये। जब पहले लिङ्ग के द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग इस प्रकार दो भेद किये तब द्रव्यलिङ्ग का वर्णन क्रम प्राप्त है, न कि भावलिङ्ग का। अतः भावलिङ्ग के स्थान में द्रव्यलिङ्ग होना चाहिये और द्रव्यलिङ्ग के स्थान में भावलिङ्ग होना चाहिये। उसका अर्थ है द्रव्यलिङ्गापेक्षया तु पुल्लिंगेनैव सिद्धिः (त० रा० पृ० ३६६) द्रव्यलिङ्ग की अपेक्षा पुरुष लिङ्गधारी के निर्वाण होगा। भावलिङ्ग की अपेक्षा अन्य लिङ्ग भी कहे जा सकते हैं।

पूज्यपाद स्वामी भी लिखते हैं 'द्रव्यतः पुल्लिंगेनैव (पृ० ३२० स० सि०) यहां 'एव' शब्द के अन्य द्रव्य लिङ्ग से मुक्ति का निराकरण हो जाता है।

शङ्काकार बंधु ने 'निर्ग्रंथलिंगेन, सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धि भूतपूर्वनयापेक्षया' यहां भूतपूर्व का अर्थ अनन्तरपूर्व लगाया है, किन्तु पूर्व शब्द के पहले भूत का प्रयोग अनन्तर पूर्वत्व का निषेधक है। और भी देखिये। मूलाचार में कहा है—

वदसमिदिंदिय रोधो लोचो आवस्सयमचेल—मण्हाणं। छिदिसयण मदन्तमणं ठिदिभोयण मेय-भत्तं च॥

५ महाव्रतों के सिवाय अचेलत्व नाम का पृथक मूलगुण बताया है, यद्यपि परिग्रह त्याग महाव्रत में ही अचेलत्व का समावेश हो सकता था, किन्तु उसका पृथक उल्लेख उस विषय की मुख्यता पर प्रकाश डालता है।

वस्त्रादि ग्रहण करते हुये भी निर्ग्रंथत्वकी कल्पना करने वालों के समाधानार्थ विद्यानंद स्वामी श्लोक-वार्तिक में लिखते हैं— "जो वस्त्रादि धारण करते हुये भी निर्ग्रंथपना मानते हैं वे नारी आदि को सेवन करते हुये भी निर्ग्रंथत्व क्यों नहीं मानते। मूर्छा कारण है, विषय ग्रहण कार्य है। कारण के ध्वंस होने पर कार्य न होगा। अतः मोहोदयसे मूर्छा होगी ततः स्वार्थ का ग्रहण होगा। जिसके परिग्रह होगा, उसके निर्ग्रंथपना कदापि न होगा."—आचार्य महा-

राज के शब्द ये हैं।

ये वस्त्रादिग्रहेप्याहु निर्ग्रन्थत्वं यथोदित।
मूर्छानुद्भूतितस्तेषां स्याद्यादानेपि किं न तत्।
विषयग्रहणं कार्यं मूर्छा स्यात्तस्य कारणं।
न च कारणविध्वंसे जातुकार्यस्य सम्भवः॥
तस्मान्मोहोदयान्मूर्छा स्वार्थे तस्य ग्रहस्ततः।
स यस्यास्ति स्वयं तस्य न नैर्ग्रंथ्य कदाचन॥

श्लो० वा० पृ० ५०७। ३,४,६,

पृ० ५११ में स्याद्वाद विद्यापति विद्यानन्दिस्वामी लिखते हैं—

साक्षात् सग्रन्थलिंगेन सिद्धौ निर्ग्रंथतावृथा॥

यदि वस्त्रादिसहित मुक्ति मिले, तब निर्ग्रंथपना अङ्गीकार करना व्यर्थ है। जहां तक पता चला है, अत्यन्त प्राचीन जैन मूर्ति दिगम्बर ही प्राप्त हुई है, जिनसे ज्ञात होता है कि यथार्थ मे जैन दृष्टि से निर्वाण का मार्ग दिगम्बरत्व है। सवस्त्र मुक्ति का मार्ग आराम पसंद व्यक्तियो ने निकाला। वह बात महर्षि कुन्दकुन्द की स्मरण योग्य है कि शरीर की नग्नता के साथ तद्रूप नग्न मनोवृत्ति भी नितान्त आवश्यक है।

केवली भगवान के क्षुधादि का सद्भाव नहीं है।

केवली के कवलाहार मानने पर उनके अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य रूप गुण चतुष्टय सङ्कट में फंस जायंगे। क्षुधा की पीड़ा होने पर अनन्त सुख पर विपत्ति आयगी बल मे न्यूनता आयगी, और कैवल्य पर भी आपत्ति आये बिना न रहेगी।

यह भी विचारणीय है कि मोहनीय के क्षय होने पर अनुकूल ग्रासादि का ग्रहण और प्रतिकूल के परित्याग रूप सराग परिणति कैसे होगी? परम यथाख्यात चारित्र रूप परम उपेक्षा संयम में निमग्न केवली के कवलाहार मानने पर सरागता की विपत्ति आये बिना न रहेगी। जब सातिशय अप्रमत्त आदि गुणस्थानों में आहार ग्रहण नहीं है तब केवली के आहार की कल्पना विशेष विचित्रता उत्पन्न करती है।

जब अशुचि पदार्थों का दर्शन होते हुये मुनि तो क्या गृहस्थ भी आहार नहीं करता तब केवलज्ञान के प्रभाव से सर्व पदार्थों का सतत प्रत्यक्ष ज्ञान होते हुये मुनींद्रों के भी चूणामणि आहार ग्रहण करें, वह कैसे न्यायोचित्त होगा। कैवल्य की अवस्था में अन्तराय रहित आहार प्राप्ति की योजना एक प्रकार से असम्भव है।

मोहनीय आदि परिकर के अभाव होते हुये भी यदि क्षीण शक्ति वाला असाता केवली को भोजन पान मे प्रवृत्त करेगा तो परघात का उदय केवली को किसी पर दंड प्रहार करने पर भी उत्साहित करेगा। और ऐसा कैवल्य विनोद जनक होगा।

यदि सकल साधन हीन कर्म का उदय मात्र कार्यकारी हो तो कषायो और वेदो के उदय वश प्रमत्त आदि गुणस्थानों में कामादि विकार पाये जायंगे। ऐसा होने पर शुक्लध्यान, कर्म क्षपण आदि की बात कल्पना मात्र ही रह जायगी।

एक बात यह भी है कि आहार ग्रहण करने के लिये भोजन की इच्छा आवश्यक है, और इच्छा भाव मोह ही का नामांतर है अतएव कवलाहार मानने पर मोह का निषेध नहीं किया जा सकता। जैसे वैराग्य आदि भावनाओ के द्वारा ब्रह्मचर्य युक्त महामुनि स्त्री के प्रति पूर्णतया इच्छा का परित्याग

करते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध भावों के बल से वे क्षुधा आदि की बाधा पर विजय प्राप्त करते हैं।

विद्यानन्द स्वामी ने लिखा है कि क्षुधा के लिये असाता वेदनीय के उदय के सिवाय मोहनीय का सद्भाव, पेट का खाली होना, भोजन के प्रति उपयोग होना आदि कारण हैं। इसलिये सकल साधन सामग्री के अभाव में असाता का अकेला उदय अकार्यकारी है। विशुद्ध भावों के प्रकर्ष से कर्मसिद्धान्तानुसार असाता आदि प्रकृतियों के अनुभाग का खण्डन होता है अतएव केवली के मृत प्राय असाता कुछ नहीं कर पाता।

केवली के इन्द्रिय जनित सुख दुःख का सद्भाव नहीं है। स्वामी समन्तभद्र ने भी केवली के इन्द्रिय-जनित सुख का सद्भाव नहीं बताया है।

सुख और दुःख किसे मानना यह बात व्यक्ति की रुचि, स्वभाव, मनोवृत्ति आदि पर निर्भर है। एक को मधुर भोजन आनन्दप्रद है तो दूसरे को भोजन की अप्राप्ति विशेष आनन्ददायी है। तपस्वी लोग उच्च तप को ही अपना भोजन मानते हैं—"तपः सदशनं"। इच्छा का निरोध करने से और बाहर प्रतिकूल सामग्री होने से हमारी भाषा में उन्हें सुखी या दुःखी कहते हैं, उसी दृष्टि को लेकर समन्तभद्र स्वामी ने 'पुण्य ध्रुवं स्वतो दुःखात्' आदि कारिका लिखी है। यथार्थ में तपस्वियों के पीड़ा रञ्चमात्र भी नहीं होती हम मोही जीवों की भाषा में उनको कष्ट-सहिष्णु कहा है किन्तु अनुभव की भाषा में उन योगीन्द्रों को अनुपम आनन्द का अधिपति बताया है। जिन सुकुमाल को गृहस्थ की अवस्था में साधारण सी वस्तु पीड़ाकारी थी, मुनि बनने पर उनका ही स्यालनी द्वारा भक्षण किया जाना किंचित भी पीड़ा या संक्लेश का दाता नहीं हुआ। इसी रस का वर्णन महर्षि पूज्यपाद करते हुये कहते हैं।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः॥
आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः॥

व्यवहार से बाह्य आत्मा की साधना में निमग्न मुनीश्वर के योग के निमित्त से उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त होता है। वह आनन्द निरन्तर कर्म रूपी ईंधन को भस्म करता है। यह योगी तनिक भी खेद नहीं प्राप्त करता, कारण वह बाह्य दुःखों के विषय में अचेतन हैं अर्थात् बाह्य दुःख उसे ज्ञात ही नहीं होते। इसी का नाम तो आत्म निमग्नता है। आत्मानन्द कितना अपूर्व है इसका अनुमान इससे होता है कि नरक का नारकी भी सम्यक्त्व की आनन्दधारा से सिक्त-अन्तःकरण होने के कारण विषय के सागर में निमग्न अहमिन्द्रों तक से भी उच्च कहा गया है। सुख और दुःख यथार्थ में आत्म वृत्ति पर निर्भर है। पूर्ण विरागता के शिखर पर समारूढ़ केवली भगवान के क्षुधा आदिक की कल्पना, प्रतीत होता है योगविद्या से बिना भींगे हुये छद्मस्थों की कल्पना है।

केवली के क्षायिक ज्ञान होते हुये भी असाता की पीड़ा अथवा उसका भाव नहीं होता इसके लिये तो कविवर दौलतराम जी का यह पद्य उपयोगी है

'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि रज रहस विहीन'।

केवली भगवान के लाभांतराय के पूर्ण क्षय होने से अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणायें आकर उनके शरीर का रक्षण करती हैं इसलिये कवलाहार की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसलिये केवली भगवान के

कवलाहार मानना उन परम वीतराग अनन्त चतुष्टय के नायक जिनेन्द्र को साधारण मनुष्य की कोटि में गिरा देना है। यही कारण है कि इस कवलाहार के प्रपञ्च को प्रभु के पीछे लादना दर्शन मोहनीय के आस्रव का कारण कहा है। ऐसी दशा में कवलाहार की मान्यता साधारण दोष नहीं है। वह अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है। इसलिये उपरोत तीनों मान्यतायें नगण्य नहीं हैं उनके आधार पर ह दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों का उदय होता है।

यद्यपि लौकिक सङ्गठन की दृष्टि से उनको नगण्य कह भी दिया जाय किन्तु आत्म हित की दृष्टि से इस बात को मान्य करना कल्याणकारी नहीं है।

कतिपय गणनीय महानुभावों
—के—
* अभिमत *

रायसाहिब श्रीमान् ला० प्रद्युम्नकुमार जी रईस
सहारनपुर ।

श्रीमान् सेठ जुहारुमल मूलचन्द्र जी सा० तथा श्री दि० जैन समाज बम्बई,

सस्नेह जुहारु ! आपके पत्र मिले, प्रोफे० हीरालाल जी की शङ्काओं का समाधान बहुत शान्ति के साथ हो सकता है । समाज में ऐसी शङ्कायें उठाकर व्यर्थ क्षोभ पैदा करना ठीक नहीं है शेष कुशल, योग्य कार्य लिखें ।

भवदीयः—प्रद्युम्नकुमार ।

—अलीगढ़ के विद्वानों का वक्तव्य—

श्रीमान् सेठ जुहारुमल मूलचन्द जी प्रेसीडेंट दि० जैन पञ्चायत बम्बई,

पत्र आपका मय 'क्या दिगम्बर और श्वेतांबर सम्प्रदायों के शासनों में कोई मौलिक भेद है' इस शीर्षक विज्ञप्ति के साथ मिला—

उत्तर में निवेदन है—

प्रोफेसर हीरालाल जी ने जो श्वेतांबर सम्प्रदायों में ३ भेद प्रधान माने हैं वह ही प्रधान नहीं हैं किन्तु (१) भगवान महावीर का रोग निवारणार्थ मांस—भक्षण, (२) भगवान महावीर का ब्राह्मणी के गर्भ में आकर उनका इन्द्र द्वारा क्षत्रियाणी के गर्भ में जाना (३) घोड़े का गणधर होना आदि अनेक २ भेद हैं, परन्तु या तो इन प्रोफेसर जी को ये विषय अज्ञात है या उन्होंने प्रगट नहीं किया है केवल ३ भेद मूल रक्खे हैं, उनके भी लोपने में जो भगवान कुन्दकुन्द स्वामी को गुणस्थान चर्चा का और कर्मसिद्धान्त का अज्ञानकार बताया है यह प्रोफेसर जी का दुःसाहस है तथा जिन सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोम्मटसार

आदि ग्रन्थकारो को प्रोफेसर जी ने सन्दिग्धज्ञानी व अज्ञानी ठहराया है यह कलिका नग्न नृत्य है। अस्तु, आपकी पञ्चायत ने जो ट्रैक्ट निकालकर प्रकाशित करना निश्चय किया है यह प्रशसनीय है—

कृपादृष्टि पुरस्सर धर्म स्नेह बनाये रखियेगा।

१-श्रीलाल पाटनी, (धर्म धीर पं० श्रीलाल पाटनी, अलीगढ़।

२-रामलाल जैन वैद्य, (पं० रामलाल जी वैद्य शास्त्री आ० मुंसिफ वायस चेयरमेन ग्रामसुधार

३-इन्द्रमणि (पं० इन्द्रमणि जी वैद्य शास्त्री जातिरत्न, भूतपूर्व सभापति जैसवाल जैन महासभा, दि० जैन औषधालय, कविसम्मेलन, उपसभापति वैद्यसभा सम्पादक जैसवाल जैन आदि २।

४-सोनपाल जैन, (पं० सोनपाल भूतपूर्व उपदेशक भा० दिगम्बर जैन महासभा, अलीगढ़)

५-दुर्गाप्रसाद जैन, (पं० दुर्गाप्रसाद प्रधानाध्यापक कुन्दनलाल जैन पाठशाला अलीगढ़)

कविरत्न श्रीमान् पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ,

मन्त्री:- राजस्थान दिगम्बर जैन सङ्घ

जयपुर।

श्रीमान पं० रामप्रसाद जी शास्त्री व भाई निरञ्जनलाल जी, आपका १६ अगस्त का पत्र मिला।

इस समय जब किसी को भी मुक्ति नहीं हो सकती, तब स्त्री मुक्ति के समर्थन के लिये शास्त्रीय प्रमाणो को ढूंढने मे अपनी शक्ति का व्यय करना विल्कुल निरर्थक है। यही बात केवलज्ञान के लिये भी है। स्त्रीमुक्ति की तरह यह भी आज के युग का पदार्थ नहीं है।

फिर भी दि० आचार्यों का इस विषय में क्या अभिमत है इस बारे मे मुझे लिखना ही चाहिये। दि० सम्प्रदाय के शास्त्रो का, जहां तक मैंने अध्ययन किया है—मैं कह सकता हूं कि ये स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति और सवस्त्रमुक्ति का विरोध ही करते है। षट्खण्डागम के अनुसार चलने वाले श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती यदि स्पष्ट रूप से षट्खण्डागम मे स्त्रीमुक्ति का समर्थन पाते तो वे उसका उल्लेख अपने ग्रन्थों में भी निर्भय होकर कर सकते थे। षट्खण्डागम के सूत्रों का अर्थ तो वे अवश्य ही समझे होगे। जैन शास्त्रों में भाव और द्रव्य यह भेद अनेक स्थलों मे मिलते है। भावस्त्री और द्रव्यस्त्री का प्रसङ्ग हमें कर्म ग्रन्थो में मिलता ही है। कई स्थानो में औपचारिक वर्णन भी है। मनुष्यणी अथवा योनिनी शब्द का अर्थ तो स्वामी वीरसेन भी समझे होगे। जब द्रव्यवेद स्त्री को श्रेणी माडने का अधिकार भी नहीं बतलाया तब वह दिगम्बर शास्त्रो में मुक्ति की अधिकारिणी कैसे मानी जा सकती है। भाववेद स्त्री और द्रव्यवेद स्त्री का उल्लेख तो श्वेताम्बर शास्त्रो मे भी हुआ है।

महा तार्किक श्री प्रभाचन्द्राचार्यने अपने प्रमेयकमलमार्तंड मे स्त्रीमुक्ति का सयुक्तिक खण्डन किया है यही बात केवली भुक्ति और सवस्त्र मुक्ति के सम्बन्ध मे भी है। गोम्मटसार के टीकाकारों व

आचार्य अमितगति ने जो तीनों भाववेदों का तीनों द्रव्यवेदों के साथ पृथक् पृथक् संयोग बताया है वह क्यों नहीं बन सकता ? इस बारे में प्रोफेसर साहब ने कोई दलील नहीं दी। द्रव्य में पुरुष और स्त्रीलिङ्ग के सिवाय तीसरा कोई प्रकार ही नहीं पाया जाता, यह कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। लिंगों में जगत् प्रसिद्ध नपुंसक का भेद प्रोफेसर साहब क्यों नहीं स्वीकार कर रहे हैं ? कर्मसिद्धांत के अनुसार वेदवैषम्य मान लेने में कोई बाधा नहीं आती।

मुक्ति एवं केवलज्ञान का जैसा वर्णन श्वेताम्बर शास्त्रोंमें है उस पर ध्यान देते हुये तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वह सवस्त्र एवं स्त्री के लिये प्राप्य नहीं है। अनन्त केवलज्ञान और अनन्त शक्ति को रखकर भी यदि केवली भोजन करेगा तो उसका अपरिमित माहात्म्य वाला अनन्त चतुष्टय स्वयं ही छिन्न-भिन्न हो जावेगा। यदि मुक्ति केलिये स्त्रियों के प्रति उदारता प्रदर्शित करें तो फिर यह उदारता नपुंसकों के प्रति क्यों नहीं प्रदर्शित की गई आदि बातों का उत्तर श्वेताम्बर शास्त्रों में भी नहीं है।

पत्र का उत्तर देने में काफी बिलम्ब हो गया है आशा है आप क्षमा करेंगे इस विषय को जहां तक हो शान्ति से निपटाना चाहिये। सङ्घर्ष बढ़ाना किसी तरह भी उचित नहीं।

श्रीमान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार,

सम्पादक-अनेकांत

सरसावा, [सहारनपुर]

श्रीमान पण्डित जी, सस्नेह जय जिनेन्द्र !

आपका भेजा हुआ पत्र मुझे यथा समय मिल गया इधर उधर रहने के कारण उत्तर न दे सका।

प्रोफे० हीरालाल जी के उस लेख से मैं सहमत नहीं हूं। मैं उसके विषय में कितना ही लिखना चाहता हूं परन्तु अवकाश नहीं मिल रहा यथावकाश लिखने का प्रयत्न करूंगा।

भवदीय-जुगलकिशोर,

श्रीमान् पं० दरबारीलाल जी न्यायाचार्य,

सरसावा, [सहारनपुर]

श्रीमान पं० रामप्रसाद जी शास्त्री, जयजिनेन्द्र !

मुख्तार सा० ने आपको जो पहिले पत्र दिया था उसमें उन्होंने साफ लिख दिया है कि हम प्रोफे० जी के मन्तव्यों से सहमत नहीं हैं वे बहुत आपत्ति के योग्य हैं। अतः उस पत्र को ही उनकी सम्मति समझें। मेरी सम्मति निम्न प्रकार है :—

'हाल में प्रोफे० हीरालाल जी सा० ने शिवभूति और शिवार्य' तथा 'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय' शीर्षक निबन्धों (ट्रैक्टों) और दूसरे लेखों द्वारा जो मन्तव्य प्रकट किये हैं मैं उनसे सहमत नहीं हूं। यह मन्तव्य युक्ति, आगम और इतिहास से स्पष्ट विरुद्ध हैं। —दरबारीलाल,

श्रीमान् पं० बी० शान्तिराज जी शास्त्री न्यायतीर्थ,

श्री० ना० प्रा० दि० जैन विद्यालय
नागपुर सिटी।

स्त्रीमुक्ति पर विचार—

यदि स्त्रीमुक्ति इष्ट हो तो बावीस परीषह में स्त्री परीषह मात्र न होकर स्त्री की अपेक्षा पुरुष परीषह का भी नाम होता।

स्त्रियोंको आदिके ३ संहननों का अभाव है सप्तम नरक गमन योग्य परिणाम तद्योग्य संहननाभाव के समान ऊर्ध्व गमन (मोक्ष गमन) कैसे शक्य है? 'अन्तिमतिय संहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं' गो० क० गा० ३२ में अन्तिम तीन संहनन नहीं बताया है।

श्री समन्त भद्र स्वामी 'सम्यग्दृष्टि को स्त्री पर्याय न होगी 'सम्यग्दर्शन शुद्धानारकतिर्यङ्नपुंसक स्त्री-त्वानि' रत्नकरण्डमे बताते हैं भाव मनुष्यणी को १४ गुणस्थान हैं भूतपूर्वनयापेक्षा से, अवेद भाग में मनुषिणी शब्द व्यवहार इसी अपेक्षा से है, श्री अकलङ्क ने राजवार्तिक पृष्ठ ३६६ में 'द्रव्यापेक्षया तु पुल्लिंगेनैव सिद्धिः' लिखा है एवं विद्यानन्दीस्वामी श्लोकवार्तिक पृ० ५११ मे 'सिद्धिः सिद्धिगतौ पुंसां स्यान्मनुष्यगतावपि, अवेदत्वेन सा वेदत्रितयाद्वास्ति भावतः' बताया है इन सब बातों से स्त्रीमुक्ति नहीं बनती है।

वस्त्रत्याग पर प्रमाण—

सचेलत्व से भी मोक्ष होता हो 'अर्केचेन्मधुविन्देत किमर्थम्पर्वतं व्रजेत, इस नीति से सुलभोपाय छोड़कर श्रमसाध्य अचेलत्वादि की क्या जरूरत है? नग्न—परीषह भी मानना व्यर्थ है।

वस्त्रत्याग पर श्री स्वामी समन्तभद्र 'नसा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रम विधौ' स्वयम्भूस्तोत्र 'चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावं, रत्नकरण्ड में लिखते हैं।

भगवती आराधना में वस्त्रधारण का अपवाद नियम भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरणोचित गृहस्थ के लिये है।

'अरिहो भत्तपइण्णाए होदि विरदो अविरदोवा'
भगवती आ० पृ० २०४

यह उक्ति रहने पर भी निम्न नियम से गृहस्थ के लिये ही समझा जावेगा।

आवसथेवा अप्पा उग्गे आदि पृष्ठ २०६ श्लो० ७६

थोड़ी देर के लिये मुनि को अपवादलिङ्ग मानने पर भी मुक्ति का अधिकारी सचेलक होने का कोई प्रमाण नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि में अ० ६ सू० ४७ की व्याख्या में 'भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रंथा लिङ्गिनो भवन्ति। द्रव्यलिङ्गम्प्रतीत्य भाज्याः' यह आधार लेकर सचेल सिद्धि कर रहे हैं परन्तु यह पाठ अशुद्ध है यह बात 'लिंगं द्विविधं द्रव्यलिंगं भावलिंगंचेति' इस तरह जब पूर्व निर्देश है तदनुसार प्रथमतः 'द्रव्य लिङ्गम्प्रतीत्य पंच निर्ग्रंथा लिङ्गिनो भवन्ति' आदि सङ्गत है एवं इन्हें सचेलत्व इष्ट हो तो नग्न परीषह का निषेध करते? दोनों इष्ट होता तो सुलभ मार्ग छोड़ते क्यो।

श्लो० वा० में 'वस्त्रादिग्रन्थसम्पन्नास्ततोऽन्येनेतिगम्यते' से अचेलत्व की सिद्धि है।

कवलाहार निषेध—

'ये स्वात्मनो जीवन्मुक्तौ कवलाहारमिच्छन्ति तेषां तत्रास्यानन्तचतुष्टय—स्वभावाभावोऽनन्तसुख-विरहात् तद्विरहश्च 'बुभुक्षाप्रभवपीड़ाक्रांतत्वात्' इस रूप से श्री प्रभाचन्द्र ने मार्तण्ड में विशद रूप से खण्डन किया है।

राजवार्तिक पृ० ३२७ वेदनीयोदयभावात्क्षुधा-दिप्रसङ्गः इदि चेन्न घातिकर्मोदय—सहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात इत्यादि रूप से श्री भट्टाकलङ्क ने सुन्दर विवेचन किया है। श्री विद्यानन्दी ने श्लो० पृ० ४९२ में 'न क्षुधादेरभिव्यक्तिस्तत्र तद्धेतुभावतः। योगशून्ये जिनेयद्वदन्यथातिप्रसङ्गतः। इत्यादि रूपसे कवलाहार निषेध किया है।

श्रीमती पं० पार्वतीदेवी जी जैन हैड अध्यापिका,

श्री लालचन्द जैन कन्या पाठशाला,
टीकरी, [मेरठ]

श्रीमान दिगम्बर जैन सकल पञ्चायत,

सेवामें सादर जय जिनेन्द्र देव की !

नम्र निवेदन यह है कि जो प्रोफेसर हीरालाल जी साहब ने जो विपरीत बातें कही हैं सो यह सब मिथ्या हैं। श्वेताम्बर धर्म आम्नाय (अनुसार) स्त्री को आचार्य पदवी नहीं है, फिर अर्हंत किस तरहसे हो सकती है। अर्हंत आचार्यसे बड़े हैं स्त्री में वीर रस नहीं है तो वह मुनि व्रत किस तरह धारण कर सकती है। अर्थात कभी नहीं। सीता जी को अग्नि का जल हो गया मगर केवलज्ञान नहीं हुआ, और सोलह स्वर्ग तक गई। ऐसे असंख्यात उदाहरण शास्त्रों में मिलते हैं।

वस्त्र सहित मुक्ति कैसे हो सकती है अचेलक का विधान है चेल कहते हैं कपड़ा, अर्थात नहीं कपड़ा सो ऐसा साधु होना चाहिये। भगवती आराधनासार, गोम्मटसार इत्यादि शास्त्रों में बड़े २ आचार्यों ने वर्णन किया है देखो दश लक्षणी पूजा के आकिंचन अङ्ग में यह कहा है कि—फांस तनक सी तन में साले चाह लङ्गोटी की दुख भाले। भाले न समता सुख कभी नर बिना मुनि मुद्रा धरें, धन नगन पर तन नगन ठाडे सुर असुर पायन परें।' इससे यह साफ मालूम हो गया कि बिना मुनि, (नग्न मुद्रा धारण किये बिना) मुक्ति नहीं हो सकती अतः नारीको मुक्ति नहीं हो सकती पुरुष को मुक्ति हो सकती है।

केवली का कवलाहार करना जो हीरालालजी ने कहा है। गलत है हम संसारी जीव भी अशुद्ध चीजों को देखकर अन्तराय मानते हैं तो केवली के ज्ञान में सब पदार्थ झलकते हैं, जब वह (केवली) आहार लेते होंगे तो क्या उस वक्त केवलज्ञान दूर हट जाता होगा यदि नहीं तो फिर वह अशुद्ध पदार्थ को देख करके भी आहार ले लेते होंगे। तो हम लोगों से भी नीच हुये देखो तुच्छ व्रत के धारण करने वाले साधु अशुद्ध चीजोंको देखकर या सुनकर अंतराय मानते हैं, तो क्या केवली आहार ले सकते हैं? कभी नहीं। १८ दोष रहित केवली हैं, जिनमें पहले क्षुधा दोष है क्षुधा लगने से क्या सुख में अन्तराय नहीं होता है,

क्या मोहनीयकर्म का सम्बन्ध न होनेपर भी आहार करने में इच्छा होती है ?

बिना मोहनीय के वेदनीय कुछ कार्यकारी नहीं, कहने मात्र है, जैसे जली जेवड़ी।

श्रीमान् पं० सुरेन्द्रकुमार जी न्यायतीर्थ आयुर्वेदाचार्य

जैन औषधालय, भानुपुरा।

जब से श्री प्रो० हीरालाल जी सा० ने, 'स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहारी हैं, उनको सुख दुःख सम्भव है, सवस्त्रमुक्ति होती है, इनका समर्थन किया है तब से भारत वर्षीय समस्त दि० जैन समाज में अत्यधिक क्षोभ हो गया है। जब प्रोफे० साहब ने दि० जैन सम्प्रदाय के विरुद्ध कदम उठाया है और अपने असत्य कल्पित और शिथिलाचार पूर्ण विचारों का प्रचार किया है तो समाज में क्षोभ होना स्वाभाविक ही है। इस असत्यपूर्ण वातावरण को परीक्षा प्रधानी दि० जैन समाज कब सहन कर सकता है ? इस स्थिति मे समाज का सर्व प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि जिस प्रकार हो उस प्रकार से अपने धर्म और सिद्धांतों की रक्षा करे।

यही नहीं, प्रोफे० साहब ने सर्व मान्य आचार्य प्रवर भगवान कुन्दकुन्द को भी असत्य ठहरने का विफल प्रयास किया है। कुछ भी लिखते समय प्रो० साहब को यह स्मरण नहीं हुआ कि जिन आचार्य को साक्षात् समवशरणमें पहुंचने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। और जिनकी रचनाओ में एक २ अक्षर चुन २ कर रखा गया है उनको बिना विचारे लिख डालनेका दोष कैसे लगावें? यदि इन तमाम बातोंका निर्णय किया जाय तो इन सब के लिये प्रोफेसर साहब ही दोषी कहे जा सकते हैं।

मुझे स्वयं उपलब्ध जैन न्याय, सिद्धांत, और साहित्य के अध्ययन व मनन करने का पुण्य अवसर मिला है साथ ही समस्त श्वेताम्बर जैन न्याय, सिद्धांत, साहित्य और वैष्णव सिद्धांत के पढ़ने का मौका मिला है। जब मैं सबका तुलनात्मक विचार करता हूं तो केवल दिगम्बर जैन सिद्धांत ही आत्मोत्थान का पूर्ण साधक सिद्ध होता है। उसमें शिथिलता या आडम्बर का लवलेश नहीं जो कि मुक्ति का बाधक होता है।

जब २ मैं ने अजैन विद्वानों और श्वेतांबर जैन विद्वान साधु जनों या गृहस्थ विद्वानों से ऊहापोह किया तो उन लोगों से दि० जैन सिद्धांत और आचार की मुक्त कण्ठ से प्रशसा सुनी। जब कभी केवली कवलाहारी, सवस्त्रमुक्ति तथा केवलीको सुख दुःख के विषय की चर्चा हुई तो उन्होने निसङ्कोच स्वीकार किया है कि वह विषय तो दि० सम्प्रदाय से ही उचित है किन्तु समय की परिस्थिति ने आचार्यों के विचारों मे एक महान परिवर्तन पैदा कर दिया था फलतः उनको यह शिथिलाचार अङ्गीकार करना पड़ा और तदनुसार लिपि बद्ध करना पड़ा किन्तु यह सब मुनि चर्या का बाधक है। इत्यादि—

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द के प्रति उभय

सम्प्रदाय की पूर्ण श्रद्धा और मान्यता है उभय समाज इनको धुरंधर विद्वान स्वीकार करते हैं इनकी रचनाओं का एक २ अक्षर प्रामाणिक हैं ऐसा माना जाता है। नूतन प्रकाशित 'श्रीमद् रायचन्द्र में, श्री रायचन्द्र जी ने स्वय अनेक स्थलों पर उनको सर्व श्रेष्ठ अद्वितीय विद्वान स्वीकार किया है और उनको अत्यंत श्रद्धा व भक्ति से नमस्कार किया है।

जो कुछ प्रोफेसर साहब या उनके समर्थकों ने स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवली कवलाहारी, केवली को सुख दुःख होते हैं आदि बातों का समर्थन किया है और समाज को मिथ्यामार्ग की ओर ले जाने का प्रयत्न किया है यह सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार आचार्यवर कुदन्कुन्दस्वामी को बिना विचारे लिखने का दोषारोपण किया है यह भी नितांत भूल है।

विशेष क्या ट्रैक्ट का विरोधात्मक जवाब लिख रहा था किन्तु मुझे मालूम हुआ कि बहुत से और भी विद्वान ऐसा कर रहे हैं तो मैंने अपना विचार स्थगित रखा और केवल अपनी सम्मति भेजनी ही पर्याप्त समझी।

श्रीमान् पं० सतीशचन्द्र जी शास्त्री न्यायतीर्थ आयुर्वेदाचार्य,

मक्रौट, (एटा)

प्रोफेसर हीरालाल जी ने दिगन्बर जैन सिद्धांतानुसार ३ बातों का विधान किया है, वह बिलकुल गलत है। दिगम्बर जैन सिद्धांत इसे स्वीकार नहीं करता।

१— स्त्री को मुक्ति नहीं हो सकती।
बाह्यांतरपरित्यागः सयमः तस्याभावान् न स्त्रीणां मुक्तिः।

२— और सवस्त्र को भी मुक्ति नहीं हो सकती।
स च याचनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपा—दानचौरहरणादिमनःसंक्षोभकारिणि वस्त्रे कथं स्यात्?
इसका विवेचन प्रमेय कमल मार्तण्ड पृष्ठ ६४ से ६६ तक खूब लिखा है।

३— भगवान कवलाहार नहीं करते हैं। नीचे लिखे अनुमान से सिद्ध होता है।
"केवली न भुङ्क्ते रागद्वेषाभावानन्तवीर्य—सद्भावान्यथानुपपत्तेः।
यह प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ ८४ से ८७ तक खूब प्रत्युत्तर किया है। देख लें।

प्रोफेसर हीरालाल जी ने दिगन्बर सिद्धांत के विपरीत बातें पेश की हैं वह हमें मान्य नहीं हैं। कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत जो धारा प्रवाह से कथन चला आ रहा है वही मान्य है।

श्रीमान् ला० पोस्तीलाल जी जैन,

श्री समस्त जैन पंचान् मुम्बई! आपके पास जो प्रोफेसर हीरालाल जी ने तीन प्रश्न लिखकर समाज

में खलबली मचा दी है। स्त्रीमुक्ति, वस्त्र सहित मुनि और केवलज्ञानी कवलाहार करते हैं इस प्रकार लिखा है इसका उत्तर इस मुजिब समझना।

स्त्रीमुक्ति—

इस विषय में शास्त्रों में ३ वेद माने हैं पुरुष स्त्री नपुंसक। इनमें तीनों वेदों में वज्रवृषभनाराचसंहनन का धारी पुरुष ही होता है स्त्री तथा नपुंसक नहीं होते। स्त्री के अन्त के तीन संहनन यानी, नाराच कीलक स्फाटिक ही होते हैं और स्त्री छठेनरक तक तथा सोलह स्वर्ग तक ही जाती है अगाड़ी हीन संहनन होने से उसे अधिकार नहीं है और स्त्री के पांचवां गुणस्थान ही होता है कारण साड़ी वस्त्र की धारणा रहती है और भावस्त्री की अपेक्षा आठवां गुणस्थान तक ही रहता है अगाड़ी क्षपक श्रेणी मे वह वेद भी नहीं रहत: इससे स्त्री को मोक्ष होने का अधिकार नहीं है। स्त्री रजस्राव से भी असंयत रहती है।

मुनीश्वर वस्त्र धारण कर सकते हैं इसके उत्तर में तत्वार्थसूत्र में नवमें अध्याय में यह बतलाया है पुलाकवकुश कुशील निर्ग्रंथ स्नातक इस प्रकार निर्ग्रंथ मुनि पंच प्रकार के होते हैं यह सब ही नग्न रहते हैं उनके भावों में भेद है और सब ही पूजनीय हैं इसका उलटा अर्थ नहीं करना चाहिये अगर मुनि वस्त्र सहित होते तो जो मूल गुण २८ माने हैं उसमे नग्नत्व जो मूल गुण है वह नहीं- ठहरता विचार कीजिये।

अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी के समय १२ वर्ष के अकाल के चक्कर में पड़कर कुछ साधुओं ने शिथिलाचार से कपड़ा पहनना शुरूकर दिया था।

केवली कवलाहार करते हैं इस विषय में केवली भगवान के अनन्त चतुष्टय होता है वह इतना बलवान होताहै कि उसमें भूखप्यास तथा सुख दुख की वेदना होती नहीं केवलज्ञानी के जो ११ परीषह होते हैं वह जली हुई जेवड़ीवत होते है क्योंकि आठ कर्मों मे चार घातिया कर्म तो बिल्कुल नष्ट हो जाते है और चार अघातिकर्म रहते हैं आयु, नाम गोत्र, वेदनीय। इस प्रकार से योग केवली तक रहते हैं और उनका असर रहता है लेकिन जिस प्रकार जली जेवड़ी अपना असर नहीं करती इस मुजिब आप विचार करें। केवलज्ञानी को तमाम भूतभविष्यत वर्तमान पदार्थ यथार्थ दिखते हैं और आहार जो होता है वह ४६ दोष रहित होता है जब आहार करते समय उन के ज्ञान में सब दीखते हैं तो वह आहार किस तरह बनेगा हर समय अंतराय रहेगा इससे भी केवली के कवलाहार नहीं बनता।

इस प्रकार कथन है और नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती तथा अकलङ्कदेव खुद नग्न अवस्था मे थे। वे गोम्मटसार और राजवार्तिक मे वस्त्रधारी मुनि होते हैं इस प्रकार कैसे लिखते। तथा भगवती आराधनासार में भी यह कथन कहीं नहीं है क्योंकि शिवकोटि मुनि श्री समन्तभद्र स्वामी के शिष्य थे और नग्न रहते थे उनके परिणाम कभी शिथिल नहीं हो सकते? अतः विचारना चाहिये कि महावीरस्वामी समवशरण में मुनि नग्न तथा वस्त्रधारी होते थे यह सब मिथ्या कल्पना है।

भद्रबाहु श्रुतकेवली तक नग्नत्व मे किसी प्रकार बाधा नहीं पहुंची तब महावीर स्वामी के समवशरण मे मुनि वस्त्रधारी थे यह लिखना नितांत मिथ्या है।

इस तरह पर विचार करने से प्रोफेसर सा० की तीनों बातें घटित नहीं होतीं इससे इस विषय का हठ छोड़कर प्रोफे० जी सत्यनिर्णय का यत्न करे।

* पूज्य संयमियों का अभिमत *

श्री १०८ पूज्य मुनिवर सुमतिसागर जी महाराज

—तथा—

पूज्य मुनि सन्मतिसागर जी महाराज

(चातुर्मास छपारा)

जगत में जैनधर्म वीतराग मार्ग का अनुयायी है शेष मत सरागमार्ग के पोषक हैं। अतएव जैनधर्म के सञ्चालक श्री जिनेन्द्रदेव पूर्ण वीतराग होते हैं, उनके उपदिष्ट मार्ग के प्रचारक आचार्य, उपाध्याय साधु समस्त वस्त्र आदि परिग्रह से विमुक्त नग्न होते हैं। जो इतना त्याग नहीं कर सकते लज्जा के कारण वे लङ्गोटी पहन कर उत्कृष्ट श्रावक का रूप धारण करते हैं उनके महाव्रत नहीं।

स्त्रियां पूर्ण नग्न नहीं हो सकतीं अतः पूर्ण आत्मशुद्धि उन्हें उसी शरीर से प्राप्त नहीं हो सकती संहनन शक्ति की हीनता भी उनके मुक्ति गमन में बाधक कारण है।

केवलज्ञानी घातिचतुष्टय नष्ट करके अनन्तचतुष्टय प्राप्त करते हैं अतः अनन्त सुख के कारण उन्हें भूख नहीं लगती, अनन्त वीर्य के कारण उनमें भोजन न करने पर भी निर्बलता नहीं आती और अनन्त लाभ के कारण उनके परमौदारिक शरीर के बलाधान की कारणभूत नोकर्मवर्गणाओं से उनका शरीर पुष्ट होता रहता है। अतः वे कवलाहार नहीं करते।

पूज्य श्री आर्यिका धर्मवती जी,

सुसनेर।

दिगम्बर जैन ग्रन्थों से स्त्री-मुक्ति वस्त्र सहित मुक्ति, केवली भगवान का कवलाहार ये तीनों बातें विपरीत मानी गई हैं। न तो ऐसा हुआ है न होगा। तीनों बातें असम्भव हैं। प्रोफेसर हीरालाल जी ने आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के विचारों के विषय में विपरीत बातें लिखकर अपने ही आत्मा को निंदनीय किया है।

श्री १०५ पूज्य ऐलक कुलभूषण जी महाराज,

निमशिरगांव।

स्त्रियों को मुक्ति होना, वस्त्र सहित मुक्ति होना, केवली भगवान का कवलाहार करना, यह तीनों बातें सिद्धांत विरुद्ध असम्भव हैं।

*** शास्त्रीय प्रमाण ***

प्रवचनसार में, पृष्ठ २७० से ३३६ तक, वस्त्र—सहित स्त्रियोंको मोक्ष नहीं होती ऐसा स्पष्ट लिखा है।

श्रीमद्देवसेनाचार्यने भावसंग्रहमें (मराठी टीका) पृष्ठ ४७ से ६५ तक, यही विषय और केवलि कवलाहार नहीं करते हैं ऐसा बताया है, आगे चलकर स्थविरकल्पी साधु का तथा जिन जिनकल्पी साधु का स्वरूप, श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति आदि बताया है।

केवलि भगवान कवलाहार नहीं करते हैं, उन्हें सुख दुःख नहीं होता है ऐसा प्रमेयकमल मार्तण्ड में तथा दूसरे न्याय ग्रन्थों में भी आया है।

श्री समन्तभद्राचार्य कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार के छठे श्लोक की टीका में संस्कृत टीकाकार ने केवलि कवलाहार का खण्डन किया है स्त्रियों को मोक्ष क्यों नहीं होता है और स्त्रियों में क्या २ दोष है वह सभी खुलासा किया है।

माघनन्दी आचार्य ने शास्त्रसार समुच्चय में—

लोकद्वयानपेक्षा हि धर्मस्सर्वज्ञभाषितः।
अतस्तस्मिन् कृतस्त्रीणां लिंगं सग्रंथमिष्यते ॥१॥
कर्मभूद्रव्यनारीणां नाद्यं संहननत्रयं।
वस्त्रादानाच्चरित्रं च तासां मुक्तिकथा वृथा ॥२॥
तेनैव जन्मना नास्ति मुक्तिः स्त्रीणां हि निश्चयात्।
तासां योग्यं तपश्चिन्नं पृथक्त्वोपवर्णितं ॥३॥
एकमप्येषु दोषेषु विना नारी न वर्तते।
गात्रसंवरणं नास्ति तस्यास्संवरणं ततः ॥४॥
चित्तस्रवोऽल्पशक्तिश्च रजःप्रस्खलनं तथा।
स्त्रीपूत्पत्तिश्च सूक्ष्माणामपर्याप्तनृणां भवेत ॥५॥
कक्षास्तनांतरे देशे नाभौ गुह्ये च सम्भवः।
सूक्ष्माणां च ततः स्त्रीणां संयमो नास्ति तत्वतः ॥६॥
दर्शनं निर्मलज्ञानं सूत्रपाठेन बोधितः।
यद्यप्युग्रांचरेच्चर्या तथापि स्त्री न सिध्यति ॥७॥
यदि त्रिरत्नमात्रेण सा पुंसां नग्नता वृथा।
तिरश्चामपि दुर्वारा निर्वाणप्रिरलिङ्गिता ॥८॥
मुक्तिश्चेदस्ति किं तासां प्रतिमाः स्तवनान्यपि।
क्रियन्तेऽपूज्या श्चेत्तासां मुक्तेरस्तु जलांजलिः ॥९॥
ततस्तद्योग्यमेवोक्तं लिंगं स्त्रीणां जिनोत्तमैः।
तल्लिंगयोग्यचारित्रं सज्जातिप्रकटात्ततः ॥१०॥
देशव्रतानि तैस्तासामारोप्यंते बुधैः स्ततः।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञाप्त्यर्थमुपचारतः ॥११॥

धवलग्रन्थ के प्रथम भागमे लिखा है कि 'स्त्रियों को भाव तथा द्रव्य दोनों संयम नहीं होते हैं।

सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां, सवाससामप्यविरुद्ध इति—चेत? न तासां भावासयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।

षट्प्राभृत में श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने 'स्त्रियो तथा गृहस्थों को भी मोक्ष नहीं होता है' ऐसा स्पष्ट लिखा है, स्त्रियोको तो महाव्रत (छठा गुणस्थान) होता ही नहीं, फिर मोक्ष कैसे होगी।

तत्वार्थ राजवार्तिक में २३१ ३३२ पृष्ठ में लिखा है कि स्त्री को क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता है। जब दर्शनमोहनीयकर्म का नाश वह नहीं कर सकती है तो चारित्र मोहनीय कर्म को कैसे नाश कर सकती है।

सुज्ञेषु किमधिकमित्यलम्।

श्रीमान् पूज्य अनुमतत्याग प्रतिमाधारक स्वरूपचन्द्र जी तथा अशरफीलाल जी महाराज,

सवस्त्र साधु चर्या, स्त्री मुक्ति और केवली कवलाहार ये तीनों विषय आगम तथा युक्ति के विरुद्ध हैं, प्राक्तन विद्वान ग्रन्थकारों ने अनेक सरल युक्तियों से इनका सुन्दर खण्डन किया है। अन्तिम श्रुत केवली श्री भद्रबाहु स्वामी के समय पर १२ वर्ष के दुर्भिक्ष के समय अकाल से प्रभावित जो जैन मुनि चारित्र भ्रष्ट हुये उन्हों ने अपने शिथिलाचार की पुष्टि में इन सिद्धांतों का प्रचार किया। प्रोफेसर जी को इस ऐतिहासिक तथ्य का मनन करना चाहिये। निराधार कुतर्कों से सत्य सिद्धांत को दूषित करने का यत्न न करना चाहिये।

श्रीमान् ब्रह्मचारी मोतीलाल जी महाराज

माधोगञ्ज, लश्कर।

—:[*रथ यात्रा के समय*]:—

मोक्ष की प्राप्ति यथाख्यात चारित्र होने पर होती है वह वज्रवृषभनाराच संहननधारक, समस्त परिग्रह त्यागी साधु के होता है। कर्मभूमिज स्त्री को न पहला संहनन है, न सकल परिग्रह का त्याग है अतः उसे मुक्ति होना असम्भव है।

वस्त्र अनेक चिंताओं का साधनभूत एक परिग्रह है वह रञ्च भर भी जिसके पास होगा वह परिग्रह त्याग महाव्रती नहीं हो सकता।

मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाने पर समस्त इच्छाओं का नाश हो जाता है फिर अनन्तसुखी, अनन्तबली केवली के भोजन करने की इच्छा होगी ही कैसे?

अतः प्रोफे० हीरालाल जी की तीनों बातें युक्ति आगम से विरुद्ध हैं।

—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

फिरोजाबाद, [*आगरा*]।

प्रोफेसर हीरालाल जी अमरावती वालो के तथा कथित दि० जैन धर्म पर दोषारोपण के विषय में फिरोजाबाद की दि० जैन पंचायत सर्व सम्मति से निम्न लिखित निश्चय करती है।

१- धवलादि महान सिद्धांत ग्रन्थों का प्रकाशन करने वाले प्रोफे० हीरालाल जी ने स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति, केवली कवलाहारी आदि परमागम विरुद्ध जो मान्यतायें प्रचारित की हैं वे सर्वथा असङ्गत एवं

अयुक्ति पूर्ण हैं उनका परम्पराचार्य सम्प्रदाय द्वारा प्रणीत आर्ष मार्ग के मुकाबले में कोई मूल्य नहीं है।

२- इन मान्यताओं की पुष्टि में उक्त प्रो० सा० ने जिन आचार्य वाक्यों के उद्धरणों से मन माना अभिप्राय निकाला है वे उद्धरण उन्हें पुष्ट नहीं करते अपितु इन मान्यताओं के विरुद्ध उन्हीं आचार्यों के पुष्ट एवं तर्क सम्मत प्रमाण मिलते हैं। ऐसा जान पड़ता है प्रोफे० साहब मात्र लिपिविशेषज्ञ हैं आगम की गूढ़ गुत्थियां उन्हों ने नहीं समझीं।

३- जब हम उक्त प्रोफेसर साहब को भगवत्कुन्द-कुन्द-भट्ट अकलङ्कस्वामी आचार्य पूज्यपाद जैसे प्रातः स्मरणीय परम पाण्डित्यप्रवीण दिग्गज आचार्य एवं उनकी पट्टावली के विषय में 'अमुक ग्रन्थकार ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है' यह साधारण शिष्टाचार के भी विरुद्ध लिखते देखते हैं तो हमें खेद होता है।

४- अन्त में प्रोफेसर साहब की इस चेष्टा के प्रति खेद प्रगट करते हुये हम अखिल भारतीय दि० जैन समाज से निवेदन करते हैं भगवत्कुन्दकुन्द स्वामी प्रणीत जो धारा प्रवाह आर्षमार्ग चला आ रहा है उस पर अटल रहा जाय एवं तदनुसार आत्मकल्याण किया जाय।

हजारीलाल जैन बी०ए०एलएल०बी०
सभापति श्रीः दि० जै० प० पु० पचायत।

—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

ठकुराई, [ग्वालियर]।

'स्त्री को मुक्ति नहीं हो सकती' यह सिद्धांत श्वेताम्बर मत का भी है। देखिये—पंच परमेष्ठी में कोई भी स्त्री वेदी नहीं है प्रतिमा, चरणपादुका (पगल्या) जो मन्दिरों और मोक्ष स्थानों में हैं वे स्त्रियोंके नहीं आज से जो, २००० दो हजार पहले की मूर्ति मिली हैं उनमें कोई भी स्त्री की प्रतिमा नहीं है स्त्रीमुक्ति होती तो उसकी भी मूर्ति मिलतीं, स्त्री के संहनन बल निर्भयता, गुणस्थान, (छठे से लेकर १४ तक) तथा तीर्थङ्कर, गणधर, चक्री आदि पद पाने एकाकी विहार करने व पूर्ण लज्जा छोड़ने केलिये भी वह समर्थ नहीं, श्वेतांबरीय सिद्धांतानुसार स्त्री को १४ पूर्वों का भी ज्ञान नहीं होता तब प्रोफेसर हीरालाल जी स्वयं विचार करें, कि वे फिर मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकती हैं?

सवस्त्र साधु को मुक्ति बतलाना भी गलत है प्रथम तो मुनिचर्या बिना मोक्ष नहीं और मुनिचर्या कपडे सहित नहीं, इसी कारण दिगम्बर अर्थात वस्त्र रहित नग्नवेष साधु का माना गया है। वि० स० ६०० से पहले की समस्त श्वेताम्बर मूर्ति भी नग्न हैं जिनके पास लेश भी वस्त्र नहीं।

एक धागा डालकर उसको सराग मानकर अकलङ्कदेव ने मूर्ति को उलांघा था। कपड़ों से, भय, याचना, मैल होना, धोना, जिससे त्रस स्थावर जीवों की विराधना और उससे संयम का घात इत्यादि अनेक दोष आते हैं तथा जैन साधु के २८ मूलगुणों में नग्नता की कमी होती है और परीषह में भी

दंशमसक शीत, नग्न, स्त्री इत्यादि परीषहों में कमी होती है वस्त्र के सम्बन्ध से रागद्वेष होना अनिवार्य है जिससे मोक्ष होने में पूर्ण बाधा है।

प्रथमानुयोग में जो अरहंत केवलियों का कथन आया है उसमें केवली कहीं भी आहार लेने नहीं पधारे और न उनको समवशरण या गधकुटीमें कोई देव, मनुष्यों ने ही आहार लाकर वा बनाकर दिया है समवशरण में कवलाहार से नौधाभक्ति, अन्तराय मलदोष का निवारण वा दातार के गुण वगैरह सब ही विधि असम्भव है। केवली को अक्षय अनन्त सुख है। मोहनीय की सहायता से असाता वेदनीय दुःख उत्पन्न कर सकती है अन्यथा नहीं। अतः केवली को कुछ भी दुःख नहीं होता।

अतः स्त्रीमुक्ति वस्त्रसहित मुक्ति, केवली को कवलाहार, सुख दुःखादि होना ये सब बातें श्वेतांबर आम्नाय की हैं उनका दिगम्बर आम्नाय सम्बन्धी लिखना गलत है हम उक्त बातों का विरोध करते हैं स्वामी कुन्दकुन्द को बिना विचारे लिखना अपनी ही हंसी उड़ाना है।

—ह० समस्त पंचान।

—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

निवोहड़ा।

स्त्री-मुक्ति पर विचार—

दिगम्बर जैनधर्म में प्रत्येक आचार्य ने (बाईस) २२ परीषह मानी हैं उन बाईस परीषहों में नग्न परीषह भी है, बिना नग्न अवस्था के मुक्ति होना नितांत असम्भव है क्योंकि लङ्गोटी मात्र परिग्रह से हजारों प्रकार की चिन्तायें लगी रहती हैं जब तक उन चिन्ताओं से स्वतन्त्र न होंगे ध्यान की एकाग्रता प्रायः असम्भव हो जायगी इससे सिद्ध होता है कि नग्नावस्था मुक्ति होने के लिये परमावश्यक है किन्तु स्त्री नग्न नहीं हो सक्ती और न वह नग्न परीषह जीत सकती है अतः स्त्री का मोक्ष होना नितांत असम्भव है।

उमास्वामी, पूज्यपाद, समन्तभद्र आदि आचार्य गण जो कि दिगम्बर जैनधर्म के नायक हैं उन्होंने स्त्री को नग्न रहना निषिद्ध बतलाया है पुरुष में पाप भी अधिक से अधिक करने की शक्ति है और पुण्य तथा ध्यान भी, जिसके प्रभाव से वह मोक्ष तक जा सकता है। स्वभावतः स्त्री में वह शक्ति नहीं है।

निर्वस्त्र संयम न पाल सकने से स्त्री महाव्रत धारण नहीं कर सकती और बिना महाव्रत के मोक्ष प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है।

शुक्लध्यान के लिये वज्रवृषभनाराचसंहनन का होना अनिवार्य है और इसका अभाव कर्मभूमिज स्त्रियों में है मोक्ष वज्रवृषभनाराचसंहनन ही से होता है (देखो श्वे० ग्रन्थ संग्रहणी सूत्र नामक प्रकरण १६०वीं गाथा)।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी स्त्री में वज्रवृषभनाराच-संहनन का अभाव बतलाया है प्रकरण रत्नाकर (चौथा भाग) २३६वीं गाथा। चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि उत्कृष्ट बल धारक पद पुरुषों को ही प्राप्त होते हैं।

देखो प्रवचनसारोद्धार तीसरा भाग ५४४से५४५ तक

पुरानी दीक्षित आर्यिका को एक दिन के दीक्षित मुनि को वन्दना करनी पड़ती है (देखो कल्प सूत्र के दूसरे पत्र को)

श्वेताम्बर शास्त्रानुसार आनत प्राणत विमान-वासी देव मर कर पुरुष ही होते हैं इससे पुरुष की उच्चता सिद्ध होती है (देखो प्रकरण रत्नाकर ७७-७८ पृष्ठ ५८।

ज्ञानशक्तिकी हीनता—स्त्री को १२ अङ्ग को छोड़ो किन्तु दृष्टिवाद अङ्ग के एक भाग रूप १४ पूर्व का ज्ञान भी नहीं होता है (देखो प्रकरण रत्नाकर) इसके अलावा दृष्टिवाद अङ्ग का पढ़ना स्त्री के लिये मना है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने भी स्त्री को जिनकल्प नहीं माना है 'णो कप्पादि लिङ्ग थीए अचेलाए होत्ताए'।

स्त्रियोंकी शारीरिक रचना—उनकी रचना परम पवित्रता में बाधक है अतः यथाख्यात चारित्र भी उनको नहीं हो सकता। मासिक धर्म के समय साड़ी बिना बदले शुद्ध नहीं होती इसलिये पानी लेना, साड़ी की याचना करनी पड़ती है इससे उसके महाव्रत होना असम्भव है।

श्री शुभचन्द्राचार्य जी के कथनानुसार स्त्रियों के सत्य, शूरता आदि गुणों का अभाव है। मायाचार अपवित्रता अधिक पाई जाती है। रजमल, भय हमेशा रहता है उनकी जाति नीच होती है। बल नहीं होता, साधु उनको नमस्कार नहीं करते उत्कृष्ट चारित्र उनके नहीं होता। इन कारणो से स्त्रीमुक्ति होना असम्भव है।

सवस्त्र-मुक्ति—

कपड़े सहित मुक्ति मानने से वीतरागता का अंत हो जाता है कपड़े की चिंता ध्यान में बाधक होती है क्योंकि उनके फट जाने पर सुई डोरे से सीने की चिंता लगी रहती है निश्चिन्त ध्यान नहीं बन सकता।

१-वस्त्र पहनते रहने से शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषहों को जीत नहीं सकता। २-कपड़े पहने हुये मुनि की परीक्षा नहीं हो सकती कि वह पूर्ण ब्रह्मचारी व वीतरागी भी है या नहीं। ३-इच्छा-नुसार कपड़े मिलने पर सुख और न मिलने पर दुःख होगा। मैले कपड़े के धोने, निचोड़ने, सुखाने, जोड़ने आदि में मुनि को चिन्ता, असयम, भय, आरम्भ आदि करने पड़ते हैं। ५-कपड़े पहनने के कारण जो पसीना होता है इससे जूयें उत्पन्न होते हैं जिससे हिंसा का दोष लगता है। उपर्युक्त बातें निश्चिन्त ध्यान मे बाधक हैं अतः वस्त्र सहित मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।

केवली कवलाहार—

अर्हंत भगवान के कवलाहार मानने पर अनंत चतुष्टय मे बाधा आती है। आहार करने की चिंता, न मिलने पर क्षोभ इत्यादि बातें क्षोभ पैदा करती हैं।

वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म की सहायता से फल देता है। जब मोहनीयकर्म का नाश हो जाता है तब वेदनीयकर्म नाम मात्र रह जाता है परिपाक कुछ नहीं दे सकता। अतः वेदनीय के रहते हुए भी केवली भगवान को भूख नहीं लगती।

—श्री दिगम्बर जैन पञ्चायत—

तिलकपुर तलवाड़ा

श्रीमान् मान्यवर सकल दिगम्बर जैन पंचायत मुम्बई ! तिलकपुर (तलवाड़ा) से समस्त दिगम्बर जैन पञ्चायतका सादर जयजिनेन्द्र बंचना जी। अपरंच यहां पर श्रीमान् विश्ववन्द्य, परम पूज्य, तपोनिधि चारित्र चूड़ामणि, ज्ञानध्याननिष्ठ श्री श्री श्री १०८ श्री आचार्यवर्य श्री कुन्थुसागर जी महाराजके संघसहित विराजने से आनन्द मङ्गल है। आपके वहां भी आनन्द होगा। अपरंच आपने पत्र नं० १ छपा हुआ भेजा जिसमें प्रोफे० हीरालाल जी साहब द्वारा श्वेताम्बर दिगम्बर मत में कोई मौलिक भेद है ? तथा श्वेताम्बरोंने जो सवस्त्र मुक्ति, स्त्रीमुक्ति केवली-कवलाहार माना है वह दिगम्बरों के ग्रन्थों से भी सिद्ध होता है तथा कुन्दकुन्दाचार्य ने दिगम्बर मत स्थापित किया है आदि लिखा है उसके प्रत्युत्तर के लिखा सो समाचार विदित हुए।

श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल जी ने जो यह प्रश्न उठाये हैं वे केवल उनके उथले स्वाध्याय का ही फल है। क्योंकि वीतराग धर्म अनादिकालसे इस भूतल पर वरत रहा है और इसके प्रवर्तक अनादि काल से त्रेसठ शलाका पुरुष चले आये हैं। जब उन महापुरुषों के हाथ मे यह धर्म था तब तक इस भूतल पर सुख साम्राज्य छाया हुआ था और एक ही धर्म था। किन्तु हुंडावसर्पिणी काल के दोष से ये अनेक मत मतांतर पैदा हुए। और आज विदेह क्षेत्र में हमेशाके लिये एक वीतराग धर्म ही मौजूद रहता है। वहां पर कोई मतमतांतर नहीं है। और यह वीतराग धर्म आत्मा का वास्तविक रूप है। क्योंकि परिग्रह वगेरह सब उपाधि है और परिग्रह रखकर मोक्ष को जावे यह बात असम्भव ही है। दिगम्बर शास्त्रों मे तो कहीं भी सवस्त्र मुक्ति नहीं बतलायी। जहां पर अन्तरङ्ग परिग्रह भी दुखदायी व आत्माके वास्तविक रूप प्राप्त करने में बाधक है तो बाह्य परिग्रह रखते हुए मोक्ष प्राप्त करना आत्मा के वास्तविक पद को कैसे प्राप्त कर सकते हैं। इस लिये प्रोफेसर साहब द्वारा सवस्त्रमुक्ति दिगम्बरशास्त्रमें विधेय कहना तो झूठा, अवर्णवाद करना है। तथा श्वेताम्बर शास्त्रों मे भी आखिर में वस्त्र का त्याग ही बतलाया है।

स्त्रीमुक्ति कहना भी बिलकुल असत्य है। दिगंबर शास्त्रोंमें तो स्त्री मुक्ति का निषेध ही है। क्योंकि स्त्री के लिये उत्कृष्ट संहनन ही नहीं बतलाया और उत्कृष्ट संहनन न होने के कारण महिला जाति अगर नरक में जावे तो छठे नरक तक जा सकती है और ऊपर सोलहवें तक ही जा सकती है। इस लिये दिगम्बर शास्त्र में स्त्री मुक्ति का निषेध ही है। और कर्म सिद्धांत के अनुसार भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। तथा आज कल हम वर्तमान व्यवहार में भी देख रहे हैं कि उच्च शक्ति स्त्रियों में नहीं है। इस लिये स्त्री पर्याय से मुक्ति पाना निराधार है।

केवली कवलाहार भी कदापि सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि केवली भगवान परमौदारिक शरीर को धारण करने वाले महापुरुषों के लिये अर्हंत अवस्था में नो कर्म वर्गणा के सिवाय कोई आहार नहीं है क्योंकि कवलाहार छठे गुणस्थानवर्ती साधुओं के लिये और सामान्य पुरुषों के लिये है। साधु अवस्था में वारह तपादि करने पड़ते हैं क्यों कि तप आदि न करने से प्रमादादि बढ़ जाता है। अतः

केवली को कवलाहार मानें तो अर्हंत के ४६ गुण माने हैं उसमें भी बाधा पड़ती है। और उसके अनन्त चतुष्टयमें भी बाधा पड़ती है। फिर सामान्य मनुष्य व केवली भगवान में अन्तर ही क्या रहा। अतः केवली भगवान तो अनन्त चतुष्टय के धारक हैं उनको भूख का दुखी कहना उनके अनन्त सुख और उनके अनन्त बल का उपहास करना है अतः हमारे दिगम्बर शास्त्र में तो केवली कवलाहार का निषेध किया है।

प्रोफेसर साहब का कहना है कि दिगम्बर धर्म कुन्दकुन्दाचार्य ने स्थापित किया है यह कहना भी बिलकुल गलत है। क्योंकि उनके पहले पुष्पदन्त भूतबली आदि कई आचार्य हुए उन्हों ने वीतराग धर्मका ही उपदेश दिया है। औरभी इस वीतराग धर्म को सब ने अपनाया है किन्तु दिगम्बर मत में खान पानादि कठिन वृत्ति होने से उसको न सह सकनेके कारण मतमतांतर खड़े होगये हैं। लेकिन वीतराग धर्म का सब पर प्रभाव पड़ा हुआ है। इस लिये वीतराग दिगम्बर धर्म को कुंदकुन्दाचार्य द्वारा स्थापित कहने से पहले प्रोफेसर जी अन्तिम श्रुत-केवली के बाद के इतिहास का मनन करें जब से कि वस्त्रधारक जैन साधुओं का प्रारम्भ हुआ है।

हमारे पूज्य गुरुवर्य तपोनिधि विश्ववन्द्य आचार्य देव ने जो इसका प्रत्युत्तर लिखा है। वह अक्षर अक्षर प्रमाणीक है।

—श्री दिगम्बर जैन पञ्चायत—

बेसवां

श्वेताम्बर आम्नाय से दिगम्बर आम्नाय के ग्रन्थ पहले के लिखे हुये हैं, श्वेताम्बर आम्नाय के देवर्द्धिगणि आदि ने वल्लभीपुर मे वीर संवत ६८० में आगम ग्रन्थ लिखे थे। श्लोक,—

बल्लहिपुरम्मि नयरे देवड्ढिपमुहसयलसंघेहिं।
आगम पुत्थे लिहिओ, णवसय असीआओ वीराओ॥

जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर में आत्मानन्द सभा भाव नगर द्वारा वीर सं० २४३५ मे प्रकाशित पृष्ठ २३६ में उन्हीं के लिखे अनुसार दिगम्बर शास्त्र ३०० वर्ष पहिले के लिखे हैं वीर सं० ६८३ वर्षे ज्येष्ठ सुदी ५ के दिन श्रीभूतबली पुष्पदन्त आचार्योंने षट्खंडागम को पूर्ण कर पूजा की है।

जब इनकी रचना हुई उस ही ईसा की पहिली या दूसरी शताब्दी में कुन्दकुन्दाचार्य जैसे सरीखे दिग्गज विद्वान हुए जिनके विषय में कहा जाता है कि विदेहक्षेत्र में जाकर साक्षात दिव्य ध्वनि द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना था वही वस्तुस्वरूप धर्मोपदेश आज तक शास्त्रोंमें वर्णित है। क्या कुन्दकुन्द स्वामी अन्यथा वर्णन कर सकते हैं?

श्वे० ग्रन्थ प्रवचनसारोद्धार प्रकरण रत्नाकर भाग तीसरा (छपा सं० १९६४ भीमसेन माणक जी बम्बई) पृष्ठ नम्बर ५४४-४५ में लिखा है कि—

अरहत चक्कि केसव बल संभिन्नेयचारणे पुव्वा।
गणहर पुलाय आहारगं च न हु भवियमहिलाणं॥

यानी—अरहन्त, चक्री, नारायण, बलदेव, संभिन्न श्रोता, चारण ऋद्धि, पूर्व का ज्ञान, गणधर

पुलाकपना, आहारक शरीर ये दश लब्धियें भव्य-स्त्री के नहीं होतीं।

जब श्वेताम्बर आम्नाय अनुसार ये पद स्त्री को प्राप्त नहीं होते तो मुक्ति पद, अर्हंत अवस्था क्योंकर हो सकती है।

श्री दिगम्बराम्नाय के श्री प्रवचनसार में लिखा है कि :—

संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयदुगंच्छाय।
चित्ते चिचित्तमाया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ॥२३॥

स्त्रियों के चित्त में निश्चय से मोह, द्वेष, भय, ग्लानि तथा विचित्र माया होती है इसलिये उनके निर्वाण नहीं होता।

जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोर चरदिव चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥

यद्यपि कोई स्त्री सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो तथा शास्त्रज्ञान से भी संयुक्त हो और घोर चारित्र को भी आचरण करे तो भी स्त्री के सर्व कर्म की निर्जरा नहीं कही गई है।

अंतिमतिगसहणणं णियमेण य कम्मभूमिमहिलाणं
आदिमतिग सहणणं णत्थिति जिणेहिं णिद्दिट्टं ॥

कर्मभूमि की स्त्रियों के अन्त के तीन संहनन नियम से होते हैं तथा आदि के तीन नहीं होते ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है अर्थात वज्रवृषभ नाराच संहनन स्त्रियो के नहीं होता जिसके द्वारा शुक्लध्यान होता है जिससे समस्त कर्म छूटकर मोक्ष होता है।

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥३१॥

वास्तव में उसी जन्म से स्त्रियो को मोक्ष नहीं देखी गई है इसलिये स्त्रियों का भेष आवरण सहित (साड़ी सहित) पृथक कहा गया है।

निग्रंथ साधु मोक्ष पद प्राप्त करता है सो कहते हैं।

यथाजातरूपमुत्पाटितकेशश्मश्रुकं।
रहितं हिंसादितो प्रतिकर्म भवति लिङ्गम् ॥५॥
मूर्छारम्भवियुक्त युक्तमुपयोगशुद्धिभ्याम्।
लिंगं न परापेक्षमपुनर्भवकारण जैनम् ॥

मुनि का द्रव्य या बाहरी चिन्ह जैसा परिग्रह रहित नग्न स्वरूप होता है वैसा होता है जिससे शिर और डाढ़ी के बालों का लोच किया जाता है, जो निर्मल और हिंसादि पापों से रहित तथा श्रृङ्गार रहित होता है अतः। परिग्रह सहित मुनि मोक्ष मार्ग में स्थित नहीं।

श्वेताम्बराम्नाय के शास्त्रों में भी नग्न मुनि को विशुद्ध जिन कल्पी लिखा है प्रवचनसारोद्धार के भाग तीसरा पृष्ठ १३४ में लिखा है—

पाउरण वज्जियाणं विसुद्धजिण कप्पियाणं तु ॥

श्वेताम्बर आचाराङ्ग सूत्र—

जेभिक्खू अचेले, जो साधु वस्त्ररहित दिगम्बर हो वह धन्य है। इसी सूत्र में यह भी कथन है कि महावीर स्वामी ने नग्न दीक्षा ली थी इन्द्र ने रत्न-कम्बल उनके कंधे पर रख दिया था वह भी १३ मास बाद न रहा और अंत तक पूर्ण नग्न रहे।

श्री सुदृष्टि तरङ्गिणीमें छः प्रकारका आहार लिखा है, कर्म आहार, नोकर्म आहार, ओजाहार, मानसिक आहार- लेपन आहार, कवलाहार।

केवली भगवान को नोकर्म आहार बताया है तथा मोहनीय कर्म नष्ट होने से वेदनीय कर्म केवली भगवान को क्षुधादि उत्पन्न नहीं कर सकता।

हस्ताक्षरः- समस्त पंचान।

—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

जावद ।

श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी साहब की तरफ से (१) स्त्री को मुक्ति हो सकती है। (२) वस्त्र सहित को मुक्ति हो सकती है ! (३) केवली भगवान कवला हार करते हैं, केवली को सुख दुःखादि भी होते हैं। आदि विषयक जो ट्रैक्ट छपा है वह दिगंबर मान्यता के बिलकुल प्रतिकूल है इसलिये हमको मान्य नहीं है कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय के मानने वाले श्री नेमिचन्द्र जी सिद्धांत चक्रवर्ती व शुभचन्द्राचार्य के कथन से भी निम्न प्रकार सिद्ध होता है।

१-स्त्री को मोक्ष नहीं हो सकता।

गोम्मटसार कर्मकांड गाथा नं० ३४ में कर्मभूमि वाली स्त्रियों के शरीर के संहनन निम्न प्रकार बन जाये हैं :—

अंतिमतियसंहणणस्सुदओ पुणकम्मभूमिमहिलाणं
आदिमतिगसंहणणं णत्थिति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥

इस तरह से कर्मभूमि वाली स्त्रियो के अन्त के तीन संहनन ही, होते है पहले का वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं होता और वज्रवृषभनाराचसंहनन के हुये बिना सातवीं नरक व मोक्ष दोनो ही नहीं हो सकते जैसा कि शास्त्रो के कथन से स्पष्ट है। इसी विषय को शुभचन्द्राचार्य विशेष स्पष्ट करते हैं —

स्त्रीणां निर्वाणसिद्धिः कथमपि न भवेत्सत्यशौर्याद्यभावात। मायाशौचप्रपंचान्मलभयकलुषाश्रीचजातेरशक्तेः॥ साधूनांनत्यभावात् प्रबलचरणताभावतः पुरुषतोन्य—भावाद्धिसाङ्कत्वात सकलविमल—सद्ध्यानहीनत्वतश्च॥

अर्थात्—स्त्रियो मे सत्य, शूरता आदि गुणों का अभाव होता है। मायाचार, अपवित्रता अधिकतर पाई जाती है। रज, मल, भय और कलुषता सदा रहती है। उत्कृष्ट चारित्र भी नहीं होता व सम्पूर्ण निर्मलज्ञान की हीनता होती है इत्यादि कारणों से स्त्री मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकती। इस तरह से द्रव्य स्त्री मोक्ष प्राप्त करने की अधिकारिणी कदापि नहीं हो सकती यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।

२-सवस्त्र को मुक्ति नहीं हो सकती।

मोक्ष के लिये संयम की पूर्ण आवश्यकता है और पूर्ण संयम का साधन साधु ही कर सकता है और साधु को परिग्रह त्याग अत्यन्त आवश्यक है। गृहस्थ अवस्था में आरम्भ परिग्रह के कारण हिंसादि पांचो पापों के पूरे विकल्पो का त्याग नहीं हो सकता है क्योंकि निश्चलता की बाधक परिग्रह की चिन्ता बनी रहती है। इस तरह से यह साबित हो जाता है कि साधु ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है और साधु के लिये अन्य परिग्रह की तरह वस्त्र परिग्रह का भी सर्वथा त्याग होना चाहिये।

अन्तरङ्ग परिग्रह घटाने में भी नग्न अवस्था ही मुख्य कारण है क्योकि बिना बाह्य परिग्रह के त्याग किये अन्तरङ्ग परिग्रह जो रागादिक हैं वे त्याग नहीं किये जा सकते और बिना परिग्रह (अन्तरङ्ग बाह्य) के त्याग किये संयम नहीं बन सकता और संयम धारण किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती।

अगर परिग्रह का त्याग किये बिना ही मोक्ष प्राप्त कर लिया जा सकता होता तो तीर्थङ्कर जो कि पुण्य की हद और चरमशरीरी होते हैं उन्हें वस्त्रादि त्याग करके जङ्गल क्यों जाना पड़ता कहा भी है :—

णवि सिज्झइवत्थधरो जिणसासणे जेधिहोइ तित्थ-
यरो। णग्गोहि मोक्खमग्गो सेसा अमग्गयासव्वे ॥

केवली के कवलाहार नहीं होता,
दुखादिका भी अनुभव नहीं होता।

आहार के विषय में आर्ष ग्रन्थो में निम्नलिखित विधान है—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारोय लेप्यगाहारो।
उज्झमणोवियकमसो आहारो छव्विओ णेयो ॥
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे।
कवलाहारो णर पसु उज्झो पक्खीय इगिलेऊ ॥

इस तरह से बिना कवलाहार के भी औदारिक शरीर की स्थिरता हो सकती है और केवली के तो परमौदारिक शरीर होने के कारण नोकर्म आहार ही होता है।

अगर कदाचित यह कहा जाय कि तत्वार्थ सूत्र-कार ने "एकादश जिने" यह कहा है, सो ठीक है क्योंकि ये वेदनीय के उदय से ११ परीषहें होती हैं, किन्तु मोहनीयकर्म के बिना वेदनीय क्षुधा के पैदा करने में असमर्थ है।

कहा भी है :—

घादिंव वेयणीयं मोहस्स बलेण वादरे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्मि पढिदं तु ॥

इस तरह नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने कर्मकांड गाथा नं० १८ में स्पष्ट कर दिया है कि मोहनीय के बिना वेदनीय आत्मा के अव्याबाध गुण को नहीं घात सकता जो कि वेदनीय का कार्य है। और केवली के मोहनीयकर्म का सर्वथा अभाव हो गया है। इस तरह से यह प्रामाणिक सिद्धांत मिलता है।

कहीं पर भी शास्त्रों में यह उल्लेख नहीं पाया जाता कि केवली ने अमुक के घर आहार किया। और न देवताओं के हाथ से ही लेना लिखा है।

इच्छा का होना मोहनीय कर्म का काम है सो अगर इच्छा न हो तो ग्रास किस प्रकार लिया जा सकता है व किस तरह चबाया जा सकता है।

एक सबसे जबरदस्त विरोध यह आता है कि अगर ग्रास उठाकर मुंह में रखा जाता है तो मुंह का खोलना, होंठ (ओठों) का हिलाना, दांतों से चबाना आदि सब कार्य करने पड़ते हैं जो कि केवली के इच्छा नष्ट हो जाने से होते नहीं।

सुख दुःख के अनुभव होनेके विषय में गोम्मट-सार कर्मकांड गाथा नं० १२७ में लिखा है—

णट्ठाय रायदोसा इंदियणाणं च केवलिस्स जदो।
तेण दु सातासातज सुहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥

इस तरह राग द्वेष तथा इंद्रियज्ञान के नष्ट हो जाने से वेदनीय के उदय से होने वाला इन्द्रिय जन्य सुख या दुःख नहीं होता। और भी आगे गाथा नं० २७४ व २७५ में भी यों लिखते हैं।

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥
एदेण कारणेणदु सादस्सेवहु णिरंतरो उदओ।
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि ॥

इस तरह से सदा साता वेदनीय का उदय बना रहने से क्षुधा आदि ग्यारह परीषह-जन्य दुःख नहीं हो सकता। इस प्रकार केवली भगवान के कवलाहार व सुखदुखादि अनुभव का पूर्ण विरोध हो जाता है।

मोहनीय का उदय जब तक रहता है तब तक जीव को इच्छा रहती है किन्तु मोहनीय के नाश हो जाने पर इच्छा का नाश हो जाता है और इच्छा का

नाश हो जाने पर कवलाहार नहीं बन सकता जैसा कि ऊपर लिखा गया है।

उपरोक्त कुल कारणों से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि स्त्री को मुक्ति नहीं हो सकती, वस्त्र सहित को मुक्ति नहीं हो सकती, केवली भगवान कवलाहार नहीं करते, इंद्रिय जनित सुख दुखादि का अनुभव भी उनको नहीं होता। अन्त में हमारी यह सम्मति है कि जब कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय के नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती व शुभचन्द्राचार्य व और भी कई आचार्य गण ऐसा लिख रहे हैं फिर समन्तभद्र सरीखे आचार्य दिगम्बर आम्नाय के सर्वथा विरुद्ध केवली के दुख लिख दें, ऐसा नहीं बन सकता यह सिर्फ भ्रम है।

—हस्ताक्षर समस्त दि० जैन पञ्चान।

श्री दिगम्बर जैन पञ्चायत

कौड़ियागञ्ज (अलीगढ़),

स्त्री को जैन धर्मानुसार अपने लिंग छेदन बिना मुक्ति सम्भव नहीं। दिगम्बर जैन धर्म में कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं है कि स्त्री अपना स्त्रीभव लेकर मोक्षगामिनी हो सके।

"सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्" अर्थात् हमेशा ही समान धर्म वाले भावों से समान धर्म वाले भावों की अभिवृद्धि होती है।

वस्त्रसहित मुक्ति भी असम्भव है।

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी 'बारस अणुवेक्खा' —(बारह अनुप्रेक्षा)— मे ८६वां श्लोक इस प्रकार लिखा है: —

प्राकृत—

सावयधम्मं चत्ता जदिधम्मे जोहु वट्टये जीवो।
सो ण य वज्जंदि मोक्खं धम्मं इदि चितए णिच्चं

संस्कृत—

श्रावकधर्मं त्यक्त्वा यतिधर्मे यः हि वर्तते जीवः।
स न च वर्जति मोक्षं धर्ममिति चिंतयेत नित्यम् ॥

अर्थात—श्रावक धर्म को त्याग कर जो मुनिधर्म का आचरण करता है वह मोक्ष नहीं छोड़ता।

मुनि धर्माचरण में नाग्न्य परीषह है। उसे पराभूत करना होता है। तब अवशता स्वयं प्रगट है। पुनः, 'शरीर ही अपना नहीं है, इससे मेरा किंचिन्मात्र ममत्व नहीं है, यह विनाशी है' भाव जब होता है तब वस्त्र का अभाव तो स्वयं सिद्ध है।

सब प्रकार के परिग्रहों से रहित होकर अकिंचन्य धर्म जब इतनी विशालता को पा गया है तब वस्त्र की स्थिति का होना कब सम्भव है।

सवस्त्र यदि मुक्ति हम मान लेते हैं, तो हमें मानना होगा कि सपरिग्रह भी मुक्ति है। किन्तु यह सिद्धांत विरुद्ध है। परिग्रह मे बंधन है, ममत्व है। और मोहनीय की स्थिति मे ही केवल्य की भी प्राप्ति नहीं, तब मुक्ति होना कहां सम्भव है?

केवली कवलाहार नहीं करते हैं और उन्हें सुख दुःख भी नहीं होता।

घाति और अघाति ८ कर्मों — ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र,

अन्तराय के क्षय करने के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कैवल्य प्राप्ति घातिया कर्म नाश करने के बाद हुई। कैवल्य प्राप्ति में वेदनीयकर्म का (साता वेदनीय असाता वेदनीय) पराभव हुआ। तब शक्ति रहित असाता वेदनीय केवली को क्षुधादिक वेदना कष्ट नहीं दे सकता। जैसे स्वयम्भूरमण समुद्र के समस्त जल को सरसों का अनन्तवां भाग प्रमाण विष की कणिका विषरूप करने में समर्थ नहीं, उसी प्रकार अनन्त गुण अनुभाग का धारक साता वेदनीय के उदय सहित केवली भगवान को असाता वेदनीयकर्म क्षुधादिक वेदना को उत्पन्न नहीं कर सकता है।

शङ्का होती है कि कवलाहार बिना केवली के औदारिक शरीर की स्थिति कैसे है? तो ठीक ऐसे जानना कि जैसे देवों की स्थिति कवलाहार बिना है। (सिर्फ उनके मानसिक आहार है) वैसे ही केवलियों का भी निरन्तर शुभ सूक्ष्म शरीर के बलाधान को ऐसा नोकर्म पुद्गलों का ग्रहण रूप आहार ही है। वह साधारण मनुष्यों जैसा आहारादिक की अपेक्षा नहीं रखते।

अन्य मनुष्यों की भांति केवलीजिन को वेदनीय के उदय के कारण कवलाहार होना मानों, तो सयोगी के द्रव्य मन के सद्भाव से मन का विकल्प भी मानों, और द्रव्येन्द्रिय की विद्यमानता के कारण इंद्रियजन्य ज्ञान भी मानो। जब शुक्ललेश्या विद्यमान है तब कषाय भी केवली के लिए मानने का प्रश्न आया। जिस मुनि के कायबल ऋद्धि है उसको ऐसा सामर्थ्य है कि वह त्रैलोक्य को चलायमान कर सकता है, तो केवलियों के सामर्थ्य की कौन कहे। अतः केवली में कषायादिक सद्भाव मानना बिल्कुल गलत है।

भोजन की इच्छा को बुभुक्षा कहते हैं। किन्तु केवली भगवान के मोहनीयकर्म के अभाव में भोजन की इच्छा कहां रही। यदि मोहनीय कर्म के अभाव में भी इच्छा मानो तो फिर स्त्री आदि भोगने का भी सद्भाव आया, तब वीतरागता कहां रही।

अतः सिद्ध होता है कि ध्यानाग्नि द्वारा दग्ध किये हैं घाति कर्म जिनने ऐसे, अनन्त दर्शन सुख वीर्य प्रगट हुआ है जिनमें ऐसे केवली अन्तराय कर्म के अत्यन्त अभाव में निरन्तर समय समय शुभसूक्ष्म पुद्गलों का संचय होनेसे औदारिक शरीर को बिना कवलाहार के ही धारण करते हैं और सुख दुःख भी अनुभव नहीं करते हैं, तथा अन्य शेष अघाति कर्मों को भी खपाकर निर्वाणपद प्राप्त करते हैं।

श्री हीरालाल जी को यह मार्ग अग्राह्य है। उन्हें चाहिये कि वास्तविक तथ्य को ग्रहण करें अपने भ्रम को निवारण करें। और स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य का धारा प्रवाह कथन जो मूलतः चला आ रहा है, उसे स्वीकार कर उसको ज्यों का त्यों प्रचारित करें।

—ह० समस्त पंचान, कौड़ियागंज।
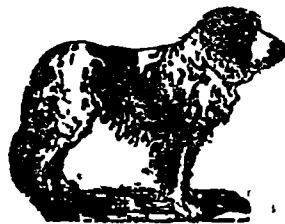
—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

रानापुर।

प्रोफेसर हीरालाल जी ने स्त्रीमुक्ति सवस्त्रमुक्ति केवली कवलाहार की मान्यता पर अपने युक्ति प्रमाणों द्वारा दि० जैनमत से भगवत कुन्दकुन्द जैसे सर्वोच्च आचार्य की विद्वत्ता पर आवरण डालकर मूल आम्नाय तथा आर्ष विरुद्ध भ्रांतिमूलक विचार प्रकट कर समस्त दि० जैन समाज में ऊहापोह उत्पन्न किया है हमारी समझ में ऐसी भ्रमोत्पादक विचार धारायें जैनधर्म की रक्षक और श्रेयस्कर नहीं होंगी प्रत्युत-विघातक सिद्ध होंगी और समाज में विद्वेषाग्नि प्रज्वलित करेंगी निश्चय ही किसी भी प्रकार के भ्रमोत्पादक विचारों से जैनधर्म का सामंजस्य कदापि नहीं हो सकता क्या स्वामी श्री वीरसेन ने षट्खण्डागम का मतलब नहीं समझा? जब आपने स्वयं कर्म सिद्धांत की मूल उत्पत्तिभूत षट्खण्डागम की रचना वीर नि० स० ६.४ में स्वामी भूतबलि पुष्पदंत द्वारा मूल सूत्र कर्म प्राभृत परिकर्म के आधार पर मानी है और उसी परिकर्म के रचयिता श्री कुन्दकुन्द को माना है। लेकिन आज दैवदुर्विपाक से परिकर्म सूत्र हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं है परन्तु उसकी सिद्धि षटखण्डागम के प्रथम भाग सत्प्ररूपणाधिकार की भूमिका से स्पष्ट है और जिसका अनेक स्थानों पर शङ्का समाधान द्वारा उल्लेख उपर्युक्त ग्रन्थ में किया है।

इसी भूमिका के पेज ४२ में धवला टीका के रचयिता वीरसेन स्वामी द्वारा ई० सन् ८१६ में पूर्ण होना मानते हैं। जिसको आपने ही सिद्ध किया है कि स्वामी कुन्दकुन्दने षटखण्डागम के ३ खण्डों के ऊपर परिकर्म नामक ग्रन्थ की रचना की थी इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि कुन्दकुन्द भूतबली पुष्पदन्त तीनों समकालीन थे और उनमें कोई मतभेद नहीं था।

सम्भवतः परिकर्म सूत्र में आचार्य श्री ने इन विवाद ग्रस्त विषयों का विवेचन किया हो क्योंकि उस समय द्वादशाङ्ग की परिपाटी धारा प्रवाहिरूपेण प्रचलित थी और स्वामी कुन्दकुन्द भी एक अङ्ग से कुछ कम के अभ्यासी थे उन्होने हम संसारी भव्य जीवों के कल्याणार्थ उक्त सूत्र की रचना की। यहां तक कि कुन्दकुन्द ने विदेह क्षेत्र में जाकर दिव्य-ध्वनि द्वारा वस्तु स्वरूप का अनुभव किया जो हमारे सामने मौजूद है ऐसे आचार्य भला वस्तु स्वरूप को अयथार्थ समझकर विपरीत प्ररूपण करें यह कैसे सम्भव हो सकता है क्योकि तदाम्नायी ग्रन्थों में स्त्री मुक्ति आदि विषयों का परिहार अवश्य पाया जाता है अतएव उनके ज्ञान में दोषारोपण करना उचित नहीं।

देखिये प्रोफेसर जी! षटखण्डागम प्रथम भाग सूत्र ९३।

"सम्मा मिच्छाइट्ठि असंजद सम्माइट्ठि संजदासंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।

इसकी व्याख्या में शङ्का का समाधान किया है।

ननु द्रव्यस्त्रीणां निवृत्तिः सिद्ध्येत इतिचेन्न सवासस्त्वात अप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः इति वचनात्।

अर्थात वस्त्र सहित होने से द्रव्य स्त्री को मुक्ति

नहीं होती सवस्त्र होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है संयम (महाव्रत) की उत्पत्ति नहीं हो सकती और बिना संयम के चारित्र की पूर्णता नहीं होती पूर्ण संयम नहीं होने से स्त्रियां श्रेणी का आरोहण नहीं कर सकती और तब शुक्लध्यान की तथात्मोपलब्धि नहीं हो पाती। जैसा पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मार्ग प्ररूपणा में कहा है 'द्रव्यवेद—स्त्रीणां तासां क्षायिकासम्भवात्' और भावसंयम भी नहीं होता क्योंकि भावसंयम का अविनाभावी वस्त्र का ग्रहण करना नहीं हो सकता तथा मनुष्य के समान मानुषी के मोक्ष साधक उत्तम संहनन भी नहीं होता अतएव स्त्रीमुक्ति किस प्रकार युक्तिसङ्गत हो सकती है ?

—केवली कवलाहार—

बिना कारण कार्य की उत्पत्ति नहीं होती पट्खंडागम भाग १ पृष्ठ ४३ की व्याख्या में लिखा है:-

"नहि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत" जब समस्त कर्मों का व्यापार मोहकर्म के आधीन है और मोहरूपी अरि के नष्ट हो जाने पर जन्म मरण की परम्परा रूप संसार के उत्पादन की सामर्थ्य शेष कर्मों में नहीं रहने से उन अवशिष्ट कर्मों का सत्व असत्व के समान ही रह जाता है। तब मोह कर्म के अभाव में उसका अविनाभावी वेदनीय कर्म कृत क्षुधादि वेदना का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता तथा केवली भगवान के लाभांतराय के नाश से कवलाहार का अभाव होकर उनमें उसका प्रतिपक्षी गुण (अतिशय) परम शुभ पुद्गल परमाणुओं का सम्बन्ध हो जाता है जिसको परमौदारिक नाम से प्रतिपादन करते हैं सातिशय प्रकट हो जाता है जैसे राजवार्तिक कार अकलङ्कदेव ने कहा है— 'अशेष लाभांतरायस्य निरासात परमशुभपुद्गलादान क्षायिकलाभः।-तस्मात्-औदारिक — शरीरस्य किञ्चिन्न्यूनपूर्वकोटिवर्ष— स्थितिः कवलाहारमन्तरेण सम्भवति' तथा 'एकादश जिने इति वचनात्' 'भगवति जिने घातिकर्मोदय— सहायाभावात् तत्सामर्थ्य—विरहात्' घातिकर्मो का क्षय होने से वेदनीय कर्मोदय जनित क्षुधादि वेदना का अभाव स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

तथा सवस्त्र मुक्तित्व की कल्पना तो दिगम्बर आम्नाय की सर्वथा घातक है क्योंकि वस्त्र सहित यानी परिग्रह सहित मोक्ष मानने में बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह का सद्भाव प्राप्त होता है जो आत्मा में विकार परिणति एवं राग द्वेष के उत्पादक हैं। भगवती आराधना में 'विकारो वस्त्रवेष्ठितः' यानी वस्त्रधारण से विकारभाव राग द्वेष मोह उत्पन्न होते हैं। बाह्य परिग्रह के त्याग बिना आभ्यंतर आत्मा कभी उज्वल नहीं हो सकती। उमास्वामी ने कहा है—

'बाह्याभ्यंतरोपध्योः' अर्थात मोक्ष मार्ग में दोनों ही प्रकार के परिग्रह के त्याग का विधान है और भगवती आराधना श्लोक २३

'रागो लोभो मोहो सण्णाओगार वाणिय उदिण्णा तो, तइया घेत्तुं जे गंथे बुद्धीणरो कुणई। देशामासिय सुत्तं आचेलक्कंति तखु ठिदि कप्पे, लुत्तोत्थ आदि शद्दो जहि ताल पलम्ब सुत्तम्मि ॥२३॥

अर्थात् आचाराङ्ग के स्थिति कल्प अधिकार में आचेलक्य पद है सो वह भी देशामापिक पद है मतलब यह है कि आचार्य पूर्ण ज्ञानी थे उन्होंने वस्तु स्वरूप को अच्छी तरह समझकर भव्य प्राणियों के हितार्थ ग्रन्थ रचना कर आर्ष वाक्यों का प्रतिपादन किया, वह सत्य है।

६० समरत पंचान राणापुर।

—श्री दिगम्बर जैन पञ्चायत—

धोद।

सादर जुहारु !

अत्र कुशलम् तत्रास्तु।

१—स्त्रीवेदी (द्रव्य स्त्रीवेदी) मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता भाव स्त्रीवेदी अवश्य मुक्ति पा सकता है यह भी नवम गुणस्थान से ऊंचा नहीं जा सकता। विशेष कर्म सम्पादन शक्ति तथा विशेष कर्म क्षय की शक्ति स्त्री मे नहीं है क्योंकि वह सप्तम नरक जाने के योग्य परिणाम भी नहीं बना सकती। स्त्री के सम्पूर्ण चारित्र प्राप्ति की योग्यता भी नहीं है क्योंकि उसके पंचम गुणस्थान ही रहता है। स्त्री का सर्व परिग्रह से मुक्त होना निर्विवाद असिद्ध है। बिना सर्व परिग्रह से छुटकारा पाये सम्पूर्ण चारित्र नहीं हो सकता तथा गुण श्रेणी भी नहीं चढ़ सकती और बिना गुण श्रेणी (क्षपक) चढ़े शुक्लध्यान भी नहीं बन सकता और बिना शुक्लध्यान के कोई भी जीव मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता तब स्त्री कैसे प्राप्ति कर सकती है अतः सिद्ध होता है कि स्त्री को मुक्ति कहना सर्वथा मिथ्या है।

२—परिग्रही को मुक्ति बतलाना वैसे ही असत्य है जैसा कि आकाश के फूल बतलाना है। जब परिग्रही सदा काल ही अपने परिग्रह से चिन्तातुर तथा आकुलित देखा जाता है तथा विचारा भी जाता है तो फिर उसे निराकुल मोक्ष बतलाना कैसे सम्भव हो सकता है। जैन धर्म में तो एक कोपीन मात्र धारक को भी दुखित बतलाया है। और उसकी श्रावक संज्ञा कही है अर्थात अणुव्रती ही बतलाया है तो वह मुक्ति योग्य महाव्रती हुये बिना कैसे मोक्ष पा सकता है। जब अणुव्रती के उत्कृष्ट धर्म ध्यान ही नहीं बन सकता तो फिर कर्म क्षय योग्य शुक्लध्यान तो वह बन ही कैसे सकता है जब उसके कर्म क्षय नहीं तो मुक्ति कैसी। अतः परिग्रह सहित मुक्ति बतलाना निरा भ्रम है।

३—केवली को कवलाहारी कहना किसी भी प्रकार युक्ति-सङ्गत नहीं है क्योंकि जब सामान्य जन की तरह केवली भी कवलाहार करेगा तो केवली मे ईश्वरपना कहां ठहरा वह तो सामान्य जन सारिखा ही ठहरा। प्राणी आहार तभी करता है जबकि वह क्षुधातुर होता है जब केवली क्षुधातुर हुआ तो उसके अनन्त सुख रूप कहां रहा। केवली के तो अनन्त चतुष्टयो मे एक अनन्त सुख का होना भी है यदि केवली आहार करे तो उसके अनन्त सुख का उसी क्षण अभाव होता है, सो हो नहीं सकता। दुख से दुखी केवल मोह से होता है, केवली ने तो मोह का नाश करके ही केवल पदवी पाई है फिर उसके क्षुधा का दुखित होना तथा उसके अभाव करने को कवलाहार करना कैसे सम्भव हो सकता है। बिना इच्छा के आहार भी नहीं कर सकता और उसे पवनादिक के द्वार निर्गलन भी नहीं कर सकता केवली भगवान के तो इच्छा का सर्वथा ही अभाव है फिर कवलाहारपना कैसे बने (तीव्र उदय में ही कवलाहार की प्रवृत्ति होती है) इनके तो अत्यन्त मंद उदय है और जो है वह व्यर्थ है अतः केवली कवलाहार नहीं लेते। यह बात तो ऐसे भी बनती है कि उनको निरन्तराय आहार कैसे हो सकता है उनके ज्ञान में तो

सर्व दोष प्रत्यक्ष दीखते हैं और बिना दोष के आहार सम्पन्न होना सम्भव नहीं फिर दोष पूर्ण आहार को केवली कैसे लें तब साबित हुआ कि केवली कवलाहारी नहीं होते।

केवलियों के सुख (इंद्रिय जनित) दुख होना कैसे बन सकता है। सुख दुख अज्ञानता से, मोह से, इच्छा से, भय से, वियोग से हुआ करते हैं केवली के तो इन सबका ही अभाव हो चुका सर्व वस्तु यथावत् भासने लग गई सर्व तरफ से इष्टानिष्ट कल्पना मिट गई तब कैसे सुख दुख हो सकता है सुख दुख तो मिथ्या कल्पना में है सो उनके तो केवलज्ञान में सब पदार्थ जैसे के तैसे दर्श चुके किसमें कल्पना करें अतः उनके सुख दुख बतलाना सर्वथा असत्य है। जिसको कुछ करना हो उसे ही सुख दुख होता है वह तो कृतकृत्य हो चुके, चार घातिया घात चुके तथा मोक्ष के संनिकट हो चुके फिर कैसे सुखी और दुखी हो सकते हैं।

यहां पर सांसारिक सुख से ही प्रयोजन है पारमार्थिक आत्मजन्य सुख से नहीं है। अतः सिद्ध हुवा कि श्रीमान प्रो० हीरालाल जी सा० का ट्रैक्ट मिथ्या है। उन्हें पण्डित जन समझाकर उनका मिथ्यापन मिटाने की कोशिश करें हमारी समझ में तथा देखने में तथा सुनने में जो आया लिखा है। पण्डित जन और सुधार लें। इतिशुभम्—

द० समस्त पञ्चान धोद।

—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

सुसनेर।

श्री दिगम्बर पंचायत भूलेश्वर बम्बई।

सादर जयजिनेन्द्र बञ्चना,

सेवा में सादर निवेदन है कि प्रोफेसर हीरालाल जी ने जो दिगम्बर जैनधर्म सिद्धांत के विपरीत बातें पेश की हैं श्वेताम्बर धर्म की प्रधानता बताते हुये भाषण दिया है वह हमारी पंचायत को मान्य नहीं हैं। कुन्दकुन्द आचार्य ऋषि प्रणीत जो धारा प्रवाह कथन चला आ रहा है वही मान्य है।

द० समस्त पंचान सुसनेर।

—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

हटा, (सागर)

१-स्त्री को मोक्ष कदापि नहीं हो सकती क्योंकि स्त्री के पंचम गुणस्थान सिवाय आगे गुणस्थान ही नहीं पहले तीन संहनन वज्रवृषभनाराच, वृषभनाराच नाराचसंहनन, कर्मभूमिज स्त्री के नहीं होते तथा अहमिन्द्रलोक नहीं जाती सातवें नरक में गमन नहीं फिर शक्ति के अभाव में स्त्री के मुक्ति कैसे कही जावे? अगर स्त्रियों को मुक्ति होती तो महासती राजुल सीता जी आदि घोर तपश्चरण करने पर

भी मोक्ष क्यों न पहुंचीं? तथा च महाव्रती मुनि वस्त्ररहित नग्न निर्ग्रंथ होते हैं, ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक ऐलक और क्षुल्लक होते हैं, वस्त्र रखना पराधीनता और चिन्ता का कारण है अनेक दोषो से सहित है। अतः वस्त्र सहित मोक्ष का मानना अयुक्त है वस्त्र सहित गृहस्थाश्रम ही है। तथा किसी प्रकार की इच्छा का होना मोहनीय कर्म का कार्य है मोह नष्ट हो जानेपर इच्छा का अभाव है फिर मोह रहित भगवान केवली को भोजन करने की इच्छा कैसे उत्पन्न हो? जहां भोजन की इच्छा हुई तो समस्त संसारी भोग उपभोग वस्तुओ के भोगने की इच्छा होनी चाहिये। आहार के करने से यदि केवली के शक्ति रहती है तो फिर उनके अनन्त बल कैसे रहा?

श्री आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य जी के वचन सत्य प्रमाण हैं वे अन्यथा नहीं हो सकते।

ह० समस्त पंचान हटा।

—श्री दिगम्बर जैन पञ्चायत—

पाली।

स्त्री को मुक्ति कदापि नहीं हो सकती है क्योंकि स्त्रियों के वस्त्र का त्याग न होने से पूर्ण रूप से महाव्रत नहीं हो सकते। बिना महाव्रत के मुक्ति नहीं हो सकती है क्योंकि जब तक वस्त्र है तब तक परिग्रह त्याग महाव्रत नहीं है और बिना महाव्रत के साक्षात् मुक्ति नहीं हो सकती है जिसके प्रमाण में निम्न लिखित श्लोक हैं।

कर्मभूद्रव्यनारीणां नाद्यं संहननत्रयम्।
वस्त्रादानाच्चरित्रं च तासां मुक्ति कथा वृथा ॥१॥

देशव्रतान्वितैस्तासामारोप्यंते बुधैस्ततः।
महाव्रतानि सज्जातिज्ञप्त्यर्थमुपचारतः ॥२॥

स्त्रीणां निर्वाणसिद्धिः कथमपि न भवेत्सत्यशौर्याद्यभावाद्, मायाशौचप्रपंचान्मलभयकलुषान्नीचजातेरशक्तेः। साधूनां नत्यभावात्प्रबलचरणताभावतः पुरुषतान्य —भावाद्धिसांगत्वात्सकलविमलसद्ध्यानहीनत्वतश्च ॥३॥

म्लाने क्षालयतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो।
व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ॥
कोपीनेपि हृते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते।
तन्नित्यं शुचिरागहृत्समवतां वस्त्रं ककुब्मंडलम् ॥४॥

(संशय वदन विदारण)

भगवान केवली कवलाहार भी नहीं करते हैं क्योंकि केवलीभगवान के इच्छा का अभाव है विना इच्छा के ग्रास उठाना, मुख मे देना, चबाना, निगलना, नहीं बन सकता तथा सर्वज्ञ होने से निरन्तराय आहार नहीं होसकता क्योकि भगवान के ज्ञान में तमाम पवित्र व अपवित्र पदार्थ झलकते हैं अतः अपवित्र पदार्थ के देखते जानते हुये निरन्तराय आहार नहीं बन सकता है। इत्यादि अनेक सुयुक्तियों से केवली भगवान के कवलाहार का निराकरण हो जाता है केवली भगवान के कवलाहार नहीं है बल्कि नोकर्म आहार है जिससे शरीर की स्थिति बनी रहती है। तद्यथा गाथा—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
उज्झमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो भणिओ ।
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे ।
कवलाहारो णरपसु उज्जो पक्खीय इगिलेपो ॥

तथा केवली भगवान के क्षुधा-जनित दुःख भी नहीं है । दुःख देने वाला वेदनीय कर्म का सद्भाव अवश्य है लेकिन मोहनीय कर्म की सहायता के बिना वेदनीय कर्म जली जेवरी के समान केवली भगवान को दुःख देने की शक्ति नहीं रखता है जैसे राजा के मर जाने पर फौज अकेली कुछ नहीं कर सकती वैसे ही मोहनीय कर्म रूपी राजा के नष्ट होने पर वेदनीय कर्म कुछ नहीं कर सकता है ।

अतएव प्रोफेसर हीरालाल जी ने जो दिगम्बर जैन धर्म सिद्धांत के विपरीत भाषण दिया है व श्वेताम्बर धर्म की प्रधानता बताते हुये कथन किया है । सो उनका भाषण तथा ट्रैक्ट हमारी पंचायतको मान्य नहीं है ।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ऋषि प्रणीत शुद्ध आम्नायानुसार धर्म सिद्धांत का कथन जो धारा प्रवाह चला आ रहा है वही वास्तविक और सत्य है वही हमारी सब पंचायत को मान्य है । जिसकी साक्षी स्वरूप हम सब पंचायत के हस्ताक्षर निम्नाङ्कित हैं । श्री कुन्दकुन्द आचार्य प्रणीत सत्यसिद्धांत की जय ।

द० समस्त पंचान पाली ।

—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

रतलाम ।

आज तारीख १०-६-४४ की रात को श्री रतलाम दिगंबर जैन नया मन्दिर जुना तोपखाना रतलाम में दिगंबर जेन समाज एकत्रित हुई और पास हुवा कि-

प्रोफेसर हीरालाल जी ने जो लिखा है कि :—(१) "केवली भगवान के कवल आहार होता है (२) स्त्री को मोक्ष होती है (३) वस्त्रसहित मोक्ष होती है" सो मान्य नहीं है क्योंकि केवली चार अनन्त चतुष्टय संयुक्त होते हैं । १-अनन्तज्ञान २-अनन्तदर्शन ३-अनंतसुख ४-अनंतवीय । तदनुसार अनंतसुखधारक केवली को भूख का दुःख क्यों होवे ? तथा आहार की इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है किन्तु मोहनीय कर्म का १२वें गुणस्थान में नाश हो जाता है एवं युगपत सर्व वस्तुओं को सर्वज्ञ स्पष्ट देखते हैं फिर उनके निरन्तराय आहार कैसे हो सकता है ।

स्त्री को पंचम गुणस्थान से आगे गुणस्थान नहीं है तथा वज्रवृषभ नाराच संहनन नहीं है, सम्यकदृष्टि जीव मर कर के स्त्री के पर्याय नहीं पाता और स्त्री छठे नरक से तथा १६ स्वर्ग से आगे नहीं जाती जब कि पुरुष सातवें नरक तक तथा सर्वार्थसिद्धि तक जाता है इससे सिद्ध होता है कि स्त्री पुरुष के बराबर पाप और पुण्य नहीं कर सकती तो वह मोक्ष कैसे जा सकती है स्त्री को क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो सकता श्वेताम्बरों ने भी माना है कि स्त्री के मन पर्ययज्ञान नहीं होता, स्त्री गणधर, आचार्य, उपाध्याय आदि पद भी धारण नहीं कर सकती, शलाका पद, चक्री, नारायण, तीर्थङ्कर आदि पदवी धारण नहीं कर सकती फिर वह केवलज्ञान और मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकती है । साध्वी चौरासी लक्ष पूर्व वर्ष

की दीक्षित हो तब भी तत्काल के दीक्षित साधु को जन्म भर नमस्कार करती रहेगी क्योंकि नमस्कार चमत्कार को है (धन्य है इस नग्न मुद्रा को) नग्न मुद्रा से मुक्ति मिलती है ऐसी दशा में स्त्री पर्याय से कदापि मोक्ष नहीं हो सकती।

अन्तरङ्ग व बाह्य परिग्रह के त्याग किये बिना मुक्ति नहीं और वस्त्रत्याग शक्यानुष्ठान है वस्त्र छोड़े जा सकते हैं। ऐसी हालत में वस्त्र सहित मोक्ष कैसे हो सकता है। हालांकि शरीर भी बाह्य परिग्रह है किंतु शरीर को छोड़ना अशक्य है मगर वस्त्र छोड़ना आसान है और उसे कायम रखते हुवे पांचों इंद्रियो से विजय प्राप्त किये बिना मुक्ति नहीं मिल सकती।

ह० समस्त पंचान रतलाम।

—श्री दिगम्बर जैन पञ्चायत—

खांदू (बांसवाड़ा)

प्रोफेसर साहब हीरालाल द्वारा कथित तर्कों पर विचार।

स्त्रीमुक्ति के सम्बन्ध में प्रोफेसर हीरालाल सा० ने आगम प्रमाण की समीक्षा करते हुये जो तर्क किये हैं वे युक्ति और आगम से विरुद्ध हैं।

श्री मुनि सुव्रतनाथ तीर्थङ्कर के समय में सीता ने दीक्षित होकर तपस्या के बल से इसी भव में स्त्री लिङ्ग छेदा और सोलहवें स्वर्ग में देव हुई और राजमती भी स्त्री लिङ्ग छेदकर देव हुई बाद में पुनर्जन्म लेकर पुरुष होकर मोक्ष जावेंगे ऐसे कई उदाहरण जैन ग्रन्थो मे मिलते हैं। पर "स्त्रियों को मुक्ति हुई" ऐसा उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता है।

चूंकि स्त्री द्रव्यवेद को छठा गुणस्थान ही नहीं होता है और न वज्रवृषभ नाराचसंहनन होता है यह उत्तम संहनन पुरुषवर्गों को ही होता है इस उत्तम संहनन वाला ही शुक्लध्यान व मोक्ष का पात्र होता है। उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है कि— "उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमांतर्मुहूर्तात्" यानी उत्तम संहनन वाला ही उत्तम ध्यानी होता है और उत्तम ध्यानी ही मोक्ष का पात्र है अतः हीन संहनन वाली स्त्री को मुक्ति मानना आगम के विरुद्ध है।

स्त्रीवेद अशुभ नाम कर्म है जिसे मोक्ष जाने वाले जीव उपर्युक्त उदाहरणों के अनुसार अगले ही भव में निर्जीर्ण कर देता है।

प्रमेयकमल मार्तण्ड में पेज नं० ३३१ में बताया है कि स्त्री वस्त्रत्याग नहीं कर सकती अतः द्रव्य स्त्री को महाव्रत नहीं बन सकते और महाव्रत बिना मोक्ष नहीं होती इससे सिद्ध है कि द्रव्य स्त्री वेदी मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हो सकती।

—वस्त्र सहित मुक्ति पर विचार—

यह भी असङ्गत है चूंकि सिर्फ लङ्गोट मात्र रखने वाला उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। अतः साधु मार्ग नग्नत्व लिये हुये ही है चूंकि मूलगुणों मे वस्त्र त्याग व पंच महाव्रत में परिग्रह त्याग महाव्रत बतलाया गया है यथाजात लिङ्ग बिना साधु पद नहीं

और साधु बिना मुक्ति नहीं। श्री भरत चक्रवर्ती को वस्त्र त्याग पूर्वक दीक्षित होते ही केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी उसके पहले परिणामों की विशुद्धता अवश्य थी किन्तु बिना यथाजात लिंग के केवलज्ञान व मुक्ति होना असम्भव होने के कारण केवलोत्पत्ति गृहस्थावस्था में नहीं हुई।

कहा है कि—

फांस तनिक सी तन में साले।
चाह लङ्गोटी की दुख भाले॥

भगवान महावीर ने दिव्य ध्वनि में १० धर्म उत्तम क्षमादि बताये है उसमें भी आकिंचन (परिग्रह का सर्वथा त्याग) बतलाया गया है।

भगवती आराधना में शिवकोटि आचार्य ने मुनि को तिल तुष मात्र परिग्रह रखना निगोद का पात्र बताया है। इससे सिद्ध है कि वस्त्र सहित मुक्ति नहीं हो सकती।

एक बात यह है कि तीर्थङ्कर भगवान को जन्म कल्याण के समय पाण्डुक शिला पर अभिषेक कराकर इन्द्र वस्त्राभूषणों से भूषित करता है मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा से वही तीर्थङ्कर तप साधनार्थ वन को प्रस्थान करते हैं उस समय तमाम वस्त्राभूषणों का त्याग कर आत्म कल्याण करने में संलग्न हो जाते हैं। तीर्थङ्करों को असाधारण पुण्योदय से प्राप्त हुये देवों के वस्त्रों का त्याग कर शीतोष्ण की बाधायें सहन करने की क्या आवश्यकता थी क्योंकि आप और हम अल्पज्ञानी हैं परन्तु तीर्थङ्कर महाराज तो मति, श्रुति, अवधिज्ञानी थे इससे निर्विवाद सिद्ध है कि वस्त्र सहित हरगिज मुक्ति नहीं होती।

प्राचीन आर्ष प्राकृत गाथायें इस प्रकार है—

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिङ्गस्स।
सो गहियो जीववयेण परिग्गहरहिओ णिरायारो॥
पंच महव्वय जुत्तोतिहि गुत्तिहि जोसु संजुदो होई।
निग्गंथ मोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य॥
णवि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासण जइवि होदितित्थयरो। णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उमग्गया सव्वे॥

केवली कवलाहार करते हैं और उन्हें सुख दुख होते हैं यह भी असङ्गत है चूंकि आहार ही ६ प्रकार के हैं जिनमें से मानसिक आहार देव करते हैं कवल आहार सामान्य मनुष्य तिर्यंच करते हैं और नोकर्म आहार केवली भगवान। वे अघातिया कर्म सत्ता में अवशेष रहनेके कारण नोकर्म वर्गणा को ग्रहण करते हैं। प्रथम दो आहार इच्छा पूर्वक होते हैं। केवली के समस्त इच्छाओं का अभाव हो जाता है उनका गमन व दिव्य ध्वनि निरिच्छा से होती है। अतः वे भोजन नहीं कर सकते।

तथा दुख का तो केवली के सर्वथा अभाव ही है क्योंकि अशुभकर्म असाता वेदनीय निःसत्व हो चुका है। और साता वेदनीय का सद्भाव होने पर भी कर्म जनित सुख का भी अनुभव नहीं करना पड़ता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रचारित मार्ग ही सत्यार्थ है यही वास्तविक वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला है। ऐसे विद्वानों को ऐसी धर्म विरुद्ध शङ्कायें उठाकर भोली समाज को भ्रम में डालना उचित नहीं क्योंकि आपका व हमारा ज्ञान सिर्फ पुस्तकज्ञान व मन्दज्ञान है। हम कट्टर दिगम्बर जैन धर्मानुयायी होकर विपरीत शङ्कायें उठाकर धर्म पर आघात पहुंचावें तो अन्य लोगों का क्या कहना।

ह० समस्त पंचान खांदू, बांसवाड़ा।

—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

रीढ़।

प्रोफेसर हीरालाल जी ने तीन बातों पर (यानी स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहार और सवस्त्र साधुचर्या) भाषण देकर एक लेख निकाला है। वह बिल्कुल निर्मूल है क्योंकि जितने भी शास्त्रों का आज तक हमने स्वाध्याय किया उनमें इन तीनों बातों के खंडन के सिवाय मण्डन कहीं पर भी न देखा और न सुना इससे यह बात मालूम होती है कि प्रोफेसर सा० ने ग्रन्थों की प्रकाशकी ही की है स्वाध्याय व मनन नहीं किया है। अगर करते तो ऐसी बातो पर शङ्का न उठाते इन बातों का समाधान आगे कई बार समाज में आया है शायद वह बाते प्रोफेसर जी भूल गये होंगे। प्रोफेसर जी यदि श्वेताम्बर समाज के मान्य ग्रन्थ देखें जिनमें स्त्रियों को अर्हंत, चक्री, गणधर, नारायण, मनपर्ययज्ञान, चौदह पूर्वों का ज्ञान आदि होने का निषेध किया है; 'पाणिपात्र नग्न जिनकल्पी साधु को सर्वोत्तम साधु माना है, वस्त्र रखने में चिन्ता, याचना, धोने आदि के मानसिक क्लेश बतलाये हैं, मोहनीय कर्म के अभाव में शेष कर्म निःसत्व हो जाते हैं।' आदि स्पष्ट विधान पाया जाता है। प्रोफेसर जी विचार करें कि क्या इन विधानों से स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र साधु चर्या और केवली कवलाहार का डंके की चोट पर खण्डन नहीं होता? जो बात आपको श्वेताम्बरी विद्वानोको समझानी थी सो तो समझाई नहीं और जो समझे हुये हैं उन्हें बालो से तेल निकालने जैसी बात समझाने आये हैं।

द० समस्त पंचान रीढ़।

—श्री दिगम्बर जैन पंचायत—

नादगांव।

* हमारी सम्मति *

दिगम्बर जैन आगम मे कहीं भी स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति तथा केवली के कवलाहारादिक का विधान नहीं है। यह बात दिगम्बर जैन धर्मानुयायी प्रत्येक व्यक्ति जानता है किन्तु प्रोफे० हीरालाल जी ने इन तीनों ही बातों का दिगम्बर जैन धर्मानुकूल बतलाया है। दूसरा कोई अन्य धर्मी इस बातको कहे तो क्षम्य हो सकता है, किन्तु मुख्यतया धवलादि सिद्धांत ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य जिनके हाथ में दिया गया है ऐसे व्यक्ति का शास्त्र विरुद्ध इस प्रकार कथन करना दिगम्बर जैन आगम का घोर अवर्णवाद एवं धार्मिक जैन समाज के श्रद्धान पर कुठाराघात करने वाला है। अतएव यह पंचायत इसका घोर विरोध करती है, और प्रस्ताव करती है कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्रों को अमान्य बतलाने वाले ऐसे व्यक्ति के कथन का तीव्र विरोध किया जाए।

निवेदक—
श्री खण्डेलवाल दि० जैन पंचायत,
नादगांव।

—श्री दिगम्बर जैन पञ्चायत—

नगीना, माड़िखेड़ा।

प्रोफेसर हीरालाल जी की तीनों बातें असत्य हैं।

(१) स्त्री सर्व परिग्रह छोड़कर नग्नरूपमें तप नहीं कर सकती, न उसके पहला संहनन होता है। अतः मुक्त होने योग्य न उसके यथाख्यात चारित्र हो सकता है और न शुक्लध्यान। अतः स्त्री मुक्ति इसी भव में नहीं पा सकती।

(२) वस्त्र अन्य पदार्थों के समान शरीरको सुखदायक परिग्रह है। इनके मांगने रखने, धोने सुखाने, फटने, जोड़ने, सीने आदि में चिंता, व्याकुलता, हर्ष, दुःख आदि क्षोभ होता है। अतः इसको पूर्णतया त्याग किये बिना परिग्रहत्याग महाव्रत नहीं हो सकता अतः साधु वस्त्र रहित नग्न होना चाहिये।

(३) केवलज्ञानी के असाता वेदनीय की उदीरणा नहीं अतः उन्हें भूख नहीं लग सकती, न उनके मोहनीय कर्म है जिससे उन्हें भोजन करने की इच्छा हो। उनके अनन्तबल तथा अनन्तलाभ है इसलिये वे भोजन न करते हुये भी निर्बल नहीं हो सकते। उनके अनन्त सुख प्रगट हो चुका है अतः उन्हें भूख प्यास आदि की रंचमात्र भी बाधा नहीं हो सकती फिर वे भोजन क्यों करें?

प्रोफेसर हीरालाल जी ने आप्तमीमांसा के श्लोक का अर्थ उल्टा समझा है।

द० समस्त पञ्चान नगीना।

—श्री दिगम्बर जैन पञ्चायत—

बूड़िया।

स्त्री में लज्जा नग्नता परीषह जीतने की शक्ति नहीं और न उसके पहिले तीन संहनन होते हैं इसलिये उसके पांचवां ही गुणस्थान है। श्रेणी चढ़ने के भाव या सातवां गुणस्थान नहीं है और क्षपक श्रेणी मे नहीं चढ़ती, न चार घातियाकर्मों का और न अघातिया कर्मों का नाश कर सकती है फिर स्त्री को कैसे मोक्ष हो सकती है?

परिग्रह धारण किये शुक्लध्यान नहीं होता धर्म ध्यान होता है इस कारण से ही स्त्री स्वर्ग को जाती है अहमिन्द्रों मे भी नहीं जन्म लेती।

कहा है कि जरा सी फांस लगने से शरीर व्याकुल रहता है उसी तरह एक लङ्गोटी की चाह दुख देने वाली है। स्त्री परिग्रह सहित है इसलिये स्त्री के मोक्ष नहीं होती है।

आसापिशाच गहियं जीवो पावहि दारुणं दुखं।

अर्थः – जिस जीव को आशा रूपी पिशाच ने ग्रहण कर लिया है वह जीव दारुण दुख को भोगता है इसलिये ही जब स्त्री के वस्त्र की चाहना है साड़ी कपड़ा धारण किये हुये हैं तो इसी कारण उसको मोक्ष का होना असम्भव है परिग्रह-धारी को किसी तरह मोक्ष नहीं।

निरारम्भोऽपरिग्रहः।

आरम्भ रहित वा परिग्रह रहित हो वही साधु नन्दनीक है और मोक्ष में जाने वाला है। केवली भगवान के अनन्त सुख व अनन्त वीर्य होता है इस लिये भगवान कवलाहार नहीं लेते। कवलाहार की इच्छा मोहनीय कर्म नष्ट होने से नहीं होती अतएव कवलाहार नहीं लेते। भगवान केवली हैं शुद्ध अथवा अशुद्ध सब ही पदार्थों को प्रत्यक्ष देखते हैं तो अशन पान कवलाहार अन्तराय सहित भोजन कैसे करें। जब श्रावक मुनि भी मांसादिक, जीवों का कलेवर देख भोजन का त्याग कर देते हैं फिर केवली भगवान अन्तराय के समस्त कारणों को स्पष्ट देखते हुये किस तरह भोजन कर सकते हैं? जब भोजन के आधीन शरीर की स्थिति रही तो अनन्त चतुष्टय न रहा अनन्त सुख व अनन्त वीर्य न रहने से अरहंत भगवान कैसे हों।

आप यदि यह कहें कि असाता वेदनीय कर्म उनके मौजूद है इसलिये भोजन करते हैं। सो यह भी ठीक नहीं क्योंकि पूर्व बद्ध असाता वेदनीय का अनुभाग असख्यात बार अनन्त गुणा रस घट कर अतिमद रह जाता है और नवीन साता का बन्ध होता है, असाता का नहीं होता। केवली भगवान के साता कर्म बधता है सो भी एक समय की स्थितिरूप बधता है सो उदय रूप ही होता है अतः असाता का उदय भी सातारूप परिणत हो जाता है। इस तरह अमृत के समुद्र में एक विष की बूंद जैसी असाता समर्थ नहीं। अतएव भगवान को भोजन की इच्छा तथा क्षुधा की वेदना नहीं होती और भगवान सांसारिक सुख दुखादि से रहित रहते हैं।

ह० समस्त पंचान बूढ़िया।

——श्री दिगम्बर जैन पञ्चायत——

मेंढ़, (अलीगढ़)।

प्रोफेसर हीरालाल जी के सिद्धांत गलत हैं—

१—स्त्रियोंके पहला सहनन न होने के कारण जब १६वें स्वर्ग से ऊपर न जाने योग्य ध्यान और तप नहीं तब मोक्ष किस प्रकार हो सकती है। वह परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं कर सकती इसलिये उसके सकल संयम नहीं होता।

२- सिर्फ एक लङ्गोटी पहनने वाला भी ऐलक नामका ग्यारहवीं प्रतिमाधारक श्रावक होता है, कपड़े मांगने, पसीना लगने, मैला होने, जूं पड़ने, धोने, सुखाने, खोने, फटने, सीने, चुराये जाने आदि में मनुष्य के परिणामों मे दीनता, ग्लानि, हिंसा, असंयम, क्षोभ आदि भाव होते हैं। ऐसे व्यक्ति के न महाव्रत हो सकते हैं और न निश्चलध्यान। इसलिये साधु नग्न दिगम्बर ही हो सकता है।

३—केवलज्ञानी कृतकृत्य, अनन्तसुखी होते हैं उन को कोई इच्छा और कोई रचमात्र दुख नहीं होता है। वेदनीयकर्म जली हुई रस्सी की तरह हो जाता है। पहले असाता वेदनीय का अनुभाग क्षीण हो जाता है वह भी सातारूप में होकर उदय आता है इसलिये केवली भगवान को भूख तथा वेदना नहीं होती।

ह॰ प्रसादीलाल रि० स्टेशनमास्टर आदि पंचान।

---

* शेषपंचायतों की नामावली *

—पिछले लिखित लेखों के सिवाय निम्नलिखित लगभग ५५० पञ्चायतों ने—
प्रोफे० हीरालाल जी के ट्रैक्ट के विरुद्ध अपनी सम्मतियां
पत्र द्वारा भेजी हैं।

—*—

खामखाम मथुरा बनारस अवागढ़ ईडर इलाहाबाद जोधपुर जामनेर बेंगलौर भजनेरी रामपुर मकराना शाहगा लखनौ पचेवर पछार देहरादून धनौरा जसवंतनगर बमरौली अङ्कलेश्वर रामपुर सिकोहाबाद हिसार महरौनी येनापुर कासगञ्ज कटनी खुरई गढ़ी रामाजी गुड़गांवा सारङ्गपुर मुंगेर बीना भिण्ड आलन्द कानपुर औरङ्गाबाद उज्जैन जगाधरी जाखलौन बजरङ्गगढ़ भरतपुर रामनलाई मदनगंज शाहपुर ललीपुर प्रतापगढ़ पनागर धरयावाद नानेपूते गलतरा रतलाम रतनगढ़ रामगढ़ शोपुर हासन मांगरोल येवतमहल कायमगंज खैरगढ़ खुरजा गुना गुलबर्गा गोदेगांव हुबली मूंडबद्री कैराना सहारनपुर कामा कोसी खतौली छिंदवाड़ा छपरा वड़याल भावनगर राजपुर मन्सूरी शाहबाद लातूर पपोरा परनापुर नागौर पाली ओरछा नगीना रामपुर रामनगर हांसी हिम्मतपुर मानवस करहल कारञ्जा खाचरोद समसाबाद सारधना सरवाड़ हैदराबाद जैनबद्री अजयगढ़ आतरौली कुरुवाड़ उडेसर उ गांव जौनपुर जावद बडवानी भीलवाड़ा राजमहल मऊ की छावनी शाला लालगढ़ परभिडी पलवल फतेहपुर कोपरगांव गिरनार धुलया राजपुर राजनादगांव सतना हिङ्गनघाट मालेगांव केकड़ी कासीपुर सलावा रावलपिण्डी सामली मिरजापुर हटा अकोला आरा गोरखपुर चांपानेर चावली चिरौली जालना बड़नगर भुसावल राजलू मलकापुर सुजानगढ़ लाहौर पाचवा पानीपत बिजावा कोटा अमरवासी गोविंदगढ़ राजाखेड़ा रानीपुर सतारा हुगली मालथौन करौली कुड़ची खांदू सहपऊ रिड़ साहपुर मिरज हरदा जमालपुर जलेसर जलगांव जटौआ चोकू चन्देरी चन्दोसी जारखी बड़ौत भोपाल राजावास मुहम्मदाबाद शेरगढ़ लुहारी पटना पाटन थांदला कुम्भोज गङ्गापुर अङ्कली रायपुर रायचूर सनवाद हुशङ्गाबाद मीड़ा कलकत्ता कून खातेगांव सांगानेर सांगली सांपला मुक्तसर हिण्डौन बसाना टीकमगढ़ रीमा मुलताई सिकन्दरपुर रूपाड़ी मैनसर बैनूर फरीदाबाद कोडयागंज मैनपुरी देवगढ़ देवबन्द बरेली बनेडिया पेंडापुर सुलतानपुर नांदेर बड़ागांव बारामती सखावतपुर मन्दारगिर मोमनाबाद सिहोर छावनी वाशिम बीकानेर विजयगढ़ विजयपुर बिजौल्या उदयपुर बुलन्दशहर गाजियाबाद जेठाना फतेपुर (सीकर) डिग्गी रूपा सासनी हकेरी रोसनाबाद मोहब्बतपुर बैतूल फाजलका किसनगढ़ महरूकला दौलतपुर नरसिंघगढ़ बरहन पाली मुलताई

हस्थिनापुर नामा बाडी हिम्मतपुर मन्दसौर मेहरू सिवनी सुनपत विनोली वीरपुर विरनाल जामनेर जबलपुर जावद जखौरा जयपर चाकरोद छतरपुर उसरासर मुजफ्फरनगर रैनी सोनी हुथरी भोज बेजाई फफोंद फिरोजपुर केशली दहीगांव धामपुर नसीराबाद बलदेवगढ़ पालम सिकन्दरा मोजमाबाद नाराट बांदीकुई सुल्तानपुर भिडाना मेलाखेड़ा सिरोंज धाडोदिया बिलहरा चित्तौरगढ़ छतरपुर चिरगांव सागर सोलापुर सांभरलेक सारङ्गपुर सुजानगढ़ घांटोल जबलपुर मेंहू रैन जहेर मुरार बिलासपुर फलौदी बिलसी फुलेरा करावरा दुमदुमा धारवाड़ नयावास वृन्दावन पिपरई मुवः सिलवानी नारायनगढ़ बादशाहपुर हिम्मतगढ़ भिलडी मोड़ी-सिरसागंज शाली सीकर सावलोंदा शेड़वाल झांसी झाबुआ फिरोजाबाद राजमल राजा का ताल रीवां सूरत रानया रैपुरा मुर्शिदाबाद मैनपुर बहराम घाट फलटन बांसवाड़ा बीना ककरवाहा दुधनी नजीबाबाद बहादरपुर बहराइच पुलगांव सिलोवा वेदपुर बागपत बावनगजा सुलतानगञ्ज भादवा मोहबतपुर सालिगराम शिव राजमहेल रानापुर रूपाहड़ी रामगढ़ रामपुर राडौली रिवाड़ी गिरीठी गनेसपुर सिकन्द्राबाद रानौली मुरारिया मुरतिजापुर बोरसद झालरापाटन फरुखनगर बागपत बछौड़ा कारजा देवरी नजफगढ़ वरधा बड़नेरा पाचोरा सोजना बरेछा बाजनी बामोरी सनारा मूहगांव मोहमदी सनरामपुर ग्वालियर गोनरेका गुना गोदेगांव पूना पनागर पिण्डरूवा पौठ परतापगढ़ परतापुर पण्डरेदा पासोला परेनापुर परसौन पांचना बरदा मेरठ मैनपुरी मोरेना भीलोड़ा सरधना सहादरा सीतापुर हजारीबाग सिकन्द्राबैपुर लोहारदा आगरा ओनरी औरङ्गाबाद निमोला धरयाबाद अजना तालबरमा तलवाड़ा ठाकरड़ा तिस्सा वेलगांव मड़ा मङ्गलपावास मोडनिव भैरूपुरा मरसावा मन्दोर सीलौर हीरापुर सुजानगढ़ लक्ष्मनगढ़ ओरछा ईसरी नरसिङ्गपुर निमोड़ा देवगढ़ मुजफ्फरनगर चूरू करवर कोट कुचामन बड़नेरा मऊछोटी मालेगांव मुरादाबाद भैंसदेठी सारोला सोजना सवाई माधोपुर हुरी ललितपुर इन्दौर ऐतमादपुर अजमेर नरयाली नलखेड़ा दवेल निवहेड़ा कोट रावदा कासीपुर कुरावली कोल्हापुर ब्यावर मुलतान डेरागाजीखां मनिहारान भानपुरा मेतना सतगुवा सागवाड़ा सेवा हाथरस लुडावां अवागढ अरन्था अमरमौ नरखी निर्माशरगांव डूंगरपुर पिपरई कोलारस बीछीपाडा बूंदी बबीना मखा महाराजपुर मोड़ी भैंसलाना भादुआ सांभर शाहपुरास्टेट सुसनेर हापुड़ लसकर पेटा अलीगंज अम्बाह नपान्य दाहौद डाभी बुढ़िया त्रिसाऊ बबीना बामोरा मवाना मालवा मींडा भूपाल भिवानी सौनागिर सालाथोड़ सुसारी अलीगढ़ लाडनू इटावा औवरी अथणी नासिक दिगौड़ा देनाऊ कोटा मागरोल हाडोव बारा खानपुर मडाना माडलया देई अलौद नोगाव पाटनकेशोराय झालावाड़ चचेर हावनीमंडी रामगंज भवानीमंडी साङ्गोद ऊदरगढ़ कशवाद बुलोथ खेड़ा रसूलपुर सीसवाली धीपावडोद कापरेन।

उपर्युक्त पञ्चायतों को धन्यवाद है।

भवदीयः— निरञ्जनलाल जैन, बम्बई।

* परिशिष्ट *

निम्नलिखित तीन लेख प्रमादवश यथास्थान प्रकाशित नहीं हो सके अतः उनको यहाँ पर प्रकाशित किया जाता है।

श्री १०८ पूज्य मुनिवर
श्री सुमतिसागर जी महाराज,
— का —
❋ अभिमत ❋

स्त्रियों की शरीरिक रचना स्वभावतः ऐसी है कि वह लज्जा परीषह जीत कर परिग्रह का पूर्ण परित्याग करके नग्न नहीं हो सकती। उनमें पुरुष-तुल्य महती शक्ति का अभाव होने से स्त्रियां उग्र कठिन तपश्चर्या नहीं कर सकतीं। उनके अनेक अङ्गोपाङ्ग जीवराशि के उत्पत्ति होने से, मासिकस्राव होने से वस्त्रपरिधान होनेसे उनके पूर्ण संयम नहीं हो सकता इसी कारण दिगम्बरीय तथा श्वेताम्बरीय कर्म ग्रन्थों में स्वर्गों से ऊपर अहमिन्द्र विमानों में स्त्री जाति के पहुंचने का निषेध है। श्वेतांबर ग्रन्थानुसार स्त्री को १४ पूर्वों का भी ज्ञान नहीं होता। फिर उसे केवलज्ञान और मुक्ति किस प्रकार हो सकती है। मोक्ष प्राभृत में इसका स्पष्ट विवेचन है।

"यदि साधु वस्त्र परिधान करते भी परिग्रह त्याग महाव्रती हो सकते तो वस्त्रों को १० प्रकार के परिग्रहों में दिगम्बर श्वेताम्बर ग्रन्थों में क्यों लिखा? यदि महाव्रती साधु वस्त्र पहने मुक्त हो जाते तो तीर्थङ्कर दिगम्बर, श्वेताम्बर मान्यतानुसार वस्त्र त्याग कर साधुचर्या क्यों ग्रहण करते? श्वेताम्बर सिद्धांतानुसार सर्वोत्कृष्ट साधु (जिनकल्पी) नग्न पाणिपात्र ही होते हैं।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवलज्ञानी के असाता वेदनीय की उदीरणा नहीं होती बिना उस उदीरणा के

भूख नहीं लग सकती। मोहनीय कर्म का निर्मूल नाश हो जाने से खानपान की अभिलाषा अर्हन्त भगवान के हो नहीं सकती। अनन्तसौख्य के स्वामी को किसी भी तरह की रंचमात्र वेदना कदापि नहीं हो सकती। फिर वे दुख का अनुभव क्यों करें और बुभुक्षा क्यो उनको व्याकुल करे?

श्रीमान् सेठ तनसुखलाल जी काला,

मुंबई।

[मन्त्री:—श्री० गो० दि० जैन सिद्धांत विद्यालय मोरेना]

स्त्री मुक्ति, सवस्त्र मुक्ति तथा केवलियों के कवलाहार मानना दि० जैन आगम के सर्वथा विरुद्ध है।

धवलादि सिद्धांत ग्रन्थों के अध्ययन करने के अधिकारी गृहस्थ नहीं हैं यह बात माननीय न्याया लङ्कार श्री० पं० मक्खनलाल जी शास्त्री अपने गत ट्रैक्ट तथा लेखों द्वारा अच्छी तरह प्रगट कर चुके हैं। कई प्रमाण एवं शास्त्रीय आधार देकर उन्हों ने इस बात की पुष्टि की है। किन्तु उक्त ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये धनिक दातारों ने सहायता दी इसलिये उसका प्रकाशन कार्य शुरू हो गया और उसके कितने ही खण्ड अनुवादित होकर निकल चुके, और सभी को उसका मिलना सुलभ हो गया। एकबार ग्रन्थ मुद्रित हुवा कि फिर उसका प्रचार रुक नहीं सकता। तदनुसार गृहस्थो को इसके स्वाध्याय आदि का अधिकार नहीं होने पर भी उनको इसके लिये मना करना अशक्य हो गया।

इसमें कोई सदेह नहीं कि धवलादि ग्रन्थों के प्रकाशन एवं अनुवादादिक का कार्य जिनके हाथ में दिया गया है वे संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के परीक्षोत्तीर्ण विद्वान हैं, किन्तु 'ग्रन्थों का अनुवाद करना' यह बात जुदी है, और 'परम्परा शास्त्रानुसार उसका लगा कर अविरोध रूप से समझने की बुद्धि होना' यह बात जुदी है। जैनागम अगाध समुद्र है उसको प्रमाण नय विवक्षा एवं अपेक्षा भेद से समझ कर अनुभव प्राप्त होना यह बात केवल संस्कृत साहित्यके अनुवाद मात्र मे प्रवीणतासे साध्य नहीं। इसके लिये पूर्ण अनुभव की जरूरत है और वह बिना वीतराग महर्षियों के चरण सान्निध्य, अथवा अनुभवी विद्वानों के निकट रह कर पठन पाठन किये बिना प्राप्त हो नहीं सकता।

यही कारण है कि आज बड़े २ विद्वान जो अपने को बड़े भारी इतिहासज्ञ समझते हैं उनकी बुद्धि शास्त्र का अर्थ पूर्व परम्परा आगमानुसार नहीं लगाकर अपनी स्वतंत्र समझ के अनुसार लगाने का हो जाती है, और इसी लिये तत्व का यथार्थ परिज्ञान और उपयोग से वे बहुत दूर रहते हैं।

यही कारण है कि आज प्रोफेसर हीरालाल जी सरीखे संस्कृत प्राकृत भाषा के जानकार आगम वाक्यों का विपरीत अर्थ कर दिग० जैनधर्म के मूल सिद्धांत को ही विपरीत बतलाने की चेष्टा कर रहे हैं।

इसी प्रकार पहिले बाबू अर्जुनलाल जी सेठी थे, जिन्हों ने गोम्मटसारादि ग्रन्थों को पढ़कर 'दि० जैन आगम के अनुसार स्त्रीमुक्ति इत्यादि विचारों को ट्रैक्ट रूप में लिख मारा था।

आचार्यों के पूर्वापर कथन को नहीं समझ कर अपनी तर्कणानुसार आगम वाक्यों का अर्थ करने का ही यह सब परिणाम है, और इसी से जहां भी अपनी समझ के विपरीत कुछ मालूम हुआ कि— 'अमुक आचार्य का कथन ठीक नहीं है, इसमें यह बात विपरीत लिख दी गई है।' इत्यादि मनमानी कल्पना ये लोग कर बठते हैं जनता के सामने कुछ नवीन विचार रखने की उनकी भावना प्रबल हो उठती है, और आगे चलकर वे प्राचीन आचार्यों के आर्ष ग्रन्थों को भी अप्रामाणिक बतलाने की चेष्टा किया करते हैं।

गत साल हमें एक विद्वान मिले थे, उनका कहना था कि, हम यह खोज करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि फलाने आचार्य ने अमुक वर्ष में सम्यग्दर्शन का यह लक्षण बतलाया और उसके बाद दूसरे आचार्य ने सम्यक्त्व का कब क्या लक्षण बतलाया। हमें यह जानकर बहुत ही आश्चर्य हुआ कि ये लोग जिसको ऐतिहासिक दृष्टि से खोज करना कहते हैं, उसका क्या परिणाम होगा, और वे इससे क्या सिद्ध करेंगे मान लो कि सम्यग्दर्शन का लक्षण स्वामी समन्तभद्र ने—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥

कहा है:— और उमास्वामी ने उसी का लक्षण 'तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" किया है तो क्या सम्यक्त्व के लक्षण में किसी प्रकार बाधा आगई या कोई तत्व ही बदल गया? किन्तु इस प्रकार आधुनिक शोध करने वाले की दृष्टि में सम्यक्त्व के लक्षणों में दोनों ही आचार्यों के अभिप्रायों में भेद नजर आवेगा और यह बात जरूर दृष्टि में आवेगी कि यह बात पहिले आचार्य की है और यह पीछे की, अतः यह मान्य है और यह नहीं। इस प्रकार के वे झट अपने विचारों को पब्लिक के सामने प्रगट कर देंगे। जो लोग अनुभव के कच्चे हैं वे झट कह उठेंगे कि दरअसल में फलाने आचार्य ने सम्यक्त्व का लक्षण ठीक नहीं लिखा है, अतः यह मान्य नहीं और यह मान्य है तब यह जनता को आचार्यों के विषय मे भी अप्रामाणिकता का बोध उत्पन्न होने का कारण होगा। अस्तु

(१) दि० जैन आगम में मुक्ति पुरुष को ही मानी गई है, स्त्री को नहीं, अर्थात् द्रव्यस्त्री कभी मोक्ष जा नहीं सकती, कारण मोक्ष वज्रवृषभ नाराचसंहनन वाले को ही हो सकती है, और कर्मभूमि की स्त्रियोंके अंत के तीन संहनन अर्थात अर्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका का ही उदय होता है। वज्रवृषभ-नाराच संहनन नहीं होता। यह बात गोम्मटसार कर्मकांड श्लोक ३४ से सिद्ध होती है जो कि इस प्रकार है—

अन्तिमतियसंहणणस्सुदओ पुणकम्मभूमिमहिलाणं
आदिमतिय संहणणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥

(२) स्त्रियां यदि कितनी भी तपश्चर्या करें तो भी उनके शरीर में यह शक्ति नहीं कि ये अच्युत याने १६वें स्वर्ग के आगे जा सकें जिस प्रकार इसके ऊपर जाने की शक्ति नहीं उसी प्रकार उनके ७वें नरक का बंध करने योग्य संहनन नहीं होने के कारण वे छठे नरक तक ही जा सकती हैं दि० जैन

आगम में स्त्रियों को १६वें स्वर्ग से ऊपर जाने का निषेध है तब उन्हें मोक्ष मानना किस आधार से सिद्ध हो सकता है ?

(३) स्त्रियों की प्राकृतिक रचना ही इस प्रकार की है कि जिसके कारण नग्न परीषह को वह नहीं सहन कर सकतीं। मुनि दीक्षाके लिये नगनता प्रधान कारण है। हीन शक्ति के कारण वह स्त्रियों के हो नहीं सकती और उसके विना छठा गुणस्थान ही नहीं हो सकता, इससे भी सवस्त्र एवं स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट निषेध होता है। स्त्रियों की स्वाभाविक रचना, उनके उत्कृष्ट शुक्लध्यान का अभाव, निरन्तर अशुचिताका सद्भाव आदि कितनी ही बातें उनके मोक्ष प्राप्ति के योग्य चारित्र का अभाव प्रगट करती हैं, ऐसी हालत में उनके मोक्ष मानना कितनी लम्बी बात है। स्वामी शुभचन्द्राचार्य ने इसके लिये स्पष्ट लिखा है कि—

स्त्रीणां निर्वाणसिद्धिः कथमपि न भवेत्सत्यशौर्याद्यभावात्। मायाशौचप्रपंचान्मलभयकलुषान्नीच— जातेरशक्तेः॥ साधूनां नत्यभावात्प्रबलचरणता— भावतः पुरुषतोन्य — स्वभावाद्धिसांगकत्वात्सकल— विमलसद्ध्यानहीनत्वतश्च॥

अर्थात्—स्त्रियों में सत्य, शूरता आदि गुणों का अभाव होता है, तथा मायाचार अपवित्रता उनमें अधिकतर पाई जाती है। रजमल भय और कलुषता उनमें सदा रहती है उनकी जाति नीच होती है उनमें उत्कृष्ट बल नहीं होता है, वे पुरुषों से भिन्न स्वभाव वाली होती हैं। उनमें सम्पूर्ण निर्मल ध्यान की हीनता होती है। इस कारण स्त्रियों को कदापि मुक्ति नहीं हो सकती।

(४) केवली भगवान के कवलाहार बतलाना यह भी आगम विरुद्ध है। कवलाहार (भोजन) भूख मिटाने के लिये किया जाता है केवली भगवान के क्षुधा तृषादिक दोषों का पूर्ण अभाव है। भूख तो असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा जहां होती है वहा लगती है वेदनीयकर्म की उदीरणा छठे गुणस्थान से आगे नहीं होती। १३वां गुणस्थान ४ घातियां कर्मों के नष्ट होने पर होता है, उनके नष्ट होने पर आत्मा मे अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान. अनन्त वीर्य, अनन्त-दर्शन गुण प्रगट हो जाता है जिसके कारण उन्हें कभी भूख लगती ही नहीं इसी प्रकार उनकी अकाल मृत्यु भी नहीं होती। उपरोक्त कारणो से उनको भोजन के अभाव में किसी प्रकार का दुःख तथा ज्ञान एव शक्ति की मदता, शरीर का नाश आदि कभी सम्भव नहीं हो सकता। उनको क्षायिक लब्धि प्राप्त हो जाती है। अतएव उनके शरीर के पोषण केलिये असाधारण शुभ अनन्त नोकर्म वर्गणायें आती रहती हैं, इसके लिये उनका परम औदारिक शरीर कभी निर्बल नहीं होने पाता।

स्व० पं० द्यानतराय जी ने अपने भी कवित्त में इसका इस तरह उल्लेख किया है।

भूख लगे दुख होय अनन्त सुखी कहिये किम केवलज्ञानी। खात विलोकत लोका—लोक देख कुद्रव्य भखे किम ज्ञानी॥ खाय के नींद करें सब जीव न स्वामि के नींद को नाम निशानी। केवली कवलाहार करें नहि, सांचो दिगम्बर ग्रन्थ की बानी॥

उपरोक्त कारणों एवं शास्त्रीय प्रमाणों से यह बात स्पष्ट है कि दि० जैन शास्त्रानुसार स्त्री—मुक्ति सवस्त्रमुक्ति तथा केवलियो के कवलाहार आदि कभी भी हो नहीं सकता। ये सब बातें श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने ही मान रक्खी हैं जो कि शास्त्राधार तथा प्रमाणों

से असङ्गत एवं विपरीत सिद्ध होती है। किसी भी आचार्य का इसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

गुणस्थानों का विचार भगवान कुन्दकुन्द आचार्य ने पूर्ण रीति से किया है। धवलादि ग्रन्थों में भी इन बातों का कोई विधान सिद्ध नहीं होता। इन बातों पर विद्वानों ने भी अच्छी तरह प्रकाश डाला है। विज्ञ पाठक इस पर पूर्ण विचार करेंगे एवं प्रोफेसर साहेब भी अपनी समझ को ठीककर मिथ्या अवर्णवाद से अपने को बचावेंगे, ऐसी आशा है।

श्रीमान् पं० श्रीधर जी जैन,

बम्बई, (प्रवास में)

प्रोफे० हीरालाल जी के आक्षेप निराधार हैं।

उनके तीन आक्षेप हैं उनमें से स्त्री—मुक्ति का आक्षेप तो उन्हींको कमजोर जंचना चाहिये क्योंकि स्त्रीको पांचवें गुणस्थानसे आगे पहुचना असम्भव है उन्हीं के पूर्ण विश्वास वाले और जिस पर खूब समझ सोच कर उन्हों ने अपना भाष्य बनाया है उस प्रथम सिद्धांत धवल में खुलासा है ग्रन्थकार ने वहां प्रथमाधिकार के ९३वें सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि सर्व प्रकार के परिपूर्ण अवस्था वाली स्त्री भी संयतासंयत नाम वाले पांचवें गुणस्थान तक ही चढ़ती है अर्थात् आगे के गुणस्थानों में स्त्री चढ़ नहीं सकती है उसमें बताया है कि:— 'सञ्जदासञ्जदट्ठाणेणियमा' अर्थात् संयतासयत इस नाम के पांचवें गुणस्थान में ही स्त्री नियम से रह सकेगी। इसी भाव को धवलाकार ने भी खूब अच्छी तरह समर्थित किया है और इसकी अधिक पुष्टि प्रमेयकमलमार्तण्ड में भी की गई है वह इस प्रकार है—

कर्म भूमि की महिलाओं मे ऊपर के मजबूत तीनों संहनन नहीं होते हैं उन तीन संहननों के रहने पर ही ऊपर का चढ़ना हो सकता है यह बात उनको भी कर्म सिद्धांत द्वारा मान्य है जिनके लिये प्रोफेसर साहेब प्रयत्न कर रहे हैं।

अन्तिमतियसंहणणस्सुदओपुणकम्मभूमिमहिलाणं।
आदिमतियसंहणणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं॥

क्या इस सिद्धांत को श्वेताम्बर भाई भी नहीं मानते कि जिस काल में मुक्ति की सम्भावना है उस काल में स्त्री जाति मात्र में ऊपर के संहनन नहीं रहते हैं और ऊपर के सबसे बड़े वज्रवृषभनाराचसंहनन के बिना मुक्ति के योग्य उग्रध्यानादि साधना नहीं बन पाती है?

आज भी श्वेताम्बरों में यह रिवाज जारी है कि पुरानी भी आर्यिका नये हुये मुनि साधु को वंदना करेगी भले ही साधु आज का ही दीक्षित हो और साध्वी आर्यिका भले ही सौ वर्ष से दीक्षित हो तो भी अभिगमन वंदनादि प्रथम उठकर वह स्त्री ही उस साधु को करेगी, पुरुष बाद में उसको जवाब देगा, इसका कारण एक ही हो सकता है कि स्त्रीजाति मुक्ति के लिये अपात्र है तथा पुरुष जाति मुक्ति का पात्र है इसी लिये पुरुष का आदर स्त्री द्वारा लाज़मी मान्य कराया गया है।

'वरिससय (शत) दिक्खियाए अज्जाए अज्जदि— क्खिओ साहू ।' इत्यादि आगम रिवाज का समर्थक है' और यही रिवाज कि साध्वी साधु को प्रथम वंदन करें आज तक दोनो सम्प्रदायो में जारी है इससे स्त्री जाति का दर्जा उत्कृष्ट नहीं है और उत्कृष्ट सामर्थ्य विना मुक्ति का प्राप्त होना अथवा क्षपक श्रेणी के गुणस्थानों का चढ़ना असम्भव है।

प्रोफेसर साहेब ने एक बात यह लिखी है कि हम कुन्दकुन्द को नहीं मानेगे हालांकि यह बात छोटे मुह बड़ी बात, 'लिखने की आज तक दूसरे किसी को भी हिमाकत नहीं हो पाई थी ब्र० शीतलप्रशाद जी जो सुधारकों में अगुवा थे कुन्दकुन्द स्वामी के वचनो के वे भी बड़े कायल थे कई बार उन्हो ने लिखा था कि कुन्दकुन्द के वचन सर्वथा मान्य हैं प्रोफेसर सा० ने समाज की आंखोमे एक धूल झोंकने का साहस और भी किया है वह इस प्रकार है—

प्रोफेसर जी ने खुद तो यह बात मानी है कि स्त्री और पुरुष ऐसे दो ही आकार मनुष्यों में जुदायगी दिखाते हैं। नपुंसक का कोई जुदा आकार नहीं है उसी आशय से पुरुष आकार के अतिरिक्त जो स्त्री आकार है उस आकार वालो को न तो ऊपर के गुणस्थान हैं न क्षपक श्रेणी है और न मुक्ति है वह सब कुछ केवल पुरुष को ही प्राप्तव्य है ऐसा ग्रन्थकार ने ९३वे में सूत्र के आस पास वाले प्रकरण मे स्पष्ट किया है। प्रतिष्ठित वकील लोग कमजोर मामले को हाथ मे नही लेते चाहे मवक्किल कितना भी अधिक खुश करने क्यों न तैयार हो, प्रोफेसर साहेब ने इतना कमजोर केस भी न जाने क्यो हाथ मे लिया है वेद जो मोह कर्म के उदयवश परिणाम को विचित्रता है वह 'वर्हि विसमा' ऐसा खुलासा स्पष्ट होते हुये भी क्या प्रोफेसर जी ने यह न समझ पाया कि यह लेची पेची दलील मामला बिगाड़ देगी ? याद रहे दिगम्बर मान्यता तीनो बातो में अभेद्य किला है इससे टकराना फिजूल है।
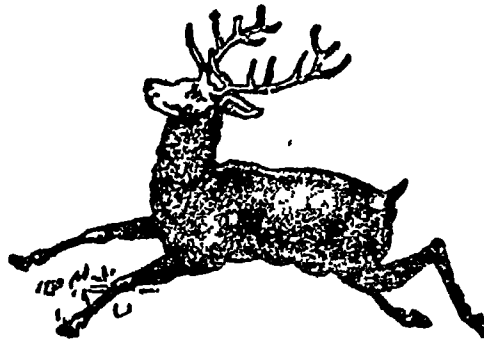
* विद्वानों के प्रश्नोत्तर *

षटखंडागम जीवस्थान सत्प्ररूपणानुयोगद्वार काययोगमार्गणा के सूत्र ९३वें में 'सञ्जद' शब्द है या नहीं?

प्रश्न—९३वें सूत्रमें मनुष्यनीका अर्थ भावस्त्री है इस पर क्षुल्लक जी (श्री सूरिसिंह जी) का यह कहना है कि मनुष्यनी शब्द के पहले यदि पर्याप्त या अपर्याप्त शब्द हो तो उसका अर्थ द्रव्यस्त्री होता है।

उत्तर—षट० स० प्र० दूसरे खंड के पृष्ठ ५१४ के लेख से मालूम होता है कि पर्याप्त मनुष्यनियों के १४ गुणस्थान होते हैं। यदि क्षुल्लक जी के कथनानुसार पर्याप्त विशेषण विशिष्ट मनुष्यनी का अर्थ द्रव्य स्त्री रखा जायगा तो इसका यह अर्थ होगा कि द्रव्य स्त्री के १४ गुणस्थान होते हैं। जो कि सिद्धांत और आम्नाय से विरुद्ध है।

प्रश्न—श्री धवला द्वितीय पुस्तक में जो १४ गुणस्थानों का कथन है उसका भाव यह है कि भाव स्त्री के जो पर्याप्तता है वह पुरुष के द्रव्य शरीर की अपेक्षा से है कारण भावस्त्री के लिये आधार भूत द्रव्य शरीर पुरुष का ही है। इसलिये यहा भावस्त्री शब्द से पुरुष शरीर का ही कथन होता है। क्योंकि पुरुष के शरीर से भाव स्त्री कोई भिन्न नहीं है। इस लिये पर्याप्त और अपर्याप्त जो विशेषण भावस्त्री को दिया है वह मुख्य रूप से पुरुष शरीर की अपेक्षा से ही है। गोम्मटसार में भाव स्त्री को यह विशेषण दिया है।

उत्तर ९३वें सूत्र में मनुष्यणी के साथ जो पर्याप्त शब्द है वह भी द्रव्य पुरुष के शरीर की पर्याप्तता की अपेक्षा से ही व्यवहृत हुआ है जैसा कि क्षुल्लक जी ने ऊपर अपने कथन में स्वीकार किया है।

प्रश्न—देखिये जो प्रथम षटखण्डागम सूत्र में पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषण दिया है वह शरीर आधार की अपेक्षा से दिया है क्योंकि प्रकरण काय-योग के प्रकरण में होने के कारण पर्याप्त और अपर्याप्त पुरुष का कथन तो पहले हो चुका है फिर मनुष्यनी प्रकरण में यानी स्त्री के प्रकरण में पर्याप्त और अपर्याप्त शब्द मनुष्यनी के साथ सूत्र में होनेसे द्रव्यस्त्री का ही कथन है। यहां पर मनुष्यनी के साथ पर्याप्त अपर्याप्तता है वह मनुष्यनी के द्रव्य शरीर के साथ संबंध मुख्य रूप रखने से द्रव्यस्त्री का कथन है।

उत्तर—पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषण दिया वह शरीर आधार की अपेक्षा से दिया है कृपया इसका स्पष्टीकरण कीजिये।

प्रश्न—६२ सूत्र की वृत्ति में श्री वीरसेनाचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि—'स्यात् पर्याप्ततापर्याप्तनामक-कर्मोदयात् शरीरनिष्पाद्यपेक्षया वा स्यादपर्याप्तता शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया वा। इस तरह खुलासा किया है।

उत्तर—पिछले प्रश्न का उत्तरः- जब पर्याप्त और अपर्याप्त व्यवहार शरीर की निष्पत्ति और अनिष्पत्ति की अपेक्षा से माना जाता है तो मनुष्यनी अर्थात् भावस्त्री मनुष्य के जो शरीर होगा उसी के पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा मनुष्यनी पर्याप्त और मनुष्यनी अपर्याप्त कहलायेगा यह क्यों आवश्यक है कि वह शरीर द्रव्यस्त्री का ही होना चाहिये। अब रही काययोग के प्रकरण की बात सो काययोग क्षयोपशम लब्धि रूप है। अतः इससे पूर्वोक्त कथन में कोई बाधा नहीं आती। तथा आपने जो पर्याप्त और अपर्याप्त पुरुष के कथन को द्रव्य पुरुष का कथन समझा है सो यदि वह द्रव्य पुरुष का कथन माना जाय तो द्रव्य नपुंसक के भी १४ गुणस्थान प्राप्त हो जांयगे जो आगम विरुद्ध है क्योंकि पर्याप्त मनुष्यों में पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी मनुष्योंका ग्रहण किया है।

प्रश्न—यहां भाव स्त्री का प्रकरण ही नहीं है यहां तो द्रव्य स्त्री शरीर का सम्बन्ध है क्योंकि पर्याप्त अपर्याप्त शरीर के साथ मानुषी ली गई है। पर्याप्ति अपर्याप्ति का सम्बन्ध शरीर की पूर्ति अपूर्ति से है अतः द्रव्य स्त्री के शरीर में भाव कैसे भी हो इससे हमारा कथन समुचित है। यहा पर भावस्त्री को मुख्य करके जो कथन होता तो आपके लिखे अनुसार आपत्तियो की सम्भावना भी होती परन्तु यहां पर द्रव्य स्त्री का प्रकरण है इसलिये आपकी दी हुई कोई आपत्ति नहीं है यहां पर्याप्ति का सम्बन्ध है इसलिये द्रव्यस्त्री में स्त्री का भाववेद भी होगा पुरुष भाववेद भी होगा और नपुंसक वेद भी होगा। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि द्रव्य नपुंसक मोक्ष को जाता है।

योग को मति ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से क्षयोपशमरूप कहा गया है। परन्तु काय तो औदयिक है अतः उसका पर्याप्ति से ही सम्बन्ध है। इसलिये यहां पर उसका द्रव्य स्त्री से ही सम्बन्ध है आप इस कथन को द्रव्य पुरुष का भी नहीं बताते हैं जैसी की आपकी पंक्ति है तो फिर किस शरीर द्रव्य वेद के आधार पर वहां पर भाव वेद का सद्भाव आप बताते हैं? स्पष्ट करें।

उत्तर—यदि पर्याप्त शब्द के साथ मनुष्यनी पद से द्रव्य स्त्री लिया जायगा तो जहां सत्प्ररूपणा भाग २ पृष्ठ ५१४ पर्याप्त मनुष्यनी के १४ गुणस्थान बतलाये हैं वहां वे गुणस्थान आपके कथनानुसार द्रव्य स्त्री के मानने पड़ेंगे। इसस स्पष्ट है कि प्रकृत मे मनुष्यनी के साथ पर्याप्त पद के रहते हुये भी उससे भाव मनुष्यनी का बोध होता है। अतः आपका यह कहना कि यहां भाव स्त्री का प्रकरण नहीं है यहां तो द्रव्य स्त्री शरीर का सम्बन्ध है क्योंकि पर्याप्त अपर्याप्त शरीर की मानुषी ली गई है आगम से बाधित है। तथा आपने जो काय को औदयिक लिखा है सो यहां काय का प्रकरण न होकर काय-योग का प्रकरण है जो कि क्षायोपशमिक है. इसलिये इस पर से द्रव्य स्त्री का सम्बन्ध जोड़ना किसी भी तरह ठीक नहीं है। हम किस कथन को द्रव्य पुरुष का नहीं बता रहे है स्पष्ट कीजिये। भाव स्त्री द्रव्य से पुरुष भी हो सकता है।

प्रश्न—आपने जो सतप्ररूपणा के ५१४ पृष्ठ के आधार पर वृत्तिगत आलाप के कथन का उल्लेख कर स्त्री के पर्याप्ति का सम्बन्ध प्रगट किया है वह तो भाववेद की ही अपेक्षा से है वहां द्रव्य शरीर का प्रकरण नहीं है जैसा कि—५१३ पृष्ठ पर 'जेसिंभावो इत्थिवेदो दव्वं पुण पुरिसवेदो' पक्ति में पड़े हुये तत्पद (तासिं) से भाववेद का ही प्रकरण है यह स्पष्ट है। परन्तु ६३वें सूत्र में पर्याप्ति अपर्याप्ति का उल्लेख है वह द्रव्य स्त्री के शरीर से ही है। अन्यथा मनुष्य गत गुणस्थानों का वर्णन करने वाले ८९वें और ९०वें सूत्र जो द्रव्य मनुष्य का वर्णन करते हैं पुनरुक्त ठहरेंगे। १४ गुणस्थान प्राप्त करने वाली भावस्त्री के लिये द्रव्य पुरुष के शरीर के सिवाय कोई शरीर नहीं है। इसका स्पष्ट उत्तर पहिले दिया जा चुका है।

काययोग प्रकरण में भी योग को हो मतिज्ञाना-वरण वीर्यांतरायकर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा क्षयो-पशम रूप कहा गया है परन्तु उसके साथ जो काय है उसका कथन तो आहार वर्गणा स्वरूप नोकर्म शरीर रूप औदारिक शरीर होन से पर्याप्ति अपर्याप्ति का सम्बन्ध स्त्री के द्रव्य शरीर से ही है। इसलिये वह आगम वाधित नहीं किन्तु ९२ व ९३ के सूत्रों से आगम प्रमाण सिद्ध है। आपने अपने उत्तर में यह पंक्ति लिखी है कि 'यदि वह द्रव्य पुरुष का कथन माना जाय तो द्रव्य नपुंसक के भी १४ गुण-स्थान हो जांयगे' इस पंक्ति से सिद्ध होता है कि आप उसे द्रव्य मनुष्य का भी कथन मानते हैं।

उत्तर—आपके उत्तर से यह स्पष्ट है कि मनुष्यनी शब्द के पीछे पर्याप्त और अपर्याप्त शब्द लगा देने पर भी उसका अर्थ भावस्त्री होता है। अब आपका इतना और कहना है कि यहां पर काय का सम्बन्ध होने से मनुष्यनी का अर्थ द्रव्य स्त्री होना चाहिये इस पर यह वक्तव्य है कि आगम में मनुष्यणी शब्द का अर्थ भाव स्त्री वेद वाला सर्वत्र लिया गया है। अब यहां काय का सम्बन्ध और लेना है सो भावस्त्री वाले मनुष्य का जो भी काय हो उसी की पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्था ली जायगी क्या यह आवश्यक है कि भावस्त्री वाले जीव का शरीर द्रव्य स्त्री रूप ही हो?

९३वें सूत्र में मनुष्यनी का अर्थ भाव स्त्री होनेसे आप जो ८९ व ९० सूत्रों से इस कथन को पुनरुक्त बतलाते हैं सो कृपया खुलासा करें कि सामान्य मनुष्य और मनुष्यनी में भेद आगम में किस अपेक्षा से किये हैं, उत्तर सप्रमाण लिखें।

प्रश्न—आपने जो यह लिखा है कि आपके उत्तर से यह स्पष्ट है कि 'मनुष्यणी शब्द के पीछे पर्याप्त और अपर्याप्त लगा देने पर भी उसका अर्थ भावस्त्री होता है।' हमारे अभिप्राय और हमारी पंक्तियों के सर्वथा विरुद्ध है। हमने अपने प्रश्न में ऐसा नहीं कहा है किन्तु इसके विपरीत ऐसा कहा है कि ९३ सूत्र में द्रव्य प्रकरण है इसलिये वहां पर्याप्त अपर्याप्ति का सम्बन्ध द्रव्यस्त्री के शरीर से है। भाव स्त्री वेद से नहीं है। इतना स्पष्ट होने पर भी आपने हमारा वैसा अभिप्राय किस शब्द या वाक्य से समझा है सो स्पष्ट कीजिये। 'आगम में मनुष्यणी शब्द का अर्थ भावस्त्री वेद वाला सर्वत्र लिया गया है' ऐसा जो आपने लिखा है वह भी आगम विरुद्ध है। क्योंकि षटखण्डागम के इसी प्रकरण गत ९३ सूत्र में मनुष्यणी का अर्थ पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण से द्रव्य स्त्री लिया गया है। भाववेद स्त्री नहीं किया

गया है केवल मनुष्यणी शब्द से भी द्रव्य स्त्री किसी स्थल में गोम्मटसार जीवकांड बड़ी टीका पृ० ३८४ गाथा १५६ से स्पष्ट सिद्ध होता है। उस गाथा की संस्कृत टीका में लिखा है कि "पर्याप्तमनुष्यराशेः त्रिचतुर्थभागो मानुषीणां द्रव्यस्त्रीणां परिमाण भवति।" इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि 'मानुषी शब्द से सर्वत्र भावस्त्री लिया जाता है' यह आपका कथन आगम विरुद्ध पड़ जाता है। ६३ सूत्र में द्रव्य स्त्री का शरीर सम्बन्ध होने से वहां पर जो भी भाव वेद हो सके इसमें कोई आपत्ति नहीं है परन्तु पर्याप्ति अपर्याप्ति सम्बन्ध तो द्रव्यस्त्री के शरीर से ही माना जायगा।

भाव स्त्री वाले जीव का शरीर द्रव्य स्त्री या पुरुष शरीर आदि भी हो सकता है इसमें हमें कोई विवाद नहीं है।

सामान्य मनुष्यादिक का कथन प्रकरण के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों ही हो सकता है।

उत्तर—इसी योग मार्गणा में ६२ व ६३ सूत्र के समान ही ८७-८८ सूत्र है फर्क इतना है कि वहां तिर्यंच योनिनी का कथन है और यहां मनुष्यणी का वीरसेन स्वामी ने ८७वे सूत्र की उत्थानिका बांधते हुये लिखा है कि स्त्रीवेदविशिष्ट-तिरश्चां विशेषप्रतिपादनार्थमाह। इससे स्पष्ट है कि काययोग मार्गणा तथा पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषण के रहते हुये भी जैसे ८७-८८ सूत्र में भाववेद लिया गया है, उसी प्रकार ६२ व ६३ सूत्रमें भाववेद लिया गया है।

गोम्मटसार गाथा १५६ की टीका में मनुष्यणी का अर्थ द्रव्य स्त्री लिखा गया है वह खुद्दाबन्ध द्रव्य प्रमाणानुगम सूत्र २८ व २६ की टीका के निम्न भाग के विरुद्ध है।

'एदस्स तिण्णि चतुब्भागा मनुसिणीओ एगो चदुब्भागो पुरिसणवु सयरासी होदि' इससे स्पष्ट है कि मनुष्यणी की संख्या जीव कांड गाथा १५६ भाववेद की अपेक्षा से है। आपके उत्तर में यह बड़ी विचित्रता है कि जो ६३वां सूत्र विवाद का विषय है उसे ही आप दृष्टान्त रूप से उपस्थित कर रहे हैं दूसरे उसी उत्तर में आप यह भी लिखते हैं कि ६३वें सूत्र में मनुष्यणी का अर्थ पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण से द्रव्य स्त्री लिया गया है। जबकि हम पहले धवला सतप्ररूपणा दूसरे भाग के पृ० ५१४ में पर्याप्त विशेषण रहते हुये मनुष्यणी का अर्थ भावस्त्री बतला आये हैं और उसे आपने स्वीकार कर लिया है। फिर भी ६३वे सूत्रमें आप पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण होने से द्रव्य स्त्री ही लिखे जा रहे हैं। हम पहिले लिख आये हैं कि यदि भाव स्त्री वाले मनुष्य को लेकर उसके शरीर को पर्याप्त और अपर्याप्त कहा जाय तो इसमे क्या आपत्ति है।

धवला खण्ड २ पृ० ५२२ पर आगे भी मनुष्यणी के छठे आदि गुणस्थानों में व प्रथमादि गुणस्थानो में भी सर्वत्र स्त्रीवेद का उदय बतलाया है सो इससे हमारा कहना है कि मनुष्यणी का अर्थ सर्वत्र भावस्त्रीही लिया है। विवादगत ६३ सूत्र के अतिरिक्त यदि कहीं भी मनुष्यनी का अर्थ द्रव्य स्त्री लिया हो तो कृपया आप प्रमाण देवें।

प्रश्न—आपने जो धवला के पहले खण्ड के पृ० ३२८ के ८७-८८ सूत्रों का अर्थ जो भाववेद किया है वह ग्रन्थ के विरुद्ध है। इन दोनों सूत्रों से स्त्रीवेद विशिष्ट तिर्यंचों के द्रव्यवेद की ही सिद्धि होती है क्योंकि उक्त सूत्रों की वृत्ति में उत्पत्ति का उल्लेख है, उत्पत्ति बिना द्रव्य शरीर के नहीं होती है। इसी

प्रकार ९२वें व ९३वें सूत्रों द्वारा भी द्रव्य स्त्री का ग्रहण है।

गोम्मटसार जीवकांड गाथा १५९में और उसकी संस्कृत टीका मे जो मनुष्यनी का स्पष्ट अर्थ द्रव्य स्त्री किया गया है उसका अर्थ आपने भाव स्त्री वेद बताया है परन्तु यह अर्थ आप गोम्मटसार ग्रन्थ के आधार पर कहते हैं या धवला के खुद्दाबध के आधार पर कहते हैं सप्रमाण लिखें? गोम्मटसार में भी प्रत्येक मार्गणा के अन्त में जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय एवं मनोयोगी काययोगी आदि जीवों की संख्या गिनाई गई है सो क्या भाव जीवों की है या द्रव्य जीवोंकी? सो प्रमाण सहित स्पष्ट करें। गोम्मटसार में जो मनुष्यों की संख्या गिनाई गई है उसके त्रिचतुर्थ भाग प्रमाण मनुष्यणी की संख्या बताई गई है सो क्या वह संख्या द्रव्यस्त्रियों की है या भाववेदी स्त्रियों की? गोम्मटसार ग्रन्थ के आधार से सप्रमाण स्पष्ट करें।

फिर आपने जो धवला के खुद्दाबंध के प्रकरण के पृष्ठ २५६ सूत्र २८-२९ का तथा वृत्ति में एदस्स-तिण्णि चदुभागा मणुसिणिओ एगो चदुभागो पुरिसणबु सयरासी होदि, यह प्रमाण देकर मनुष्यणी की संख्या को भाववेद की अपेक्षा से बताया है सो आप ऐसा अर्थ किस प्रकार करते हैं जब कि खुद्दाबंद के उक्त सूत्रों का और आपके दिये हुये वृत्तिगत प्रमाण का स्पष्ट अर्थ द्रव्यस्त्री ही होता है। इसी २९वें सूत्र के अनुसार वृत्ति में पर्याप्त मनुष्यों की संख्या 'तलीनमधुग विमलंधूम सिलागा विचोर भयमेरू' इस श्लोक से द्रव्य मनुष्य संख्या और उसी संख्या के त्रिचतुर्थ भाग स्त्रियों की संख्या गिनाई गई है वहीसंख्या उसी 'तलीन मधुग विमलं' उसी श्लोक को देकर मनुष्य संख्या और उसी के त्रिचतुर्थ भाग मनुष्यनी की संख्या पज्जत्तमणुस्साणं तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं इस गोम्मटसार की गाथा के अनुसार बताई गई है सो भाववेद की अपेक्षा से किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती है। इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि खुद्दाबंध के उक्त सूत्रों और गोम्मटसार जीवकांड के १५९वीं गाथा दोनों का एक ही अर्थ है, आप उन दोनों को भाववेद स्त्री की अपेक्षा कैसे बताते हैं जबकि उन्हीं सूत्रों में 'द्रव्व—पमाणेण' से वाक्य पड़े हुये हैं। हमें बहुत आश्चर्य होता है कि आप इन ग्रन्थों के जानकार होने पर भी ग्रन्थों से विरुद्ध अर्थ कैसे करते हैं? षटखण्डागम सत्प्ररूपणा योगद्वार सूत्र ९२ व ९३ में जो मानुषी से द्रव्यस्त्री का ग्रहण किया है उसके हेतु निम्नप्रकार हैं—

(१) सूत्रकार की सूत्रण शैली ऐसी है कि जिस स्थान पर तीन से ज्यादा गुणस्थान का वर्णन किया है वहां 'पहुदि' और 'जाव' शब्द लगा कर ही किया है जब सूत्र ९३ में यदि 'सञ्जद' पद आ जाय तो चार गुणस्थान हो जाते हैं ऐसी स्थिति में सूत्रकार ने जो 'पहुदि और जाव' शब्द को लेकर वर्णन नहीं किया है उससे विदित होता है कि वहां सञ्जद पद नहीं है सूत्रकार की यह पद्धति सत्प्ररूपणा के ७१वें सूत्र से लेकर बराबर इसी प्रकार से है यहां पर सम्भव है कि यह शङ्का हो कि गति मार्गणा के सूत्रों में यह नियम लागू नहीं है तो उसका समाधान यह है कि प्रत्येक गति में सूत्रकार को गुणस्थान निश्चय करने थे इसलिये भिन्न २ गतियों में कौन २ गुणस्थान होते हैं इस बात के निश्चय के लिये संख्या अलग २ गिनाई है।

(२) सूत्र ९३ के भाष्य में जो यह पंक्ति है कि

हुंडावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यंत इतिचेत् न, इस पक्ति में द्रव्य स्त्री के अपर्याप्त अवस्था में सम्यक्त्व मानने का लक्ष्य करके शङ्का की गई है क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में द्रव्य स्त्री को मोक्ष माना है इसलिये यहां का प्रकरण द्रव्य स्त्री के लिये ही है। तथा इस पक्ति में जो उत्पद्यन्ते किया है वह भी द्रव्य शरीर को सूचित करती है क्योंकि उत्पत्ति शरीर की ही होती है। यहां जो समाधान किया गया है। यदि यहां भाव स्त्री का प्रकरण होता तो सूत्रकार 'भावस्त्रीप्रकरणात्' ऐसा शब्द लिखकर समाधान देते क्योंकि शङ्का द्रव्यस्त्रीकी प्रधानतासे है।

३-'तुष्यतु सज्जन' न्याय से थोड़ी देर के लिये यहां भाववेद का ही प्रकरण मान लिया जाय तो एक बड़ा दूषण दिगम्बर जैन सिद्धांत के विरुद्ध यह आता है कि जहां २ द्रव्यप्ररूपणा आदि के सूत्रों में मनुष्य पर्याप्त मनुष्यनी के १४ गुणस्थान बतलाये हैं वहां मनुष्य को भी भाववेद से ग्रहण किया जा सकता है ऐसी दशा में जिस द्रव्य स्त्री के वेद वैषम्य की अपेक्षा से मनुष्य के भाव होगे वह द्रव्य स्त्री भाव मनुष्य होगा तब यह परिणाम अनायास ही निकल आयेगा कि द्रव्य स्त्री के १४ गुणस्थान होते हैं सो यह सर्वथा सिद्धांत विरुद्ध बात है। इस बात को रोकने के लिये षट्खण्डागम का कौन सा सूत्र है वह बताइये। षट्खण्डागम के सूत्र पूछने का हेतु यह है कि विरुद्ध पार्टी ने षटखण्डागम को बहुत प्राचीन माना है और इसके ही आधार से सिद्धांत ग्रन्थों की रचना हुई है ऐसी उनकी मान्यता है। यदि द्रव्यस्त्री को १४ गुणस्थानों का निषेधक कोई भी सूत्र नहीं होगा तो विरुद्ध पार्टी का यह कहना सिद्ध हो जायगा कि षटखण्डागम में तो द्रव्य स्त्री के १४ गुणस्थानों का कहीं भी निषेध नहीं है इसलिये १४ गुणस्थानों के निषेध की कल्पना द्रव्य स्त्री के प्राचीन नहीं होकर अर्वाचीन है। जोकि स्वामी कुन्दकुन्द ने चलाई है सो यह विरुद्ध पार्टी का मन्तव्य आपको भी मान्य नहीं होगा क्योंकि दि० सिद्धांत का जो कथन है वह अनादिकालीन है किसी तीर्थंकर या आचार्य की चलाई हुई नहीं है। इसी कारण वह अर्वाचीन नहीं है।

आपने जो सूत्र ६३ का विषय विवादस्थ लिखा है सो यह बात नहीं। वास्तव में यहां का विषय निर्णीत है। सत्प्ररूपणा मुद्रित द्वितीय पुस्तक आलापाधिकार में जो १४ गुणस्थान वाली मानुषी के साथ पर्याप्ति शब्द के दर्शन हो रहे हैं उसका जवाब आप को कई बार दिया जा चुका है। परन्तु आप अपने उत्तर में उसी को बार बार लाकर खड़ा कर देते हैं इससे मालूम पड़ता है कि आपने उस मन्तव्य पर वास्तविक विचार नहीं किया है। अस्तु। अब उसका अच्छी तरह से स्पष्टीकरण समझ लीजिये आलापों में जो मानुषी के साथ पर्याप्त शब्द है वह पराश्रित है क्योंकि वेदवैषम्यदृष्टिसे उसका पराश्रित होना स्पष्ट है परन्तु सूत्र ६३गत जो मानुषी शब्दहै और उसकेसाथ जो पर्याप्त शब्द है वह स्वाश्रित है सूत्रकार की दृष्टिमें पर्याप्ति शब्द गौण है क्योकि मानुषी के १४ गुणस्थान जिस २ स्थान पर आये हैं वहां मानुषी के साथ यदि पर्याप्ति शब्द लगा दिया जाता है तो वह मानुषी द्रव्य स्त्री का ही वाचक होता है। ऐसा होने से फिर उसके १४ गुणस्थान सिद्ध नहीं हो सकते हैं उक्त विवेचन से यह भलीभांत सिद्ध होता है कि सूत्र ६३ में संयत शब्द का अस्तित्व होना आगम एवं आगमानुकूल युक्तियों से सर्वथा विरुद्ध है।

उत्तर—८७-८८ सूत्र में यदि द्रव्य लिया होता तो धवलाकार ने स्त्रीवेद विशिष्ट तिर्यंच ऐसा क्यों लिखा ? आपने भी यह खुलासा न किया कि इनके द्रव्यवेद कौन है ? और भाववेद कौन है ? यदि दोनों एक ही हैं तो टीकाकार को स्त्री वेद विशिष्ट ऐसा विशेषण क्यों लगाना पड़ा।

९२-९३ सूत्र में भाववेद लेने पर भी उस भाववेद वाले जीव के शरीर की उत्पत्ति अपेक्षा उत्पद्यंते क्रिया बन जाती है इसके भाववेद वाले जीव शरीर को वैसा ही होने की क्या आवश्यकता है। गोम्मटसार जीवकांड की गाथा १५९ में मनुष्यनी का अर्थ भावस्त्री हम गोम्मटसार व धवला दोनों के आधार से करते हैं। गोम्मटसार का प्रमाण निम्न है।

"मणुसिणी एत्थी सहिदा तित्थयराहार पुरिससंढूणा' इसमें मनुष्यनी के स्त्रीवेद का उदय स्पष्ट बतलाया है। नपुंसकवेद व पुरुष वेद का नहीं। हर एक मार्गणा की संख्या को बतलाते समय द्रव्य और भाववेद के बतलाने की आवश्यकता नहीं।

गोम्मटसार में मनुष्यों के त्रिचतुर्थ भाग प्रमाण जो मनुष्यणियों की संख्या बतलाई है वह भाववेद की प्रधानता से है क्योंकि स्वयं गोम्मटसारकार ने मनुष्यनी का अर्थ स्त्री वेद का उदय वाला मनुष्य लिया है, प्रमाण ऊपर कह आये हैं। जीवट्ठाण द्रव्य प्रमाणानुगम मनुष्य गति में मनुष्यनियों की संख्या १४ गुणस्थानों की अपेक्षा से बतलाई है यथा—

मणुसिणीसुसासणसम्माइट्ठिपहुडि जाव अजोग केवलित्ति दव्वपमाणेण केवडिया ? संखेज्जा।

इससे ज्ञात होता है कि सर्वत्र मनुष्यणी का अर्थ स्त्री वेद वाला मनुष्य है खुद्दाबध में भी यही समझना। खुद्दाबंध के २९वें सूत्र में पर्याप्त मनुष्य का अर्थ आप द्रव्य मनुष्य करते हैं। पर कर्मकांडमें पर्याप्त मनुष्य का अर्थ पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय वाला मनुष्य किया है। यथा 'पज्जत्तेविय इत्थिवेदा पज्जत्त परिहीणो।' अब आप ही देखें कि पर्याप्त मनुष्य का अर्थ द्रव्य पुरुष कैसे हो सकता है। इस कथन से आप जान जांयगे कि सर्वत्र संख्या भाववेद की अपेक्षा से ही बतलाई है। आपने दव्वपमाणेण पद को लेकर कटाक्ष किया सो भाई यह पद संख्या का वाचक है। यदि ऐसा न हो तो जीवट्ठाण में द्रव्य प्रमाण बतलाते हुये मनुष्यनियों के १४ गुणस्थान नहीं बतलाये जाते। यदा कदाचित द्रव्य प्रमाण पद को द्रव्य परक ले लिया जाय तो जीवट्ठाण में मनुष्यनी के द्रव्य प्रमाण को १४ गुणस्थानों में बतलाया है। इसलिये इससे द्रव्यस्त्रियों का ग्रहण होकर उन के १४ गुणस्थान सिद्ध हो जांयगे। इसका भी आपने हमारे ऊपर कटाक्ष करते समय विचार किया क्या ? षटखण्डागम सत्प्ररूपणा योगद्वार सूत्र ९२ व ९३ में आपने जो मानुषी का अर्थ द्रव्य स्त्री लेने के लिये जो हेतु दिये उनका समाधान निम्न प्रकार है।

१—आपने अपने पहले हेतु में यह स्वीकार ही किया है कि गतियों में गुणस्थान बतलाते समय वहां पर सूत्रकार ने 'पहुडि' और 'जाव' शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु स्पष्टतः गुणस्थानों के नामों का उल्लेख किया है। यथा सत्प्ररूपणा २७ व २८ सूत्र।

आप कहते हैं कि सूत्रकार ने तीन से अधिक गुणस्थान गिनाते समय पहुडि और जाव शब्द का ही प्रयोग किया है सो यह हेतु कोई दमवाला नहीं है क्योंकि सूत्र नं० १२८ में चार गुणस्थानों का उल्लेख होने पर भी पहुडि और जाव न लिखकर

सीधे गुणस्थानों के नामों का उल्लेख कर दिया है।

२–सूत्र ६३ की टीकाके उत्तर प्रत्युत्तर को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु यहां जो स्त्री वेद है उसका अर्थ भावस्त्री ही है यदि ऐसा न होता तो आगे उसकी व्यावृत्ति केलिये द्रव्यस्त्रीणां ऐसा टीकाकार न लिखते। दूसरे अस्मादेव आर्षात द्रव्यस्त्रीणां इत्यादि शङ्का तभी उठ सकती है जबकि ६३वें सूत्र में सञ्जद पद हो। यहां पर अस्मादेव आर्षात् से ६३ सूत्र ही विवक्षित हैयदि ऐसा न माना जाय तो अस्मादेव आर्षात से यहां कौन सा आर्ष वाक्य विवक्षितहै जिससे द्रव्यस्त्री को मोक्ष का प्रसङ्ग प्राप्त होता हो। उत्पद्यंते क्रिया के सम्बन्ध में पहले लिख आये हैं।

३–तीसरे हेतुमें आप जिस आपत्ति को उपस्थित कर रहे हैं उसी के निवारणार्थ हम यह लिख रहे हैं कि मनुष्यणी का अर्थ भावस्त्री विशिष्ट मनुष्य लेना चाहिये। तभी उसके १४ गुणस्थान बन सकते हैं। अन्यथा सर्वत्र मनुष्यनी के १४ गुणस्थान बतलाये गये हैं। यदि मनुष्यनी का अर्थ द्रव्यस्त्री लिया जायगा तो यह दिगम्बर सम्प्रदाय के ऊपर बड़ी आपत्ति होगी।

दूसरे यदि मनुष्य पर्याप्त का अर्थ द्रव्य पुरुष लिया जाय तो नपुंसकवेद वाले पर्याप्त मनुष्यों का अन्तर्भाव आप किस में करेंगे। सिद्धांत ग्रन्थों में तो पर्याप्त मनुष्य से पुरुष वेदी और नपुंसकवेदी मनुष्यों का ही ग्रहण किया है। प्रमाण हम पहले दे आये हैं। विवादस्थ और निर्णय के अन्तर को हम नहीं समझ सके कृपया खुलासा करिये।

पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषण को लेकर हम कई बार आपत्ति कर चुके है किन्तु फिर आप उसी बात को सामने लाते हैं इसलिये पुनः २ लिखना पड़ता है। यदि आप कोई नई बात उपस्थित करते तो हमें भी उस बात को न दुहराना पड़ता।

अब की बार आपने पर्याप्त और अपर्याप्त के साथ स्वाश्रित और पराश्रित भेद लगाये हैं सो ये किस ग्रन्थ के आधार पर आपने इन भेदों की रचना की है कृपया खुल सा करें।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ६३ सूत्र मे मनुष्यनी से भाव मनुष्यणी ही विवक्षित है। यदि ऐसा न लिया जायगा तो इससे जैन सिद्धांत पर बड़ी विपत्ति उपस्थित होगी और प्रतिपक्षियों की मनसा पूरी होगी क्योंकि ताड़ पत्र की प्राचीन प्रति मे सजद पद पाया गया है। और आप जैसे विद्वान उस सूत्र का द्रव्य स्त्री पर बतला ही रहे हैं इससे प्रतिपक्ष जनता को भ्रममे डालकर आसानीसे द्रव्यस्त्री के १४ गुणस्थान सिद्ध कर सकेंगे।

प्रश्न—आपने जो उत्तर दिया है उसमे यह स्वीकार कर लिया है कि ८७ सूत्र की उत्थानिका मे वेद विशिष्ट विशेषण लगाने से भावस्त्री का ग्रहण होता है इस आर्ष कथन से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि जहां पर वेद विशेषण नहीं है वहांपर द्रव्यस्त्री का ग्रहण होताहै। इसीलिये ६२ व ६३ सूत्रोंकी उत्थानिका में वेद विशेषण नहीं होनेसे द्रव्यस्त्री का ही ग्रहण होता है यह आपके कथनानुसार भी सिद्ध हो गया।

गोम्मटसार की गाथा न० १५६ के विषय मे हमारा प्रश्न था परन्तु उसे आपने सर्वथा छोड़ दिया और बिना प्रकरण के गुणस्थान की अपेक्षा से उदय व्युच्छित्ति प्रकरण का उत्तर दिया है जो सर्वथा बे-प्रसङ्ग है। हमने मार्गणा के प्रकरण मे १५६ गाथा का उत्तर पूछा था उसका कोई उत्तर आपने नहीं

दिया है। इसी प्रकार 'तल लीन मधुग विमलं' इस श्लोक के अनुसार पर्याप्त द्रव्य मनुष्यों की संख्या और उसके त्रिचतुर्थ भाग परिमाण मनुष्यणियों का अर्थात् द्रव्यस्त्रियों की संख्या बतलायी है जो कि बहुत स्पष्ट एवं निर्णीत है उसे भी नहीं मानकर आपने उस मार्गणा प्रकरण को छोड़कर जो कि द्रव्य शरीर का ही विधायक है गुणस्थान प्रकरण की उदय व्युच्छित्ति का वे प्रसङ्ग उत्तर दिया है सो सदुत्तर नहीं होने से यहां विचार कोटि में नहीं लिया जा सकता है। यदि आप हमारे प्रश्न का सदुत्तर देना चाहते हैं तो फिर भी हम पूछते हैं कि १५६वीं गोम्मटसार की गाथा के अनुसार एवं तललीन मधुग विमल इस श्लोक के अनुसार जो पर्याप्त मनुष्यों की अर्थात् द्रव्य मनुष्यों की और उस संख्या के त्रिचतुर्थ भाग मनुष्यणियों की अर्थात द्रव्यस्त्रियो की संख्या गिनाई गई है उस आप मानते है या उस सख्या को भाव पुरुष और भावस्त्री की अपेक्षा बताते हैं उसी मार्गणा प्रकरण के १५६ वीं गाथा के आधार उत्तर दीजिये तभी सदुत्तर माना जायगा। अन्यथा जो बात पूछी जाय उसे छोड़कर दूसरा कोई सम्बन्ध एवं प्रकरण रहित उत्तर दिया जाय तो वह कभी सदुत्तर नहीं माना जा सकता है।

इसी प्रकार धवला के खुद्दाबध प्रकरण में भी २८ व २६ सूत्रों द्वारा भी पयाप्त मनुष्य (द्रव्य मनुष्य) और मनुष्यणी (द्रव्यस्त्री) की संख्या का विधान स्पष्ट रूप से किया है परन्तु उस निर्णीत एवं स्पष्ट रूप से कहे गये विधान को स्वीकार नहीं करके उसका अन्यथा उत्तर कर्मकाड के उदय प्रकरण का दिया है जो सर्वथा प्रसङ्ग विरुद्ध हाने से सदुत्तर नही कहा जा सकता है। इसी आपके उत्तर के प्रश्न १ में जो यह कहा गया है कि 'सूत्रकार ने तीन गुणस्थान से ऊपर जहां २ गुणस्थानों का वर्णन किया है वहां पहुडि और जाव शब्द के आधार से वर्णन किया है यह सूत्रकार का नियम कहीं भी वाधित नहीं है।' आपने इस नियम के वाधित करने के जो स्थल दिये हैं वे स्थल इस नियम के वाधक नहीं हैं। कारण कि उन सूत्रों में चतुस्सु पंचस्सु आदि संख्या देकर गुणस्थान गिनाये हैं जहां पर संख्या पहिले निर्देश की जाती है वहां संख्या गिनानी ही पड़ती है आप हमारे अभिप्राय को नहीं समझे। इसी कारण आपका लिखा हुआ उत्तर प्रकृत विषय का बाधक नहीं हो सकता।

प्रश्न दूसरे में जो द्रव्यस्त्रीणां पद आया है वह निर्वृत्ति शब्द के साथ आया है और निर्वृत्ति शब्द का मोक्ष अर्थ किसी भी आगम का वाक्य या कोष प्रमाण से होता नहीं है। निर्वृति शब्द का अर्थ निष्पत्ति होता है अस्मादेव आर्षात् द्रव्यस्त्रीणां इस पंक्ति से टीकाकार ने यह बतलाया है कि आर्ष प्रमाण से द्रव्यस्त्रियों की सिद्धि है यह बात जब ही लिखी जा सकती है कि ६३वें में संयत पद नहीं हो इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण के पत्र ४६ में है उसको देखकर यहां के प्रकरण का जो आशय है वह आपकी समझ में आ जायगा। उत्पद्यंते क्रिया का सम्बन्ध द्रव्य शरीर से ही हो सकता है इसलिये इस विषय में आपने जो उत्तर दिया है वह युक्ति सङ्गत नहीं है। यहां श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता से द्रव्य शरीर की सिद्धि में हेतु दिया है वह हमारा हेतु तदवस्थ ही है उसका आपके उत्तर में कोई खण्डन वाक्य नहीं है। दूसरे इस सूत्र में यदि सञ्जद पद होता तो

टीकाकार सञ्जद पद को लेकर ही शङ्का उठाते परन्तु शङ्का १४ गुणस्थान की उठाई है। इससे भी स्पष्ट है कि सूत्र में सञ्जद पद का होना असिद्ध है। हमारा आशय इतना ही है कि मनुष्य पर्याप्त में जो पर्याप्त शब्द है उससे द्रव्य पुरुष का बोध होता है यदि मानुषी के साथ में भी पर्याप्त शब्द होता तो वहां भी द्रव्यस्त्री ली जाती; परन्तु उसके साथ में वह शब्द नहीं है। इसलिये सिर्फ मानुषी से वेद वैषम्य सापेक्ष भावस्त्री अर्थ होता है। आपकी दृष्टिमें पर्याप्त शब्द होते हुये भी सर्वत्र भाव ही लिया गया है तो मनुष्य का सापेक्ष वेद वैषम्य मे द्रव्यस्त्री का ग्रहण हो जायगा। ऐसा होने से जो आपत्ति पहले बताई जा चुकी है वह यहाँ उपस्थित हो जायगी। यहां पर्याप्त मनुष्य से द्रव्यपुरुष का ग्रहण है। इसमें नपुंसकवेदी आ जाता है तो कोई हानि नहीं है। यहां मनुष्य के साथ जो पर्याप्त शब्द है उस पर्याप्त शब्द ही का यह प्रयोजन है कि जो द्रव्यस्त्री सापेक्ष भाव पुरुष नहीं लिया जा सकता है अतः पर्याप्त विशेषण होनेसे सर्वत्र द्रव्यशरीर ही लिया जायगा।

जो जिस देह से सम्बन्धित भाववंध होता है वह स्वाश्रित है और जो परदेह से सम्बन्धित भाववेद होता है वह पराश्रित कहा जाता है। यह बात समवेद और वेद वैषम्य स स्पष्ट हो जाती है।

निम्न लिखित विद्वान ९३वें सूत्र के मानुषी शब्द का अर्थ 'भावस्त्री' करते हैं।

१-पं० वंशीधर जी शास्त्री इन्दौर।

२-पं० पन्नालाल जी सोनी वम्बई।

३ पं० कैलाशचन्द्र जी बनारस।

४-पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री बनारस।

द्रव्यस्त्री पक्ष वाले पण्डितों के नाम निम्न प्रकार हैं।

१-क्षुल्लक सूरिसिंह जी।

२-पं० मक्खनलाल जी शास्त्री मोरेना।

३-पं० रामप्रसाद जी शास्त्री वम्बई।

४-पं० तनसुखराय जी नांदगांव।

५-पं० उल्फतराय जी भिण्ड।

इसी द्रव्यस्त्री पक्ष में निम्न लिखित विद्वानों ने पत्र द्वारा सहमति भेजी है।

१-पं० माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य सहारनपुर।

२-पं० श्रीलाल जी पाटनी अलीगढ़।

३-सुमेरुचन्द जी दिवाकर सिवनी।

४-मोतीचन्द जी कोठारी फलटण।

५-पं० नन्दकिशोर जी मथुरा।

[सम्पादकीय—श्री वीर निर्वाण सम्वत २४७२ वि० सं० २००२ पौषवदी १ से पौषवदी ५ तक के श्री चन्द्रप्रभ दि० जैन मन्दिर भूलेश्वर के वार्षिक उत्सव पर आमन्त्रित और स्थानीय विद्वानो में जो 'सञ्जद शब्द को लेकर उपर्युक्त प्रश्नोत्तर हुये हैं उन पर से जो कुछ भी निर्णीत विषय होगा उसे पूज्यपाद श्री १०८ चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्ति सागर जी महाराज प्रकाश में लावेंगे। वह मान्य होगा। ऐसी वम्बई दिगम्बर जैन पञ्चायत की मान्यता है।]

रामप्रसाद जैन शास्त्री,
सम्पादक दिगम्बर जैन सिद्धांत दर्पण।

(प्रमादवश २५२वें पृष्ठ की ११वीं पंक्ति मे 'निर्णय' शब्द के स्थान पर 'निर्णीत' छप गया है सो पाठक महानुभाव सुधारकर पढ़ें। —मुद्रक)

संयत पद के विषय में कतिपय विद्वानों के
विशद विचार

श्रीमान् पूज्य क्षुल्लक सूरिसिंह जी महाराज

मूड़बद्री में ताड़पत्र प्रतियों के निरीक्षण के बाद मेरा सञ्जद शब्द पर विचार

वाचक वर्ग ! हमारे दिगम्बर जैन समाज में दो वर्ष से यह चर्चा चल रही है कि द्रव्यस्त्री मुक्ति प्राप्त कर सकती है या नहीं ? अधिकांश लोगों का कहना है कि द्रव्यस्त्री मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती तथा प्रोफे० हीरालल जी और उनके सहयोगी कुछ व्यक्ति कहते हैं कि द्रव्य स्त्री मुक्ति प्राप्त कर सकती है।' इस के लिये प्रोफेसर हीरालाल जी ने श्री षटखण्डागम के नं० ६३ सूत्र का प्रमाण दिया है। इस सूत्र में 'सञ्जद' शब्द है। इसलिये द्रव्यस्त्री को मुक्ति हो सकती है।

इसके विरुद्ध कई लोगों का विचार है कि सूत्र में 'सञ्जद पद' है इसलिये सूत्रानुसार भावस्त्री को मोक्ष हो सकता है। इस प्रकार अर्थ करते हैं।

प्रोफेसर हीरालाल जी कहते हैं कि सूत्र नं० ६३ का प्रकरण द्रव्यस्त्री का है भावस्त्री का प्रकरण नहीं है। इस प्रकार दो पक्ष पड़े हुये हैं। भावस्त्री का प्रकरण सिद्ध करने के लिये पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री आदि के लेख निकल चुके हैं उन्हें पुस्तक रूप में श्री० पं० नाथूराम जी ने छापा है। इसके अलावा पं० वंशीधर जी शास्त्री सोलापुर वाले भी भावस्त्री सिद्ध करने के लिये लिख रहे हैं परन्तु सूत्र नं० ६३ का प्रकरण द्रव्यस्त्री का है और सूत्र में 'सञ्जद' पद जो है वह लेखक के हस्तदोष से पड़ा है, इसलिये ताम्रपत्र की प्रति में 'सञ्जद' शब्द नहीं लिखना चाहिये। इस प्रकार लेख में और पं० रामप्रसाद जी शास्त्री बम्बई लिख रहे हैं। इस प्रकार तीन पक्ष हो गये हैं।

१—प्रोफेसर हीरालाल जी व उनके सहयोगी का पक्ष है कि नं० ६३ सूत्र का प्रकरण द्रव्यस्त्री का है अतः द्रव्यस्त्री को मोक्ष होता है। ताड़पत्र में भी 'सञ्जद' शब्द है अतः द्रव्यस्त्री को मोक्ष प्राप्त करने का मत श्री भूतबली पुष्पदन्ताचार्य का था। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्यस्त्री और भावस्त्री भेद करके द्रव्यस्त्री को मोक्ष प्राप्ति का निषेध कर दिया और श्वेतांबर तथा दिगम्बर ये दो मत निकाले ?

२—उक्त सूत्र में 'सञ्जद' शब्द है इसलिये भाव स्त्री को मोक्ष होती है इसलिये ताड़पत्र की तरह ताम्र पत्र में 'सञ्जद' शब्द रख दिया है। इस पक्ष में पं० खूबचन्द जी शास्त्री इन्दौर तथा पन्नालाल जी मुख्य रूप से हैं और उनका कहना है कि ताम्र पत्र में हम ने नं० ६३ के सूत्र में जो 'सञ्जद' शब्द रखा है

वह किसी को भी नहीं निकालने देंगे।

ताम्रपत्र पर लिखने में मुख्य रूप से श्री १०८ चारित्र चक्रवर्ती शांतिसागर आचार्य का उपदेश है और उन्हीं की सम्मति से करीब १५०००० डेढलाख का चन्दा किया गया है तदर्थ कमेटी भी बनायी गई है। कमेटी में कौन २ व्यक्ति है इसकी मुझे पूरी स्मृति नहीं है। इसलिए उनके नाम नहीं लिखे हैं। कमेटी ने और आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने इन दोनों पण्डितों को शायद सर्वाधिकार दिया होगा कि ताम्र पत्र पर कैसे भी लिखाओ वह हमको मान्य है। इसीलिये "किसी को भी नहीं निकालने देंगे" ऐसा खुले रूप में बोल रहे हैं।

इस पर हमारा निजमत यह है कि, यदि कमेटीने इन दोनो पण्डितों को अधिकार दिया हो तो क्या कमेटी को दिगम्बर आम्नाय का घात करने का अधिकार है ? लेकिन खुद आचार्य शांतिसागर जी महाराज तथा उनके अनुयायी दिगम्बर आम्नाय का घात करने को तैयार नहीं होंगे यह सत्य है त्रिकाल सत्य है।

३—मैं (क्षु० सूरिसिंह) पं० रामप्रसाद जी, प० मक्खनलाल जी मोरेना, पं० तनसुखलाल जी, पं० वर्द्धमान जी, पं० उल्फतराय जी मेंड, पं० उल्फतराय जी भिण्ड, पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य, पं० श्रीलाल जी अलीगढ़ इत्यादि का मत है कि यह प्रकरण द्रव्यस्त्री का है, भावस्त्री का नहीं है, इसलिये ताम्रपत्र मे 'सञ्जद' शब्द नहीं होना चाहिये वह निकालना ठीक है, ताड़पत्र मे जो सञ्जद शब्द पड़ा है वह प्रति करने वाले लेखक की भूल है। अस्तु।

मैं अभी ता० २८-१-१९४६ को मूडबिद्री गया था। वहां पर खास श्री भट्टारक पट्टाचार्य से निवेदन किया कि मुझे ताड़पत्र की श्री धवला जी की प्रति देखना है इसलिये मुझे दिखा दीजिये। उन्होने अनुमति देकर श्री पं० नागराज शास्त्री को तीनों प्रति अच्छी तरह दिखाने को कहा मैंने वहां जो अच्छी तरह से देखा सो आपके सामने रखता हूं।

(बम्बई में उनके फोटो हैं उनके ब्लोक बना कर के बम्बई पञ्चायत ने यदि छपा दिया तो सबको देखने में आ जायंगे, श्री पं० वर्द्धमान जी शास्त्री सोलापुर वालों ने भी सूत्रों को छपाया है मुझे तथा पण्डितो को कहा था कि 'सञ्जदट्ठ' शब्द है लेकिन उस पर किसी ने भी विचार नहीं किया)

मूडबद्री में श्री धवला जी की ताड़पत्र की प्रतियां तीन है उनमें दो जीर्ण तथा अपूर्ण हैं, एक पूर्ण है। फोटो पूर्ण प्रति का निकाला हुआ है। क्योंकि उसके पत्र सम्पूर्ण है विवादस्थ विषय के पत्र का फोटो भी दूसरी प्रति से उतारा गया है।

—विशद विवरण—

अ — प्रति जीर्ण और अपूर्ण है इसमें बहुत पत्र नहीं रहे है।

ब — प्रति जीर्ण है किन्तु 'अ' प्रति से कुछ कम पुरानी है इसके पत्र कुछ कम नष्ट हुये हैं।

क — प्रति उक्त दोनों प्रति से पीछे की लिखी हुई है अतः वह साधारणतः ठीक है तथा पूर्ण है।

तीनों प्रतियां स्याही से लिखी हुई हैं।

धवला जी की कागज की प्रतियां (एक कनड़ी लिपि की, दूसरी देव नागरी लिपि की) जिन ताड़पत्र की तीनों प्रतियों से नकल करके लिखी गई हैं वे ताड़पत्र की प्रतियां भी अधिक प्राचीन मालूम नहीं होतीं क्योंकि ताड़पत्र के प्राचीन ग्रन्थ सुई से ताड़पत्र

पर खोद पर श्याही से भरे पाये जाते हैं। किन्तु ये प्रतियां ताड़पत्र पर सुई से खुदे हुये अक्षरों वाली नहीं हैं, श्याही से लिखी हुई हैं। कागज वाली प्रतियां ५० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं हैं।

'क' प्रति के अक्षर सबसे मोटे हैं।

'अ' प्रति में विवादस्थ सञ्जद पद वाले ९३वें सूत्र वाला पत्र नष्ट हो चुका है।

'ब' प्रति में ९३वां सूत्र इस प्रकार है:—

'सम्मामिच्छादिट्ठि असंजदसम्मादिट्ठिसंजदासंजदट्ठ संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

वृत्ति—हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृश्यः किन्नोत्पद्यन्ते इतिचेन्नोत्पद्यन्ते। ·············कुतोवसीयते अष्मादेवार्षात अष्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निव्वृत्तिः सिद्ध्येत इतिचेन्न सवासस्त्वाद प्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपत्तेः भावसंयमस्तासां सवाससामथ्यविरुद्ध इतिचेन्न तासां भावासंयमोस्ति। भावासंयमाविनाभावी वस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।

इस प्रति में सूत्र में 'ट्ठ' शब्द है, वृत्ति में 'ष्मा' निव्वृत्ति ये दो अशुद्धियां हैं। 'संयमानुपत्ते' इस पद मे 'प' छूटा हुआ है। इतिचेन्न तासां भावासंयमोऽस्ति यह पद अधिक है।

क—प्रति में यह सूत्र ऐसे लिखा है—

सम्मा इ मिच्छाइट्ठि असञ्जद सम्माइट्ठि सञ्जदासञ्जदट्ठाणे णियमापज्जत्तियाओ ॥९३॥

इस तरह सूत्र म तीसरा अक्षर इ लिखकर फिर काटा हुआ है। वृत्ति में 'निर्वृत्तिः' शब्द है बाकी सब छपे हुए के समान है। तथा 'अस्मादेवार्षात' की जगह में यस्मदेवार्षात पद है। अस्तु।

उपरोक्त प्रकार दोनों ताड़पत्र की प्रतियों का उतारा देकर अब मैं अपना विचार प्रगट करता हूं। इस पर समाज के विद्वान लोग निष्पक्ष भाव से विचार करें।

ब—प्रति के लेखक महाशय जी ने जिस समय यह ताड़पत्र ग्रन्थ लिखा है उस समय की पहिली प्रति में 'सञ्जदासञ्जदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ'। ऐसा ही होगा फिर लिखते समय सञ्जदासञ्जदट्ट लिखा है फिर उस समय उसकी दृष्टि का संक्रमण हुआ है इसका क्या कारण हुआ यह कुछ नहीं कह सकते, दृष्टि संक्रमण के बाद लिखते समय मैं ने कितना लिखा है इसका विचार न करके आगे फिर संजदट्ठाणे इतना ज्यादा लिखा है ऐसा मालूम पड़ता है।

आगे लिखने के बाद भी उसने फिर मिलान नहीं किया ऐसा मालूम होता है। इस प्रकार 'संजद' २ पद हस्तदोष (लेखक की गलती) का स्पष्ट द्योतक है। ऐसा न मानने से एक जबरदस्त शङ्का यह खड़ी होती है कि 'संजदासंजद' के आगे 'ट्ठ' अक्षर क्यों पड़ है? यह एक विचारणीय स्थान है।

इस प्रति पर से 'क' प्रति लिखी गई है। उसके लेखक ने 'ट्ठ' अक्षर को छोड़कर सीधा लिख दिया है। क्योंकि उसने भी इस सूत्र को लिखते समया एक 'इ' अक्षर अधिक लिखा है फिर उसने उसको काटा है।

इसलिये ज्ञात होता है कि इन उपलब्ध प्रतियों के पहिले यानी 'अ' प्रति में सञ्जदासञ्जदट्ठाणे प होगा जिससे कागज प्रति के लिपिकारों ने उसी प्रकार लिखा है तथा निर्वृत्तिः शब्द भी उसी प्रति में होगा इसलिये कागज की प्रति शुद्ध हो गई है ऐसा साफ मालूम होता है। 'अ' प्रति में जो अब अनेक पत्र नहीं हैं इसका कारण मूडबद्री में यहीं ज्ञात हुआ है

कि कागज की प्रति लिपियां होने पर २५-३० वर्ष तक यह प्रति लोगों के दर्शन के लिये रखी थी उसके कई दफे निकलने तथा एक के हाथ से ही दर्शनार्थियों का कार्य न होने से कई पत्र टूट गये इस प्रकार होने से पत्र संख्या बराबर नहीं रही उसके बाद 'ब' प्रति दर्शन के लिये रखी थी उसमें से भी थोड़े पत्र नहीं रहे, वे भी नष्ट भ्रष्ट हो गये हैं।

जब कागज पर प्रति लिपि हुई तब तीनों प्रति अच्छी रही थीं इसलिये कागज की प्रति शुद्ध हो गई है ऐसा भी पं० नेमिराज जी शास्त्री ने कहा है उन्हों ने भी इन प्रतियों के प्रति लिपि में काम किया है।

एक बात इस प्रमाण को और भी पुष्ट करती है कि कागज की प्रति में 'निर्वृत्तिः' शब्द है। वह किस आधार से लेखक ने लिखा ? क्योंकि 'ब' तथा 'क' प्रतियों में क्रम से 'निव्वृत्तिः' तथा 'निवृत्तिः' ऐसा पाठ भेद साफ है। फिर कागज की प्रतिमें 'निर्वृत्तिः' ऐसा पाठ किस आधार से लिख सकते हैं ? इसके विचार करने पर 'अ' प्रतिमें ही निर्वृत्तिः शब्द होगा और उसीका उतारा किया है उसी 'अ' प्रतिमें संजदासंजदट्ठाणे ऐसा पाठ होगा इसलिये उसी प्रकार कागज के प्रति में आया है, ऐसा ज्ञात होता है।

तथा एक यह भी है कि, 'कागज की प्रति को 'अ' ताड़पत्र पर से संशोधन करके रखा था' यह बात सबके मुख से कही जाती है इसलिये 'अ' प्रति पर से संशोधन हो गया है ऐसा साफ मालुम होता है। अब उसमें वह पत्र नहीं होने से तथा पक्ष की खेंचतानी होनेसे यह सब विवाद हो रहा है।

यह मैं ने निष्पक्ष भाव से विचार करके जो मेरे मनोदेवताने कही है उसी प्रकार आप दिगम्बर जैन समाज के धीमान तथा श्रीमान तथा त्यागी गण तथा श्रावक श्राविका गणादिकों के सामने रखी है, वह योग्य है या अयोग्य है इसका विचार करें। ऐसा निवेदन है।

श्रीमान् तर्करत्न पं० माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य,

सहारनपुर।

"संयत पद के सम्बन्ध में मेरा अभिमत"

षटखण्डागम, राजवार्तिक, तथा अन्य ग्रन्थों का गवेषण करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि षटखण्डागम सूत्र ९३वें में 'संयत' शब्द नहीं है ताड़पत्र प्रति में लेखक के प्रमाद से जो संयत पद दृष्टिगोचर हो रहा है वह प्रक्षिप्त है।

इसकारण ताड़पत्र प्रति का साहाय्य लेकर ताम्रपत्र प्रति में संयत नहीं रखना चाहिये।

यदि ताम्रपत्र प्रति में संयत शब्द रहेगा तो श्री दिगम्बर जैन सम्बन्धी प्राचीन आम्नाय में बाधा पहुंचना सम्भव होगा।

श्रीमान् पं० श्रीलाल जी पाटनी

अलीगढ़ ।

—: सप्रमाण सम्मति :—

माननीय उपस्थित विद्वन्मण्डली !!!

यहां विचार इतना ही है कि जब पहले सूत्रों में सामान्य रूप से निरूपण किया वहां 'सञ्जद' शब्द दिया ही गया—पश्चात्-मनुष्य पर्याप्तों में भी ग्रन्थकारों ने—उसे माना हो—अब इस ६३वें सूत्र में केवल स्त्री पर्याप्तों के लिये कथन है। जब उनमें पञ्चम गुणस्थान से अधिक गुणस्थान होता नहीं-फिर वहां सञ्जद शब्द सर्वथा असंबद्ध है जो कि सिद्धांत विरुद्ध है। केवल वहां लिख जाने से उसे ठीक मानना भ्रम है। मै एक नहीं हजारों पुस्तकोंमें 'उत्तम क्षमा मार्दवार्जव' सूत्रमें सत्यधर्मका पाठ शौचसे पहले लिखा दिखा सकता हूं परन्तु पहले शौच है पीछे सत्य इसलिये लिखने मात्र से महत्व नहीं रहता—उसकी परिभाषा ही मिलानी पड़ती है। कोई ग्रन्थकार ने तो उसे लिखा ही नहीं है, लिखा तो लेखक ने ही है।

दूसरी बात यह है कि जब स्त्री पर्याप्तों में ग्रन्थकार के चौथे से १४ गुणस्थान तक लिखने अभीष्ट होते तो—'पहुडिजाव' लिखना था जैसे कि उनकी लेखन शैली है—सो है नहीं। अतः सञ्जद शब्द नहीं चाहिये। इस पर श्री० पं० रामप्रसाद जी का लिखना ठीक है उसमें मेरी पूर्ण सम्मति है।

विशेष सब विद्वान दूसरे अङ्क में लिख ही चुके हैं उसमें काट छांट करना उचित नहीं है।

श्रीमान् पं० नन्दकिशोर जी शास्त्री,

मथुरा ।

वर्तमान में षट्खण्डागम के सूत्र संख्या ६३वें में सञ्जद शब्द रखने, न रखने बाबत विद्वानों पर परस्पर गम्भीर मत भेद चल रहा है समाचार पत्रों में भी अनुकूल प्रतिकूल लेख प्रकाशित हुये हैं वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे सहयोगी विद्वानों ने सूत्र के पूर्वापर सम्बन्ध तथा जैन सिद्धांत पर भली प्रकार गवेषणा नहीं की है अन्यथा इतना विवाद नहीं बढ़ता 'सञ्जद' शब्द के नहीं रखने से ही दि० जैन सिद्धांत का संरक्षण होता है द्रव्यवेद और भाववेद की चर्चा विचारणीय समस्या है संजद को सूत्रमें रखनेसे द्रव्यवेदी स्त्री को चौदह गुणस्थान सिद्ध होते हैं जोकि सिद्धांत घातक है यदि इस सूत्र से भावस्त्री को लिया जावे तो द्रव्यस्त्री के पांच गुणस्थानों के लिये षट-खण्डागम के किस सूत्र से व्यवस्था हो सकेगी। इसे विद्वान समझाने की कृपा करेंगे तो उभय पक्ष एक मत हो जांयगे ऐसी मेरी धारणा है। इस सूत्र की

और इससे पूर्व सूत्रों की धवला टीका के पढ़ने से तो यह स्पष्ट हो रहा है कि यहां का विषय द्रव्यस्त्री का ही है भावस्त्री का होता तो भावस्त्री के द्योतक कोई संकेत होते। सूत्रकार की शैली से तो इस सूत्र में सञ्जद शब्द को रखने की गुञ्जाइश बिल्कुल नहीं है। अतएव ताम्रपत्र प्रति में इस शब्द का संयोजित करना सर्वथा असङ्गत है।

अजितकुमार जैन शास्त्री,

मुलतान।

दि० जैन आर्ष सिद्धांत ग्रन्थों का मूल स्रोत षट्खण्ड आगम है, उसी के अनुसार समस्त सिद्धांत ग्रन्थों की रचना हुई है। उसके प्रतिकूल सैद्धांतिक विधान किसी भी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता।

दिगम्बर जैन सिद्धांतानुसार स्त्री शरीर मोक्ष प्राप्ति की योग्यता नहीं रखता। उसका यह विधान कर्म सिद्धांत से बिल्कुल ठीक बैठता है इसका खुलासा विवरण इस ग्रन्थ के प्रथम, द्वितीय अंश में तथा इस तृतीय अंश में (पीछे) आ चुका है।

स्त्री पर्याय से मुक्त होने की अयोग्यता का विधायक सूत्र भी षटखण्ड आगम में अवश्य होना चाहिये जिसके अनुसार आगामी परम्परा में स्त्रीमुक्ति निषेध का विधान चलता रहा।

षटखण्ड आगम जीवस्थान सत्प्ररूपणा के जिस ९३वें सूत्र के विषय मे विवाद चल पड़ा है उसके विषय में पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक सूरिसिंह जी ने जो प्रकाश डाला है वह समुचित प्रतीत होता है। अतः यह ज्ञात होता है कि मूड़बद्री की सबसे प्राचीन ताड़पत्र की 'अ' धवला प्रति में इस सूत्र में 'सञ्जद' पद न था उससे नकल की गई 'ब' प्रति में लेखक के प्रमाद से कुछ अशुद्धि के साथ 'सञ्जद' शब्द आया फिर उस 'ब' प्रति से नकल की गई 'क' प्रति में लेखक ने बीच की अपभ्रष्ट अशुद्धि 'ट्ठ' को भी छोड़ दिया सीधा 'सञ्जदासञ्जद' शब्द के आगे 'सञ्जद' पद जोड़ दिया।

किन्तु कागज पर उतारी गई धवला की प्रति उक्त तीनों ताड़पत्र की प्रतियों से मिलान करके लिखी गई अतः 'अ' प्रति के अनुसार उनमें 'सञ्जद' पद न आ पाया।

इस क्रमिक अशुद्धि विकास पर श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी को तथा ताम्रपत्र पर धवला लिखाने वाले विद्वानों को वीतराग भाव से विचार करना चाहिये क्योंकि कागज प्रति के लेखक पं० नेमिराज जी शास्त्री अभी विद्यमान हैं और वे कहते हैं कि—

ताड़पत्र की 'ब' 'क' प्रतियों की अपेक्षा कागज की प्रतियां इसलिये अधिक शुद्ध हैं कि ताड़पत्र की 'अ' प्रति उस समय पूर्ण थी और हमने तीनों प्रतियों से मिलान करके कागज पर धवला को लिखा है।

उनकी इस सरल बात से परिणाम निकलता है कि इस सूत्र में 'सञ्जद' पद नहीं होना चाहिये।

श्री वीरसेन स्वामी ने धवला में इस ग्रन्थ के अन्य सूत्रों द्वारा बतलाये भावस्त्री के १४ गुणस्थानों को लेकर प्रश्न उत्तर लिखे हैं।

सम्पादकीय—

—सम्पादकदृष्ट सैद्धान्तिक-सुनहला प्रकाश—

दिगम्बर जैन धर्म का अटल सिद्धांत है कि द्रव्य-स्त्री उसी भव से मोक्ष लाभ नहीं प्राप्त करती इस सिद्धांत को श्रीमान प्रोफेसर हीरालाल जी साहब मुनि श्री कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा प्रतिपादित कह कर प्राचीन नहीं मानते हैं इसमें हेतु देते हैं कि 'यह बात प्राचीन होती तो प्राचीन षटखण्डागम के सूत्रो में भी पाई जाती' परन्तु यह आपकी दलील निर्हेतुक है कारण कि एक तो षटखण्डागम श्री कुन्दकुन्द स्वामी से पुराना हो यह बात भी निश्चित नहीं है इस बात का समुचित उत्तर मेरे ट्रैक्ट के आदि में दिया गया है दूसरे आपने षटखण्डागमके सूत्रोंका निरीक्षण भी सावधानी के साथ सैद्धांतिक पद्धति से नहीं किया है जो कि पूर्वापर सम्बन्ध की पूर्ण अपेक्षा रखता है। 'षटखण्डागम के ६३वें सूत्र में जो पर्याप्त शब्द दृष्टिगोचर हो रहा है वह ही इसी बात का सूचक है जो श्री कुन्दकुन्द स्वामी का सिद्धांत है वह अनादि अमर तीर्थङ्कर प्रतिपादित सिद्धांत है क्योंकि मोक्षोपयोगिता में जहां कहीं भी व्रत विधानादिका वर्णन है वह पुरुष अपेक्षित है मोक्ष शास्त्र तत्वार्थ सूत्र जो कि उभय सम्प्रदाय-मान्य है तथा प्राचीन श्रावकाचार रत्नकरण्डादिक हैं उनमें भी यही बात है तथा पुराणों में प्राचीन पद्म पुराणादिक हैं उनमें भी कहीं पर यह बात नहीं पाई जाती जो कि द्रव्य स्त्री के मोक्ष की साधक हो। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में (हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च। पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः सज्ञस्य चारित्रम्) इस श्लोक में संज्ञस्य शब्द पुरुष के लिये सूचक है न कि स्त्री के लिये। तथा तत्वार्थसूत्र मोक्ष शास्त्रमें 'स्त्रीरागकथा श्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षण' इत्यादि सूत्रों से या श्वेताम्बर मान्य भाष्य से भी यह ही बात पाई जाती है। इससे सिद्ध है कि पुरुषोंके लिये ही साक्षात उस शरीर से मोक्ष जाने का विधान है श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जो स्त्री के लिये मोक्ष का विधान किया कहा जाता है या पाया जाता है वह पीछे का सम्प्रदाय भेद के लिये किया गया है। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

जो आचार्य भूतबलि पुष्पदन्त ने षटखण्डागम के सूत्र ६३ में पर्याप्त शब्द के साथ स्त्री के पांच आदि के गुणस्थानों का विधान किया है तथा आगे के सूत्रों में जिस जगह १४ गुणस्थानों का विधान किया है वहां मनुष्य के साथ पर्याप्त शब्द को सूत्रों में देखते हैं परन्तु मनुष्यणी के साथ नहीं देखते इससे भी स्पष्ट है कि पर्याप्त-शब्द द्रव्य का वाचक है। पर्याप्तियां हैं वे छह प्रकार क पुद्गल द्रव्य की शक्ति विशेष है शास्त्रकारों ने शक्ति की पूर्णता को ही तो पर्याप्ति कहा है। शक्ति को गुण कहते हैं जो गुण होते हैं वे द्रव्य के आश्रय ही रहते हैं इसलिये स्पष्ट सिद्ध है कि अपने २ कार्य पूर्ण विशिष्ट जो जो

शक्ति है वह ही पर्याप्ति है वह एक शक्ति विशेष है और शक्तिमान जो पदार्थ है वे सर्व पर्याप्ति के आधार पुद्गल द्रव्य हैं उनसे बना हुआ जो शरीर है वह द्रव्य ही तो हुआ उससे जुदा वह और क्या पदार्थ हो सकता है। षटखण्डागम के समय में इसे पर्याप्त कहते थे पीछे स्पष्टता के लिये उसीको 'द्रव्य' शब्द से कहा है इसलिये षटखण्डागम के सूत्रों में जो बात है वही बात पीछे के आचार्यों के मत में है केवल शब्द भेद का फर्क है।

कुछ विद्वानों ने इसी सतप्ररूपणा के ६३वें सूत्र के टिप्पण में 'सञ्जद' शब्द जोड़ दिया है उनका विशेष विचार का विषय नहीं है उसका तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि इस सूत्र में आये हुये 'पर्याप्त' शब्द पर ध्यान नहीं दिया है तथा आगे के सूत्रो में भी मनुष्यके साथ आये 'पर्याप्त' शब्द पर और मनुष्यणी के साथ न आये 'पर्याप्त' शब्द पर भी ध्यान नहीं दिया है। असलियत में बात यह है कि आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि की इस विशेष कृति पर किसी का भी ध्यान नहीं गया है। वेद वैषम्य की सिद्धि तो आचार्य की यह विशेष कृति ही सिद्ध कर देतीहै। यदि वैषम्य कोई पदार्थ ही न होता तो आ-चार्य आगे के सूत्रोमे जहां पर मनुष्य और मनुष्यणी के १४ गुणस्थान बतलाये हैं वहां मनुष्यणीका विधान ही न करते परन्तु वहां पर मनुष्यणी का विधान किया वह भी बिना पर्याप्त के किया है इससे सिद्ध है कि वेद वैषम्य अवश्य होता है। इस विषय की चर्चा प्रोफे० हीरालाल जी ने कलकत्ते में पण्डितों के साथ चलाई थी परन्तु उस चर्चा में हीरालाल जी अपने प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सके थे पण्डितोंने सिद्ध कर दिया था कि वेद वैषम्य दिगम्बर सर्व शास्त्रीय मान्य है तथा युक्ति से भी उसकी सिद्धि होती है यह वेद वैषम्य श्वेताम्बर शास्त्रीय मान्य भी है। फिर अकेले हीरालाल जी के युक्ति आगम शून्य वेद वैषम्य को न मानने को अर्थात् उनकी मानी हुई मान्यता पर कौन विश्वास कर सकता है। वेद वैषम्य की बात को जो शास्त्रकारों ने शास्त्रों में प्रदर्शित की है उसका सिर्फ एक ही मुख्य विषय है और वह केवल मोक्षोपयोगिता के सम्बन्ध से है अन्यथा मोक्षोपयोगी शास्त्रों में उस विषय के लाने की आवश्यकता भी कुछ नहीं थी।

जीव विपाकी—जिसका जीवमें विपाक 'परिणाम' हो। जैसे ज्ञानावरण इसका सम्बन्ध ज्ञान गुण के साथ है इसलिये यह जीव विपाकी है क्योंकि ज्ञान गुण खास जीव का गुण है। पर्याप्तियां भी जीव विपाकी हैं। इनका विपाक जीव के किस गुण में होता है जब यह विचार किया जाता है तो किसी एक खास गुण में इनका विपाक न होकर जीवन गुण के कारण जो समुदाय रूप गुण हैं उनमें होता है जैसे कि असिद्धत्व सर्व प्रकृति साध्य है उसी तरह जीवन गुण भी अनेक गुण साध्य है असलियत में आयु प्रकृति के साथ जीवन गुण का सम्बन्ध है जब तक आयु के निमित्त से जीवन का सम्बन्ध रहता है तब तक इनका विपरिणमन जो अपना शक्ति है (गुण है) उसकी पूर्णता रूप सामार्थ्य विद्यमान रहती है इसी कारण ये पर्याप्तियां जीव विपाकी कही जाती हैं असलियत मे तो ये पुद्गल ही है इनका जो निर्माण हैं वह आंगोपांग नामकर्म के निमित्त से होता है इसी लिये इनके निमित्त से पुरुष पर्याय है

वह द्रव्य पुरुष और स्त्री पर्याय है वह द्रव्य स्त्री हो जाते हैं नपुंसक पर्याय है वह भी इन्ही पर्याप्तियोंके पुद्गल द्रव्य से निर्मित्त होती है इसलिये द्रव्य-नपुंसक होती है।

षटखण्डागम में इसी हेतु से अर्थात पर्याप्त शब्द विधान और नहीं विधान (अविधान) से द्रव्य और भाव ये दो भेद नियोजित किये हैं। दो भेद नियोजित करके भी जिस भेद में जो गुणस्थान होते हैं उनका भी स्पष्ट रूप से विधान किया है। इसी तत्व को लेकर वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका में द्रव्य और भाव भेद का विधान करके जो वर्णन किया है वह षटखण्डागमके सूत्रोंका मुख्य स्पष्टीकरण है उससे ही ज्ञात होता है कि द्रव्य और भाव यह भेद मुख्य षटखण्डागम का है क्योंकि यह भेद उनकी सूत्र रचना से स्पष्ट प्रतीत हैं। अतः मानना होगा कि जो षटखण्डागम मान्य है वह ही सर्व आचार्य मान्य है। अन्य ग्रन्थकारों द्वारा जो द्रव्य और भाव भेद द्वारा गुणस्थानोंका विधान है वह इन्हीं षटखण्डा गम सूत्रोंका स्पष्टीकरण रूप है। यह सर्व लेखनशैली की कुशलता है जो कि सूत्र की सूत्रता की सूचक है।

—सम्पादक

—श्रीमान् प्रोफेसर हीरालाल जी से—

* विवादस्थ विषय की चर्चा *

वीर शासन महोत्सव कलकत्ता में बहुत से विद्वान सम्मिलित हुये थे। उस समय प्रो० हीरालाल जी भी आये हुये थे अतः विद्वत्परिषद में यह विचार हुआ कि जिन विषयों को लेकर प्रोफेसर हीरालाल जी ने चर्चा उठाई है उसके विषय में चर्चा करने केलिये यदि वे तैयार हों तो आमने सामने बातचीत हो जानी अच्छी है। रूपरेखा बनाते समय यह निश्चय हुआ कि विद्वत्समाज की ओर से एक वक्ता ही बोले। तदनुसार यह अधिकार पं० राजेन्द्रकुमार जी प्रधानमन्त्री-सङ्घ को दिया गया। साथ ही विद्वत्परिषद के मन्त्री पं० सुमेरुचन्द जी दिवाकर से कहा गया कि वे प्रोफेसर सा० से पत्र लिखकर पूछें कि वे कब और कहां चर्चा के लिये तैयार हैं? पं० सुमेरुचन्द जी ने बतलाया कि हमने आज प्रातः उनसे बातचीत की थी वे चर्चा करने के लिये तैयार हैं। तब पण्डित जी से कहा गया कि वे स्वीकृति प्राप्त करलें। तदनुसार पं० सुमेरुचन्द्र जी ने प्रोफेसर सा० को निम्न आशय का पत्र लिखा—

प्रिय प्रोफेसर हीरालाल जी!

जुहारु—आज आपके साथ स्त्री मुक्ति, केवली कवलाहार आदि विषयों पर चर्चा निमित्त विद्वन्मण्डल को हमने १२ बजे के लगभग जैन भवन में पधारने की सूचना दे दी है और उनकी स्वीकृति भी प्राप्त हो गई है। आप कृपया उस

समर्थ पधारें। स्नेही-सुमेरुचन्द दिवाकर।

विशेष—कृपया स्वीकृति जरूर भेजें।

यह पत्र पं० नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य अध्यक्ष जैन सिद्धांत भवन आरा ले गये थे और उनसे ज्ञात हुआ कि प्रोफेसर सा० करीब १ बजे चर्चा के लिये आने वाले हैं तदनुसार करीब १ बजे प्रोफे० साहब हीरालाल जी प्रेमी जी व बैरिस्टर जमनाप्रसाद जी जज के साथ जैन भवन में विद्वानों के निवासस्थान पर पधारे। तदनन्तर सब मिलकर वहां से व्याख्यान भवन में गये। वहां पहुंच कर चर्चा किस क्रम से की जाय यह तय किया गया।

निश्चय हुआ कि प्रोफेसर हीरालाल जी की ओर से वे स्वयं चर्चा करेंगे और दूसरी ओर से पं० राजेन्द्र कुमार जी चर्चा करेंगे। तथा जिस उत्तर को दूसरी ओर का विद्वान लिखकर चाहेगा वह लिखकर दे दिया जायगा। मध्यस्थ का काम पं० कन्हैयालाल जी मिश्र 'प्रभाकर' को सर्व सम्मति से सौंपा गया। जो अपने समय तक उन्हों ने बड़ी योग्यता से निभाया।

चर्चा का प्रारम्भ प्रोफे० हीरालाल जी ने किया उन्होंने बतलाया कि ऐसा नियम है कि ओरिन्टियल कान्फ्रेंस में कुछ विषय विद्वानों में परस्पर चर्चा के लिये रखे जाते हैं। इस साल मैं इस सभा के प्राकृत व जैनधर्म विभाग का अध्यक्ष था। अतः मैंने सोचा कि जिन कारणों से दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो फिरके हैं उन कारणों पर विचार करने के लिये चर्चा उठाई जाय। यह तीन विषय स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र सिद्धि और केवली कवलाहारी हैं। दिगम्बर परम्परा में ये तीनों बातें स्वीकार नहीं की गई है किन्तु श्वेताम्बर इन्हें मानते हैं। अतः मैंने दिगम्बर परम्पराके ग्रन्थोंपर से इनको कान्फ्रेंसमें बतलाने का प्रयत्न किया था। इस पर मैं ने पहले से एक पर्चा छपाया था जिसका उद्देश्य चर्चा था, प्रचार नहीं। मैंने इसका प्रचार नहीं किया। किन्तु किसी प्रकार से यह पर्चा बम्बई पञ्चायत को मिल गया। अतः उस ने इसका प्रचार किया है।

मै दूसरे विद्वानों की सहायता से धवला ग्रन्थ का सम्पादन करता आ रहा हूं। प्रारम्भ में मैं इस सैद्धांतिक विषय को बिलकुल नहीं जानता था उस समय जो विद्वान अनुवाद करते थे उन्हीं की सलाह पर मुझे निर्भर रहना पड़ता था। धवलके प्रथम भाग के ९३वें सूत्रमें 'संजद' पद उस समय के विद्वान पं० फूलचन्द जी व पं० हीरालाल जी की सलाह से ही जोड़ा गया था। अभी पं० फूलचन्द जी के साथ जैन सन्देशमें वेद वैषम्य को लेकर बड़े ही अच्छे ढङ्ग से चर्चा चल रही है। अब भी यदि वेद वैषम्य सिद्ध हो जाय तो मेरी सब शङ्कायें दूर हो जांयगी।

इस पर पं० राजेन्द्र कुमार जी ने कहा कि मैं प्रोफेसर साहब के इस कथन से सहमत नहीं कि प्रोफेसर सा० ने उक्त पर्चा चर्चा के लिये ही छपाया था। ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध किया जा सकताहै कि उन्होंने उक्त परचे का प्रचार भी किया। जब वे ओरिन्टियल कान्फ्रेंस में बनारस आये थे तब तक उन्होंने बनारस के विद्वानों के पास व मेरे पास यह पर्चा नहीं भेजा था किन्तु दूसरी जगह वे इसके पहिले ही परचा भेज चुके थे। एक पत्र से केवल हमें इतना ही मालूम हुआ था कि वे किसी गम्भीर विषय पर चर्चा करना चाहते हैं। मैं भी उस समय बनारस आगया था। प्रोफेसर सा० के आने पर १० बजे दिन के मैं पं० कैलाशचन्द्र जी व पं०

फूलचन्द जी उनसे मिलने को गये। किन्तु मालुम हुआ कि वे पं० सुखलाल जी के यहां गये हुये हैं। अतः हम लोग वहां पहुंचे। मालुम हुआ कि वे यहां नहीं है किन्तु पं० सुखलाल जी के साथ पार्श्वनाथ विद्यालय में भोजन के लिये गये हुये हैं।

तब तक हम लोग वहीं पर कुरसियों पर बैठ गये। सामने एक मेज रखी थी उस पर हम लोगों की दृष्टि गई। देखा कि कुछ छपे हुये परचे रखे हुये हैं उठाकर देखा तो ये वे ही परचे निकले जिनमें स्त्रीमुक्ति आदि की सिद्धि की गई थी। आप लोग भल ही इसे पाप समझें किन्तु हम लोगों ने उनमें से कुछ परचे उठाकर अपनी जेबों में रख लिये। साथ ही यह निश्चय किया कि जब तक प्रोफे० सा० स्वयं इस विषय की चर्चा नहीं करेंगे तब तक इस विषय की चर्चा को नहीं छेड़ना चाहिये। इसके बाद वे शाम को आमन्त्रित होकर विद्यालय में भी आये। उन्होंने और विषयों पर अनेक चर्चायें भी कीं किन्तु इस विषय में एक अक्षर भी नहीं कहा।

हां! रात्रि को जब वे पं० फूलचन्द जी को ले कर शहर घूमने गये तब अवश्य उन्होंने पं० जी को एक परचा दिया। यद्यपि खुले अधिवेशन में अन्त में इस चर्चा का प्रारम्भ प्रोफे० हीरालाल जी ने किया था मैं पं० कैलाशचन्द्र जी तथा पं० फूलचन्द जी इसके विरोध में भी बोले थे किन्तु वहां इतना कम समय मिला जिससे इसकी विस्तृत चर्चा न की जा सकी।

इसके बाद में व पं० कैलाशचन्द्र जी दूसरे दिन प्रोफेसर सा० से मिले थे। कुछ विचार विनियम के बाद हम लोगोंने चुप्पी साध ली आशा थी कि प्रो० साहब अपने विचारों को स्वयं बदल लेंगे। किन्तु अब स्थिति ऐसी आ गई है जिससे इधर ध्यान देना जरूरी है।

इसके बाद पण्डित जी ने कहा कि प्रोफेसर सा० ने जो पर्चा छपाया है उसी क्रम से विचार किया जाय किन्तु प्रोफेसर सा० इस बात से सहमत न हुये और उनका कहना रहा कि मैंने जो इस समय वेद वैषम्य का प्रश्न उपस्थित किया है यदि उसका समाधान हो जाय तो मेरी सब शङ्काओं का समाधान हो जायगा।

अन्त में पण्डित जी ने उनकी बात स्वीकार कर ली और प्रोफेसर सा० के सामने गोम्मटसार जीव-कांड की गाथा २७१ उपस्थित की जिसमें स्पष्टतः वेद-वैषम्य स्वीकार किया गया है। उसके चौथे चरण में बतलाया है कि वेद प्राय: सम रहता है और कहीं विषम रहता है। यथा—

'पाएण समा कहिं विसमा'

प्रो० हीरालाल जी—जो पुत्र को जनता है वह पुरुष है, जो गर्भ धारण करती है वह स्त्री है और जिसमें ये दोनों बातें नहीं पाई जाती हैं वह नपुंसक है, पुरुषवेद आदि के उन लक्षणों को देखते हुये विषम-ता बन नहीं सकती।

पं० राजेन्द्रकुमार जी—यह स्त्री, पुरुष और नपुंसक का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है। स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुंसकवेद के लक्षण इससे भिन्न हैं जो स्वयं जीव-कांड की गाथाओं में बतलाये हैं। इसके बाद जीव-कांड की वे गाथायें प्रोफेसर सा० को बतलाई गई और आगे पण्डित जी ने कहा कि उन लक्षणों को देखते हुये विषमता को स्वीकार कर लेने में कोई बाधा उपस्थित नही होती। पर इतना सही है कि यह विषमता कर्मभूमि में ही उपस्थित होती है

प्रन्थित्र ... जैसा कि जीवकांड की २७१वीं गाथा की टीका से विदित होता है।

प्रो० हीरालाल जी—यद्यपि उक्त टीका में वेद वैषम्य के नौ भङ्ग गिनाये गये हैं तो भी वहां इनकी सिद्धि के लिये जो युक्ति दी है (यहां पर प्रोफे० सा० ने उक्त टीका को पढ़कर सुनाया और आगे युक्ति का उल्लेख करते हुये कहा कि उक्त टीका में जो यह युक्ति दी है) कि क्षपक श्रेणी के अनिवृत्ति—करण गुणस्थान तक द्रव्य पुरुष के तीन वेद का करण करने के लिये ही दिगम्बरों ने वेद वैषम्य को स्वीकार किया है।

पं० राजेन्द्रकुमार जी—यदि प्रोफे० सा० का यह कहना सच है कि दिगम्बरों ने स्त्रीमुक्ति के खण्डन केलिये वेद वैषम्य को स्वीकार किया है तो श्वेतांबर परम्परा में वेद वैषम्य नहीं पाया जाना चाहिये था। मैं श्वेताम्बर परम्परा के यहां पचासो प्रमाण उपस्थित करने को तैयार हूं जिनसे वेद वैषम्य की सिद्धि होती है। (यहां बीचमें ही प्रोफे० सा० बोले कि मुझे मालूम है उनकी आवश्यकता नहीं) आगे पण्डित जी ने कहा कि आशा है प्रोफेसर साहब अब भी अपना मत बदल लेंगे।

प्रो० सा०—जब आप श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ नहीं मानते तब आपको उनके प्रमाण उपस्थित नहीं करना चाहिये। आपको तो केवल दिगम्बर ग्रन्थोंके आधारसेही वेदवैषम्य सिद्ध करना चाहिये।

पं० रा०—दिगम्बर ग्रन्थो के आधार से वेद वैषम्य है यह तो जीवकांड की गाथा २७० से ही मालूम पड़ जाता है। अब रही श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों की बात; सो यहां उनकी प्रमाणता और अप्रमाणता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। यहां दिखाना तो यह है कि यदि स्त्री मुक्ति के खण्डन के लिये दिगम्बरों ने वेद वैषम्य स्वीकार किया होता तो इसका उल्लेख श्वेताम्बर ग्रन्थों में न मिलता। चूंकि यह चर्चा समान रूप से दोनों परम्परा के ग्रन्थों में पाई जाती है इससे स्पष्ट है कि यह मान्यता सत्य है, किसी एक सम्प्रदाय ने किसी कार्य विशेष के लिये इसकी कल्पना नहीं की।

प्रो० ही०—फिर टीकाकार ने उपर्युक्त युक्ति क्यों दी है?

पं० रा०—यह तो सिद्धांत व्यवस्था के उद्घाटन का एक प्रकार है। आप तो ऐसा आगमिक प्रमाण उपस्थित कीजिये जिससे जीवकांड की गाथा २७० के 'पाएण समा कहिं विसमा' इस अंश का खण्डन हो?

प्रो० ही०—कर्म सिद्धांत के अनुसार वेद वैषम्य घटित नहीं होता?

प० रा०—कर्म सिद्धांत के अनुसार वेद वैषम्य बनता है या नहीं इसका भी अपन विचार करेंगे। पर यह तो न रहा कि स्त्रीमुक्ति के खण्डन के लिये दिगम्बर परम्परा में वेद वैषम्य स्वीकार किया गया है।

(इतनी चर्चा से जनता और अध्यक्ष की समझ में यह निष्कर्ष आ गया था कि जब दोनों परम्पराओंमें वेद वैषम्य स्वीकार किया गया है तो 'स्त्रीमुक्ति के खण्डन के लिये वेद-वैषम्य स्वीकार किया गया है।' यह बात नहीं रहती।)

—उक्त चर्चा के होने पर,—

साहु शान्तिप्रसाद जी—(जो मध्य में आ गये थे और तब से सर्व सम्मति से वे ही अध्यक्ष पद पर थे) ने निर्णय दिया कि—

वेद वैषम्य जब दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में लिखा है इसलिये यह तो रहा नहीं कि स्त्रीमुक्ति के खण्डन के लिये दिगम्बरों ने वेद वैषम्य स्वीकार किया है। प्रोफेसर साहब की यह बात तो कट गई फिर भी वे अपनी बात को वापस लेना चाहें तो ले सकते हैं और दूसरे प्रकार से अपना पक्ष रख सकते हैं।

इसके बाद कर्म सिद्धांत के अनुसार वेद वैषम्य बनता है या नहीं इस विषय को लेकर चर्चा हुई—

प्रो० सा०—भाववेद के उदय के अनुसार ही द्रव्यवेद बनेगा, क्योंकि वेद के उदय के अनुसार ही आंगोपांग का उदय होता है ?

प० रा०—भाववेद के अलग कारण हैं और द्रव्यवेद के अलग। जीवकांड की गाथा २७१ में बतलाया है कि पुरुषवेद आदि के उदय से भाव की अपेक्षा पुरुष आदि होते हैं और आंगोपांग नामकर्म के उदय से द्रव्यवेद होता है। यहां पण्डित जी ने उस गाथा को उपस्थित किया जो निम्न प्रकार है—

पुरिसिच्छि संढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओभावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा ॥२७१॥

आगे पण्डित जी ने कहा कि इससे स्पष्ट है भाव वेद के अनुसार ही द्रव्यवेद होता है यह बात नहीं रहती। यह कहीं भी नहीं बतलाया कि वेद के उदय के अनुसार ही आंगोपांग का उदय होता है। फिर भी प्रोफेसर सा० यदि इसका गठबन्धन मानते हैं तो उसका कारण या प्रमाण उपस्थित करना चाहिये।

इस पर अध्यक्ष ने पण्डित जी से चर्चा की—

शाहु सा०—जब हर एक के अलग अलग कारण बतलाये हैं तब वेद वैषम्य का कारण होगा ही—

पं० रा०—अवश्य; वेद वैषम्य का कारण कर्म-भूमि के साधनों की अनियमितता है जहां यह अनियमितता नहीं पाई जाती वहां वैषम्य नहीं होता।

साहु सा०—पुरुष का शरीर रहते हुये भी स्त्री की भावना हो सकती है ?

पं० रा०—हो क्या सकती है होती हुई पाई जाती है। जीवकांड की गाथाओं में स्त्रीवेद आदि का लक्षण किया है उसके अनुसार यहां वेद वैषम्य का प्राचुर्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है। और थोड़ी देर को वही लक्षण मुख्य मान लिया जाय कि जिससे स्त्री के साथ रमने की अभिलाषा हो वह पुरुष वेद है और जिससे पुरुष के साथ रमने की इच्छा हो वह स्त्रीवेद है और जो इन दोनों से रहित हैं वह नपुंसकवेद हैं तब भी वेद वैषम्य बन जाता है ऐसे कितने ही पुरुष मिलेंगे जो दूसरे पुरुषों से रति करते हुये और उसमें आनन्द मानते हुये पाये जाते हैं जिन्हें स्त्री का श्रृङ्गार अच्छा लगता है, स्त्रियों में ही घुल मिलकर रहना पसन्द करते हैं। ऐसी स्त्रियों की भी कमी नहीं जो पुरुषों का आचरण करती हुई पाई जाती हैं।

प्रोफेसर साहब को एक जगह जाना था इसलिये उस दिन की चर्चा स्थगित कर दी गई और दूसरे दिन प्रातः काल के लिये चर्चा रखी गई।

किन्तु प्रोफेसर सा० के जाने के बाद भी शाहु सा० पण्डित जी से समझने की दृष्टि से चर्चा करते रहे उस चर्चा में उन्होंने एक प्रश्न यह भी किया कि जब वेद वैषम्य है तो जिस स्त्री के पुरुष की भावना है वह मोक्ष क्यों नहीं जाती। इसका उत्तर

पण्डित जी ने दिया कि स्त्री के पुरुषों के समान दृढ़-संहनन नहीं होता। यह बात प्रत्यक्ष भी दिखाई देती है; अतः द्रव्य स्त्री को मुक्ति लाभ नहीं होता। शाहु जी को यह बात बहुत जंची।

—दूसरे दिन की चर्चा—

दूसरे दिन प्रातःकाल पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के सभापतित्व में जैन भवन में ही चर्चा हुई। आज चर्चा का प्रारम्भ पं० राजेन्द्रकुमार जी ने किया।

पं० राजेन्द्रकुमार—मैं वेद की समानता असमानता का विचार प्रो० सा० के परचे की पंक्तियों पर से करता हूं। दो जोड़े आपके सामने हैं इन्द्रिय का और वेद का। अब प्रोफेसर साहब बतलावें कि भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय की समानता के समान भाववेद और द्रव्यवेद में समानता कैसे रहती है?

प्रो० हीरालाल जी—पण्डित जी ही बतलावें कि इन्द्रियों में समानता क्यों रहती है और वेद में समानता क्यो नहीं रहती?

पं० रा०—जीव के जाति नामकर्म के उदय प्रारम्भ से ही होता है अतः उसके अनुसार एक ओर ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है और दूसरी ओर आंगोपांग बनता है अतः द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय मे समानता रहती है। किन्तु द्रव्यवेद और भाववेद को जोड़ने वाला वैसा कोई भी माध्यम नहीं है। अतः इन दोनोमे असमानता भी पाई जाती है जो अधिकतर बाह्य निमित्तों के अनुसार होती है।

प्रोफे० सा०—द्रव्य वेद जीवन में बदलता है या नहीं?

पं० रा०—नहीं बदलता?

प्रो० ही०—क्यों नहीं बदलता?

प० रा०—नहीं बदलता उसका स्वभाव है और आगम में भी ऐसा ही बतलाया है।

(इस बीच में यह खबर आई कि कुछ जिम्मेवार भाई जिनका नाम प्रगट करना यहां उचित नहीं श्वेताम्बर भाइयोंको ऊधम करने केलिये भड़का रहे हैं यह पोल तब ही खुली थी किन्तु इस ओर ध्यान न देने का निश्चय किया गया उसका फल भी अच्छा हुआ अर्थात् उन महाशय की यह चाल न चली और श्वेताम्बर भाई भी बड़े प्रेम से आत्मीयता के साथ इस चर्चा मे भाग लेते रहे।

प्रो० ही०—द्रव्य वेद के कितने भेद हैं?

पं० रा०—मुख्य तीन भेद हैं।

प्रो० ही०—द्रव्यवेद किन से बनते है?

पं० रा०—आंगोपांग नामकर्म के उदय से।

प्रो० सा०—आंगोपांग के कितने भेद हैं?

प० रा०—जितने अङ्ग और उपांग पाये जाते हैं उतने आंगोपांग कर्म के भेद हैं।

प्रो० सा०—आंगोपांग में स्त्री और पुरुष और नपुंसक ये भेद कहां गिनाये हैं?

पं० रा०—आंगोपांग का मतलब यही है कि शरीर में जितने अङ्ग और उपांगहों उनको वह बनावे। स्त्री लिंग, पुरुष लिंग और नपुंसक लिंग ये उपांग है अतः इन्हें सांग पूंछ की तरह अलग से नहीं गिनाया। यदि उपांगों को गिनने बैठते तो उनकी संख्या अगणित हो जाती।

इसके बाद कुछ प्रश्न पं० राजेन्द्रकुमार जी ने किये

पं० रा०—एकेंद्रियके कौनसा द्रव्यवेद होता है?

प्रो० ही०—नपुंसक।

पं० रा०—किस कर्म के उदय से बनता है?

प्रो० ही०—नपुंसकवेद और आंगोपांग से।

पं० रा०—क्या एकेन्द्रिय के आंगोपांग का उदय होता है ?

प्रो० ही०—होता है ।

इस पर पं० राजेन्द्र कुमार जी ने बतलाया कि एकेन्द्रिय के आंगोपांग का उदय नहीं होता तो प्रोफे० सा० चुप हो गये ।

पं० रा०—दशवें गुणस्थान में भाववेद तो रहता नहीं तब द्रव्यवेद कैसे बना रहता है । इसे भी नष्ट हो जाना चाहिये

प्रो० ही०—शुरू में ही द्रव्यवेद के बनाने में भाववेद की जरूरत पड़ती है ।

पं० रा०—तो बीच में बिना भाववेद के बिना द्रव्यवेद बना रहता है क्या ?

प्रो० ही०—भाववेद तो रहता ही है ।

पं० रा०—तब तो दशवें गुणस्थान में भाववेद के न रहने से द्रव्यवेद में पुद्गल परमाणुओं का मिलना बिछुड़ना नहीं होना चाहिये, क्योंकि वहां भाववेद नहीं पाया जाता ।

प्रो० ही०—जैसे एक मकान के बनाने में बनाने वाले की इच्छा आवश्यक है, उसी प्रकार भाववेद आवश्यक है । जड़ बिना इच्छा के काम नहीं करता ।

पं० रा०—यहां जड़ और चेतन का भेद मत डालिये । यह तो ईश्वर वादियों की मान्यता है कि बिना इच्छा के जड़ काम नहीं करता । दो परमाणु भी बिना इच्छा के ही बन्धते हैं । कर्म सिद्धांत इस दोष से परे है ।

प्रो० ही०—आप विषयांतर हो रहे हैं ?

प० रा०-मैं विषयांतर नहीं हो रहा हूं । आप यदि योग और बन्ध के पार्थक्य को समझ जावें तो ऐसा न कहें कि बिना इच्छा के चेतन काम नहीं कर सकता । बन्ध में ऐसी आवश्यकता नहीं पड़ती । बन्ध अपने काल में स्वयं काम करता है । ईश्वरवादी यदि बन्ध तत्व को समझ जांय तो ऐसी गलती कभी नहीं करें । यही मेरा आपसे कहना है ।

इसके बाद पं० राजेन्द्र कुमार जी ने पूछा कि विग्रह गति में द्रव्यवेद के बिना भाववेद होग या नहीं ।

प्रो० ही०—यहां वेद का अव्यक्त सत्व रहता है ।

पं० रा०—वेद में व्यक्त और अव्यक्त भेद बतलाइये ।

प्रो० ही०—धवला में बतलाये हैं ।

प० रा०—क्या अव्यक्त सत्व काम कर सकता है ?

प्रो० सा०—भाववेद निमित्त है ।

पं० रा०—निमित्त अव्यक्त नहीं होता । इससे स्पष्ट है कि भव के प्रारम्भ में द्रव्यवेद की रचना में भाववेद कारण होना ही चाहिये, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

इसके बाद प्रोफेसर साहब ने एक वक्तव्य सा दिया जिसमें बतलाया कि जीव ने जैसा भाव बन्ध कर रखा है उसीके अनुसार शरीर आदि बनायेगा । तथा इसके बाद वे उठ खड़े हुये और बहुत कहने पर उन्होंने चर्चा चलाने से अनिच्छा ही दिखाई और उन्होंने कहा कि समय थोड़ा है इसलिये अब यदि चर्चा चलानी होगी तो मैं सूचना दे दूंगा । आगे कोई सूचना नहीं मिली इसलिये चर्चा नहीं हुई ।

फूलचन्द्र सिद्धांत शास्त्री,
संयुक्त मन्त्री विद्वत्परिषद ।

-श्रीमान् पं० मांगीलाल जी छावडा बम्बई की-

❀ सम्मति ❀

श्रीमान मान्यवर पं० रामप्रसाद जी शास्त्री ने जो ट्रैक्ट लिखा है वह युक्ति और आगम से प्रोफेसर साहब के मन्तव्यों को खण्डन करने में पूर्ण समर्थ है इसलिये उस ट्रैक्ट के विषय में मेरी पूर्ण स॰ है क्योंकि इस लेख को मैं ने आद्योपांत अच्छी से पढ़ा है और उसको पूर्ण योग्य समझा है।

क्षमा-याचना

श्रीमान पं० शिखरचन्द जी ईसरी ने प्रोफेसर हीरालाल जी के पूर्वोक्त तीनों मन्तव्यों के खण्डन मे युक्ति आगम पूर्ण एक बहुत बड़ा लेख भेजा था आपके धार्मिक प्रेम तथा तदर्थ परिश्रम के लिये आपको भूरि भूरि धन्यवाद है। परन्तु वह अधिक घना तथा कम्पोजीटरों के लिये सुपाठ्य न था अतः पुनः आपके पास उसे प्रेस कापी करने के लिये वापिस भेजा गया था परन्तु पता नहीं कि (डाक आ॰ अव्यवस्था से) क्यों वह वापिस आ गया। किसी लेखक का प्रबन्ध न हो सका। अतः अ॰ लेख प्रकाशित न हो सका। एतदर्थ आपसे॰ चाहते हैं।

प्रार्थी:—

निरञ्जनलाल जैन, बम्बई